तत्त्व चिन्तामणि

[भाग ७]

जयदयाल गोयन्दका

तत्त्व चिन्तामणि

[भाग ७]

जयदयाल गोयन्दका


तत्व
चिन्तामणि
[भाग ७]
जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् २००७, प्रथम संस्करण, १०,२५०

मूल्य १=) सजिल्द १॥)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

परिचय

इस लोकमें जो सच्चे अभ्युदयका हेतु हो और अन्तमें भगवत्-प्राप्तिरूप परम निःश्रेयसकी निश्चितरूपसे प्राप्ति करा दे, वही धर्म है। (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः) । जो मनुष्य इस धर्मका सम्पादन करके सुखी और कृतार्थ बनना चाहते हैं, उनके लिये इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि वे इसके स्वरूपको भलीभाँति समझें और जो भूले हुए लोग इस धर्मसे सर्वथा अपरिचित हैं, उनको इसका परिचय प्राप्त कराना इसलिये आवश्यक है कि वे लोग मानव-जीवनके उद्देश्य और उसकी सफलताके साधनोंको जानकर तदनुकूल आचरण करें एवं जीवन सफल बनानेमें समर्थ हों। इस 'तत्त्व-चिन्तामणि'के सातवें भागके विविध लेखोंमें उपर्युक्त धर्मके स्वरूपकी झाँकी उदाहरणसहित भलीभाँति करायी गयी है। भगवान्का क्या स्वरूप है, भगवान्की प्राप्ति या मोक्ष क्यों आवश्यक हैं, उसके साधन क्या हैं, उन साधनोंमें क्या-क्या भेद हैं, साधनमें तीव्रता कैसी होनी चाहिये, भगवान्के नाम-रूप-लीला-धामका महत्त्व, तत्त्व और रहस्य क्या है, भगवद्भक्तोंका क्या और कैसा प्रभाव है, पारमार्थिक दृष्टिसे मनुष्योंकी कितनी श्रेणियाँ हैं, विभिन्न रुचि और अधिकारके मनुष्योंको स्वधर्ममें रत रहनेकी क्यों आवश्यकता है, साधनमें निष्कामभाव क्या है और पुरुषोंके साथ ही नारीका शास्त्र-सम्मत और भारतीय संस्कृतिके अनुसार क्या धर्म

है; इत्यादि विभिन्न आवश्यक प्रश्नोंका इसमें बड़ी ही सुन्दर रीतिसे समाधान किया गया है। साथ ही विशाल हिंदू-सनातनधर्म और महान् भारतीय संस्कृतिके मूर्तिमान् स्वरूप मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामभद्र और उनके सहज अनुयायी बन्धु तथा भक्त श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और महावीर हनुमान् आदिके महत्त्वपूर्ण आदर्श चरित्रोंका सुन्दर वर्णन किया गया है।

इन सभी लेखोंके लेखक हमारे परम आदरणीय और महान् आदर्श श्रीजयदयालजी गोयन्दका हैं। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के पिछले छः भागोंका अध्ययन करके जिन भाग्यशाली नर-नारियोंने लाभ उठाया है, वे इन लेखोंकी महत्ता और उपादेयताको भलीभाँति जानते हैं। मेरा विश्वास है कि भारतका जन-समाज इस सातवें भागसे भी पूरा लाभ उठावेगा।

शारदीय पूर्णिमा
२००७ वि०

विनीत–
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

'कल्याण'में मेरे जो लेख प्रकाशित होते हैं, वे कई एक प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामसे अलग पुस्तकाकाररूपमें निकाले जाते हैं। इसके अबतक छः भाग प्रकाशित हो चुके हैं। यह इसका सातवाँ भाग है। इस सातवें भागमें भी 'कल्याण'में प्रकाशित पहलेके कई वर्षोंके मेरे लेखोंका ही संग्रह है। लेख संशोधन करके ही संगृहीत किये गये हैं; फिर भी दृष्टिदोषसे कोई भूल रह गयी हो, उसके लिये पाठकगण क्षमा करेंगे।

'तत्त्व-चिन्तामणि'के इन सातों भागोंमें 'कल्याण'के प्रारम्भसे (प्रथम वर्षसे लेकर) २३वें वर्षतकके प्रायः सभी मेरे लेख आ चुके हैं। शास्त्रोंके अवलोकन तथा सत्पुरुषोंके सङ्ग करनेसे आत्मकल्याणकी जो बातें मेरी समझमें आयी हैं, वही सब बातें इन लेखोंमें बतलायी गयी हैं। मेरा विश्वास है कि जो कोई भी मनुष्य इन बातोंको काममें लायेंगे, उन्हें अवश्य लाभ हो सकता है। क्योंकि ये सब बातें अधिकांशमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे कथित गीता तथा ऋषि-मुनिप्रणीत सत्-शास्त्रोंके आधारपर ही लिखी गयी हैं। अतएव इन लेखोंसे सभी मनुष्य लाभ उठा सकते हैं। इनमेंसे बहुत-सी बातें तो ऐसी सुगम हैं कि जिन्हें बिना पढ़े-लिखे हुए साधारण पुरुष और स्त्री-बालक भी काममें लाकर लाभ उठा

सकते हैं; क्योंकि मनुष्यको अपना जीवन किस प्रकार बिताना एवं किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह सब बातें भी इनमें बतायी गयी हैं ।

इस सातवें भागमें वाल्मीकीय रामायणके अनुसार श्रीराम, श्रीभरत आदिके जीवन-चरित्र तथा स्त्री-शिक्षा और गो-सेवाविषयक लेख भी दिये गये हैं एवं शास्त्रविहित कर्मोंको निष्कामभावसे करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होनेकी बात भी दिखायी गयी है । सद्गुण-सदाचारका विषय भी इसमें पर्याप्त है । कतिपय दृष्टान्त और प्रश्नोत्तरोंके द्वारा भी अध्यात्मविषयका स्पष्टीकरण किया गया है तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावका तत्त्व-रहस्य बतलाते हुए निष्कामभक्ति और सत्सङ्गपर विशेष जोर दिया गया है । साथ ही समयकी अमोलकता बतलाकर साधकोंको भजन-ध्यान आदि साधन करनेके लिये उत्तेजना दी गयी है एवं आत्मोद्धारके लिये ज्ञान-वैराग्यका विषय भी इसमें पर्याप्त है ।

जो कोई भी भाई इस पुस्तकको पढ़कर इसके अनुसार साधन करके लाभ उठायेंगे तथा इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनको सुधारनेके लिये संकोच छोड़कर मुझे बतलायेंगे, मैं अपनेको उनका आभारी समझूँगा ।

विनीत—

जयदयाल गोयन्दका

श्रीहरिः

विषय-सूची

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

आदर्श गुण

रघुकुलभूषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक दूसरा कोई नहीं हुआ—यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे। वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। किन्तु उन्होंने सदा सबके सामने अपनेको एक सदाचारी आदर्श मनुष्य ही सिद्ध करनेकी चेष्टा की। उनके आदर्श लीला-चरित्रोंके पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें अत्यन्त पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कर्म अनुकरण करने योग्य है। श्रीराम सद्गुणोंके समुद्र थे। सत्य, सौहार्द, दया, क्षमा, मृदुता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान, पराक्रम, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरति, संयम, निःस्पृहता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, त्याग, मर्यादा-संरक्षण, एकपत्नीव्रत, प्रजा-रञ्जकता, ब्राह्मण-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, मैत्री, शरणागत-वत्सलता, सरलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिज्ञा-पालन, साधु-रक्षण, दुष्ट-दलन, निर्वैरता, लोकप्रियता, अपिशुनता, बहुज्ञता, धर्मज्ञता, धर्मपरायणता, पवित्रता आदि-आदि सभी गुणोंका मर्यादा-

पुरुषोत्तम श्रीराममें पूर्ण विकास हुआ था। संसारमें इतने महान् गुण एक व्यक्तिमें कहीं नहीं पाये जाते। वाल्मीकीय रामायणके बाल और अयोध्याकाण्डोंके आदिमें भगवान् रामके गुणोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है, उसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा असाधारण आदर्श बर्ताव था, उसे स्मरण करते ही मन आनन्दमग्न हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता कहीं देखनेमें ही नहीं आती। उनकी लीलाके समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था, जो श्रीरामके प्रेमपूर्ण मधुर बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो।

कैकेयीका रामके साथ अप्रिय एवं कठोर बर्ताव भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोक-हितार्थ हुआ था। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे; क्योंकि जिस समय मन्थराने रानी कैकेयीको रामके विरुद्ध उकसानेकी चेष्टा की है, उस समय स्वयं कैकेयीने ही उसे यह उत्तर दिया है—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥

× × ×

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥

(वा० रा० २।८।१४-१५, १८-१९)

'कुब्जे ! राम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके बड़े पुत्र हैं; अतः युवराज होनेका अधिकार उन्हींको है । वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और नौकरोंका पिताकी भाँति पालन करेंगे । भला, उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है ? मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही—बल्कि उससे भी बढ़कर राम हैं । वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं । यदि रामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको ही मिला समझ; क्योंकि रामचन्द्र अपने भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं ।' कैसा सुन्दर वात्सल्य-प्रेम है ! श्रीरामपर कैकेयीका कितना प्रेम, विश्वास और भरोसा था । इससे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि कैकेयीका कठोर बर्ताव उसके स्वभावसे नहीं हुआ, भगवदिच्छासे ही हुआ था ।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति

श्रीरामकी मातृ-भक्ति बड़ी ही आदर्श थी । उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है, अतः यहाँ संकेतमात्र ही लिखा जाता है—

माता कौसल्या तथा अन्य माताओंकी तो बात ही क्या है, माता कैकेयीके द्वारा कठोर-से-कठोर व्यवहार किया जानेपर भी उसके प्रति श्रीरामका व्यवहार तो सदा भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही रहा । माता कौसल्याके महलसे लौटते समय कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे उन्होंने स्वयं कहा है—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति ।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० २।२२।६–८)

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके कारण जिसके चित्तमें सन्ताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे मेरे ऊपर किसी तरहका सन्देह न हो, वही काम करो। उसके मनमें सन्देहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्त्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैंने कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओं या पिताजीका कभी थोड़ा भी अप्रिय कार्य किया हो—ऐसा याद नहीं पड़ता।'

इसके सिवा और भी बहुत-से उदाहरण श्रीरामकी मातृ-भक्तिके मिलते हैं। चित्रकूटसे लौटते समय भरतसे भी रामने कहा था कि 'भाई भरत! माता कैकेयीने तुम्हारे लिये कामनासे या राज्य-लोभसे यह जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना। उनके साथ सदा वैसा ही बर्ताव करना, जैसा अपनी पूजनीया माताके साथ करना चाहिये।' उसी समय शत्रुघ्नसे भी कहा है—'भाई! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम कभी माता कैकेयीपर क्रोध न करना, सदा उनकी सेवा ही करते रहना।' वनमें रहते समय एक बार लक्ष्मणने कैकेयीकी निन्दा की, उसपर आपने यही कहा—'भाई! माता कैकेयीकी तुमको निन्दा नहीं करनी चाहिये'—इत्यादि। इससे यह पता चलता है कि श्रीरामकी अपनी अन्य माताओंके प्रति कैसी श्रद्धा और भक्ति रही होगी। राजा दशरथकी अन्य रानियोंने उनके वन जाते समय विलाप करते हुए कहा था—

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च ।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥
कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥

(वा० रा० २ । २० । २-३)

'जो राम किसी काम-काजके विषयमें पिताके कुछ न कहनेपर भी सारे अन्तःपुरकी गति और आश्रय थे, वे ही आज वनमें जा रहे हैं । वे जन्मसे ही जैसी सावधानीसे अपनी माता कौसल्याके साथ बर्ताव करते थे, उसी प्रकार हम सबके साथ भी करते थे ।'

इससे बढ़कर श्रीरामकी मातृ-भक्तिका प्रमाण और क्या होगा ।

पितृ-भक्ति

इसी प्रकार श्रीरामकी पितृ-भक्ति भी बड़ी अद्भुत थी । रामायण पढ़नेवालोंसे यह बात छिपी नहीं है कि पिताका आज्ञापालन करनेके लिये श्रीरामके मनमें कितना उत्साह, साहस और दृढ़ निश्चय था । माता कैकेयीसे बातचीत करते समय श्रीराम कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥

(वा० रा० २ । १८ । २८-२९)

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥

(वा० रा० २ । १९ । २२)

'मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विष-का पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ, क्योंकि

जैसी पिताकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन करना है, इससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्म नहीं है ।'

इसी तरहके वहाँ और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। उसके बाद माता कौसल्यासे भी उन्होंने कहा है—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥

(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'मैं चरणोंमें सिर रखकर आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । मुझमें पिताके वचन टालनेकी शक्ति नहीं है । अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ ।'

इसके सिवा लक्ष्मण, भरत और ऋषि-मुनियोंसे बात करते समय भी रामने पितृ-भक्तिके विषयमें बहुत कुछ कहा है। श्रीरामचन्द्रके बालचरित्रका संक्षेपमें वर्णन करते हुए भी यह बात कही गयी है कि श्रीराम सदा अपने पिताकी सेवामें लगे रहते थे ।

एकपत्नीव्रत

श्रीरामका एकपत्नीव्रत भी बड़ा ही आदर्श था । श्रीरामने स्वप्नमें भी कभी श्रीजानकीजीके सिवा दूसरी स्त्रीका वरण नहीं किया । सीताको वनवास देनेके बाद यज्ञमें स्त्रीकी आवश्यकता होनेपर भी उन्होंने सीताकी ही स्वर्णमयी मूर्तिसे काम चलाया । यदि वे चाहते तो कम-से-कम उस समय तो दूसरा विवाह कर ही सकते थे । उससे संसारमें भी उनकी कोई अपकीर्ति नहीं होती । परंतु भगवान् तो मर्यादापुरुषोत्तम ठहरे । उनको तो यह बात चरितार्थ करके दिखानी थी कि जिस प्रकार स्त्रीके लिये पातिव्रत्यका विधान

है, उसी तरह पुरुषके लिये भी एकपत्नीव्रत परमावश्यक है। स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध भोग भोगनेके लिये नहीं, अपितु धर्माचरणके लिये है।

भगवान् श्रीरामका सीताके साथ कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीता-हरणके बादका प्रसङ्ग पढ़नेसे हो सकता है। श्रीराम परम वीर, धीर और सहिष्णु होते हुए भी उस समय एक साधारण विरहोन्मत्त पागलकी भाँति पशु-पक्षी, वृक्ष-लता और पर्वतोंसे सीता-का पता पूछते और नाना प्रकारके विलाप करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें भटकते फिरते हैं। कहीं-कहीं तो शोकसे विह्वल और मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं एवं 'हा सीते! हा सीते!' पुकार उठते हैं। उस समयका वर्णन बड़ा ही करुणापूर्ण और हृदयविदारक है।

भ्रातृ-प्रेम

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय था। लड़कपनसे ही श्रीराम अपने भाइयोंके साथ बड़ा प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। चारों भाई एक साथ ही घोड़ोंपर चढ़कर विचरण किया करते थे। रामचन्द्रजीको जो भी कोई उत्तम भोजन या वस्तु मिलती थी, उसे वे पहले अपने भाइयोंको देकर पीछे स्वयं खाते या उपयोगमें लाते थे। यद्यपि श्रीरामका सभी भाइयोंके साथ समान भावसे ही पूर्ण प्रेम था, उनके मनमें कोई भेद नहीं था, तथापि लक्ष्मणका श्रीरामके प्रति विशेष स्नेह था। वे थोड़ी देरके लिये भी श्रीरामसे अलग रहना नहीं चाहते थे। श्रीरामका वियोग उनके लिये असह्य था, इसी कारण विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाके लिये भी वे श्रीरामके साथ ही वनमें गये। वहाँ राक्षसों-का विनाश करके दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुषभङ्ग हुआ।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई और चारों भाइयोंका विवाह साथ-साथ ही हुआ। विवाहके बाद अयोध्यामें आकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहे।

कुछ दिनोंके बाद अपने मामाके साथ भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। श्रीराम और लक्ष्मण पिताके आज्ञानुसार प्रजाका कार्य करते रहे। श्रीरामके प्रेमभरे बर्तावसे, उनके गुण और स्वभावसे सभी नगर-निवासी और बाहर रहनेवाले ब्राह्मणादि वर्णोंके मनुष्य मुग्ध हो गये। फिर राजा दशरथने मुनि वसिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके राज्याभिषेकका निश्चय किया। राजा दशरथजीके मुखसे अपने राज्याभिषेककी बात सुनकर श्रीराम माता कौसल्याके महलमें आये। माता सुमित्रा और भाई लक्ष्मण भी वहीं थे। उस समय श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणसे कहते हैं——

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २। ४। ४३-४४)

'लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीका शासन करो। तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो। यह राज्यलक्ष्मी तुम्हें ही प्राप्त हुई है। सुमित्रानन्दन! तुम मनोवाञ्छित भोग और राज्य-फलका उपभोग करो। मैं जीवन और राज्य भी तेरे लिये ही चाहता हूँ।'

इसके बाद इस लीला-नाटकका पट बदल गया। माता कैकेयीके इच्छानुसार राज्याभिषेक वन-गमनके रूपमें परिणत हो

गया। सुमन्त्रके द्वारा बुलाये जानेपर जब श्रीराम महलमें गये और माता कैकेयीसे बातचीत करनेपर उन्हें वरदानकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। तदनन्तर वे माता कौसल्यासे विदा माँगने गये, वहाँ भी बहुत बातें हुईं; परन्तु श्रीरामने एक भी शब्द भरत या कैकेयीके विरुद्ध नहीं कहा, बल्कि भरतकी बड़ाई करते हुए माताको धैर्य दिया और कहा कि 'भरत मेरे ही समान आपकी सेवा करेगा।' उसी समय सीताको घरपर रहनेके लिये समझाते हुए कहते हैं—

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

(वा० रा० २। २६। ३३)

'सीते! मेरे भाई भरत-शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। अतः तुम्हें उनको अपने भाई और पुत्रके समान या उससे भी बढ़कर प्रिय समझना चाहिये।'

वन-गमनका समाचार सुनकर लक्ष्मणके मनमें भारी दुःख और क्रोध हुआ। उसे भी श्रीरामने नीति और धर्मसे परिपूर्ण बहुत ही मधुर और कोमल वचनोंसे शान्त किया। फिर जब लक्ष्मणने साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, उस समय उनको वहीं रहनेके लिये समझाते हुए श्रीरामने कहा है—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥

(वा० रा० २। ३१। १०)

'लक्ष्मण! तुम मेरे स्नेही, धर्म-परायण, धीर और सदा

सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय, मेरे वशमें रहनेवाले, आज्ञापालक और सखा हो।'

बहुत समझानेपर भी जब लक्ष्मणने अपना प्रेमाग्रह नहीं छोड़ा, तब भगवान्‌ने उनको संतुष्ट करनेके लिये अपने साथ ले जाना स्वीकार किया। वनमें रहते समय भी श्रीरामचन्द्रजी सब प्रकारसे लक्ष्मण और सीताको सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा किया करते थे।

भरतके सेनासहित चित्रकूट आनेका समाचार पाकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मण क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥

(वा० रा० २। ९७। ५-६, ८, ११)

'लक्ष्मण! मैं सचाईसे अपने आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं राज्यको भी भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और उनके सुखके लिये ही चाहता हूँ। तथा मेरे विनयी

भाई ! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई भी सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय । मैं समझता हूँ कि मेरे वनमें आनेकी बात कानमें पड़ते ही भरतका हृदय स्नेहसे भर गया है, शोकसे उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं; अतः वह मुझे देखनेके लिये आ रहा है । उसके आनेका कोई दूसरा कारण नहीं है ।'

इसके सिवा वहाँ यह भी कहा है कि 'भरत मनसे भी मेरे विपरीत आचरण नहीं कर सकता । यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा है तो मैं भरतसे कहकर दिला दूँ ।'

लक्ष्मणका भरतके प्रति जो सन्देह था, वह उपर्युक्त बातें सुनते ही नष्ट हो गया ।

उसके बाद जब भरत आश्रममें पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें लोट गये, तब श्रीरामने उनको देखा । अपने हाथोंसे उठाकर भरतका हृदयसे आलिङ्गन किया । उनको गोदमें बैठाकर और उनका सिर सूँघकर आदरपूर्वक सब समाचार पूछे और कहा—'भाई ! तुम चीर और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये ?' इसपर भरतने श्रीरामको अयोध्या लौटानेकी बहुत चेष्टा की । भरत तथा रामके प्रेम और बर्तावको देखकर सारा समाज चकित हो गया । अन्तमें जब भरतने यह बात समझ ली कि श्रीराम अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ेंगे, तब भरतने श्रीरामसे उनकी पादुकाएँ माँगीं । भरतकी प्रार्थना स्वीकार करके श्रीरामने अपनी पादुका देकर भरतको विदा कर दिया । वे उन पादुकाओंको आदरपूर्वक सिरपर धारण करके अयोध्या लौट आये । उन पादुकाओंका राज्याभिषेक करके उनके

आज्ञानुसार राज्यका शासन करने लगे और स्वयं श्रीरामकी ही भाँति मुनिवेष धारण करके नन्दिग्राममें रहे ।

उसके बाद सीता-हरण हुआ । लङ्कापर चढ़ाई की गयी । रावणके साथ भयानक युद्ध आरम्भ हो गया । वहाँ एक दिन रावणके शक्ति-बाणसे लक्ष्मणके मूर्छित हो जानेपर श्रीरामने जैसी विलाप-लीला की, उससे छोटे भाई लक्ष्मणपर उनका कितना प्रेम था, इसका पता चलता है । वहाँ श्रीरामने कहा है—

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥
इष्टबन्धुजनो नित्यं मां स नित्यमनुव्रतः ।
इमामवस्थां गमितो राक्षसैः कूटयोधिभिः ॥

(वा० रा० ६ । १०१ । १२-१३)

'महातेजस्वी लक्ष्मणने वन आते समय जिस प्रकार मेरा अनुसरण किया था, उसी प्रकार अब मैं भी इसके साथ यमलोकको जाऊँगा । यह सदा-सर्वदा ही मेरा प्रिय बन्धु और अनुयायी रहा है, हाय ! कपटयुद्ध करनेवाले राक्षसोंने आज इसे इस अवस्थामें पहुँचा दिया ।'

जो भाई अपने लिये सब कुछ छोड़कर मरनेको और सब तरहका कष्ट सहनेको तैयार हो, उसके लिये चिन्ता और विलाप करना तो उचित ही है; परंतु श्रीरामने तो इस प्रसङ्गमें विलापकी पराकाष्ठा दिखाकर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है ।

श्रीहनुमान्‌जीद्वारा संजीवनी-बूटी मँगवाकर सुषेणने लक्ष्मणको स्वस्थ कर दिया । युद्धमें रावण मारा गया । लङ्कापर विजय हो

गयी। भगवान् राम अयोध्या लौटनेके लिये तैयार हुए। उस समय विभीषणने श्रीरामको बड़े आदर और प्रेमसे विनयपूर्वक कुछ दिन रुकनेके लिये कहा। तब श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर दिया—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचितो यस्य वचनं न कृतं मया॥

(वा० रा० ६। १२१। १८-१९)

'राक्षसेश्वर! मैं तुम्हारी बात न मानूँ—ऐसा कदापि सम्भव नहीं; परंतु मेरा मन उस भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है। जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटा ले जानेके लिये सिर झुकाकर प्रार्थना की थी और मैंने जिसके वचनोंको स्वीकार नहीं किया था [उस प्राणप्यारे भाई भरतसे मिलनेमें मैं अब कैसे विलम्ब कर सकता हूँ?]'—इत्यादि।

इसके बाद विमानमें बैठकर श्रीराम सीता, लक्ष्मण और सब मित्रोंके साथ अयोध्या पहुँचे। वहाँ भी भरतसे मिलते समय उन्होंने अद्भुत भ्रातृ-प्रेम दिखलाया है।

राज्य करते समय भी श्रीराम हर एक कार्यमें अपने भाइयों-का परामर्श लिया करते थे। जिस किसी प्रकारसे उनको सुख पहुँचाने और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे।

एक समय लवणासुरके अत्याचारोंसे घबराये हुए ऋषियोंने उसे मारनेके लिये भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने सभामें प्रश्न किया कि 'लवणासुरको कौन मारेगा? किसके जिम्मे यह काम रक्खा

जाय ?' तुरंत ही भरतने उसे मारनेके लिये उत्साह प्रकट किया। इसपर शत्रुघ्नने कहा कि 'भरतजीने तो और भी बहुत-से काम किये हैं, आपके लिये भारी-से-भारी कष्ट सहन किये हैं। फिर भरतजी बड़े भी हैं। मुझ सेवकके रहते हुए यह परिश्रम इनको नहीं देना चाहिये। इस कार्यके लिये तो मुझे ही आज्ञा मिलनी चाहिये।' तब श्रीरामजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके कहा कि 'वहाँका राज्य भी तुम्हींको भोगना पड़ेगा, मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना।' शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने बहुत पश्चात्ताप किया। परन्तु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार वचनोंमें बाँधकर उनकी इच्छा न रहनेपर भी छोटे भाईको राज्य-सुख देना राम-सरीखे बड़े भाईका ही काम था।

इसके बाद प्रतिज्ञामें बँध जानेके कारण जब भाई लक्ष्मणका त्याग करना पड़ा; उस समय श्रीरामके लिये लक्ष्मणका वियोग असह्य हो गया। वहाँपर कविने कहा है—

विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः।
पुरोधसो मन्त्रिणश्च नैगमांश्चेदमब्रवीत्॥
अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्मवत्सलम्।
अयोध्यायाः पतिं वीरं ततो यास्याम्यहं वनम्॥
प्रवेशयत संभारान् मा भूत् कालात्ययो यथा।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम्॥

(वा० रा० ७। १०७। १–३)

'लक्ष्मणका त्याग करके श्रीराम दुःख और शोकमें निमग्न हो गये तथा पुरोहित, मन्त्री और शास्त्रज्ञोंको बुलाकर उनसे कहने

लगे—'मैं आज ही धर्मपर प्रेम रखनेवाले वीर भरतका अयोध्याके राज्यपर अभिषेक करूँगा और उसके बाद वनमें जाऊँगा। शीघ्र ही समस्त सामग्रियाँ इकट्ठी की जायँ। देरी न हो; क्योंकि मैं आज ही जिस जगह लक्ष्मण गया है, वहाँ जाना चाहता हूँ।'

इसपर भरतने राज्यकी निन्दा करते हुए कहा—'मैं आपके बिना पृथ्वीका राज्य तो क्या, कुछ भी नहीं चाहता; अतः मुझे भी साथ ही चलनेकी आज्ञा दीजिये।' इसके बाद भरतके कथनानुसार शत्रुघ्नको भी मथुरासे बुलाया गया और मनुष्य-लीलाका नाटक समाप्त करके अपने भाइयोंसहित श्रीराम परमधाम पधार गये।

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह केवल दिग्दर्शनमात्र है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाई भरतके राज्याभिषेकके प्रस्तावसे परमानन्दित होकर अपना हक छोड़ देना, जिसके कारण राज्याभिषेक रुका, उस भाईकी माता कैकेयीपर पहलेकी भाँति ही भक्ति करना, मुक्तकण्ठसे भरतका गुण-गान करना, भरतपर शङ्का और क्रोध करनेपर लक्ष्मणको समझाना, लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर प्राणत्याग करनेके लिये तैयार हो जाना, समय-समयपर भाइयोंको पवित्र शिक्षा देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर प्रेम करना, शत्रुघ्नसे जबर्दस्ती राज्य करवाना, लक्ष्मणके वियोगको न सहकर परमधाममें पधार जाना—इत्यादि श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा लेनी चाहिये।

सख्य-प्रेम

श्रीरामका अपने मित्रोंके साथ भी अतुलनीय प्रेमका बर्ताव था। वे अपने मित्रोंके लिये जो कुछ भी करते, उसे कुछ नहीं समझते थे;

परन्तु मित्रोंके छोटे-से-छोटे कार्यकी भी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। इसका एक छोटा-सा उदाहरण यहाँ लिखा जाता है। अयोध्यामें भगवान्‌का राज्याभिषेक होनेके बाद बंदरोंको विदा करते समय मुख्य-मुख्य बंदरोंको अपने पास बुलाकर प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए श्रीरामचन्द्रजी बड़ी सुन्दर और मधुर वाणीमें कहने लगे—

सुहृदो मे भवन्तश्च शरीरं भ्रातरस्तथा॥
युष्माभिरुद्धृतश्चाहं व्यसनात् काननौकसः।
धन्यो राजा च सुग्रीवो भवद्भिः सुहृदां वरैः॥

(वा० रा० ७। ३९। २३-२४)

'वनवासी वानरो! आपलोग मेरे मित्र हैं, भाई हैं तथा शरीर हैं। एवं आपलोगोंने मुझे सङ्कटसे उबारा है; अतः आप-सरीखे श्रेष्ठ मित्रोंके साथ राजा सुग्रीव धन्य हैं।' इसके सिवा और भी बहुत जगह श्रीरामने अपने मित्रोंके साथ प्रेमका भाव दिखाया है। सुग्रीवादि मित्रोंने भी भगवान्‌के सख्य-प्रेमकी बारंबार प्रशंसा की है। वे उनके बर्तावसे इतने मुग्ध रहते थे कि उनको धन, जन और भोगोंकी स्मृति भी नहीं होती थी। वे हर समय श्रीरामचन्द्रके लिये अपना प्राण न्योछावर करनेको प्रस्तुत रहते थे। श्रीराम और उनके मित्र धन्य हैं! मित्रता हो तो ऐसी हो।

शरणागतवत्सलता

यों तो श्रीरामकी शरणागतवत्सलताका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है; किन्तु जिस समय रावणसे अपमानित होकर विभीषण भगवान् रामकी शरणमें आया है, वह प्रसङ्ग तो भक्तोंके हृदयमें उत्साह और आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर देता है।

धर्मयुक्त और न्यायसङ्गत बात कहनेपर भी जब रावणने विभीषणकी बात नहीं मानी, बल्कि भरी सभामें उसका अपमान कर दिया, तब विभीषण वहाँसे निराश और दुखी होकर श्रीरामकी शरणमें आया। उसे आकाश-मार्गसे आते देखकर सुग्रीवने सब वानरोंको सावधान होनेके लिये कहा। इतनेमें ही विभीषणने वहाँ आकर आकाशमें ही खड़े-खड़े पुकार लगायी कि, 'मैं दुरात्मा पापी रावणका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है। मैं रावणसे अपमानित होकर भगवान् श्रीरामकी शरणमें आया हूँ। आपलोग समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले श्रीरामको मेरे आनेकी सूचना दें।'

यह सुनकर सुग्रीव तुरंत ही भगवान् रामके पास गये और राक्षस-स्वभावका वर्णन कर श्रीरामको सावधान करते हुए रावणके भाई विभीषणके आनेकी सूचना दी। साथ ही यह भी कहा कि 'अच्छी तरह परीक्षा करके, आगे-पीछेकी बात सोचकर जैसा उचित समझें, वैसा करें।' इसी प्रकार वहाँ बैठे हुए दूसरे बंदरोंने भी अपनी-अपनी सम्मति दी। सभीने विभीषणपर सन्देह प्रकट किया, पर श्रीहनुमान्‌जीने बड़ी नम्रताके साथ बहुत-सी युक्तियोंसे विभीषणको निर्दोष और सचमुच शरणागत समझनेकी सलाह दी। इस प्रकार सबकी बातें सुननेके अनन्तर भगवान् श्रीरामने कहा—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

(वा० रा० ६। १८। ३)

'मित्रभावसे आये हुए विभीषणका मैं कभी त्याग नहीं कर सकता। यदि उसमें कोई दोष हो तो भी उसे आश्रय देना सज्जनोंके

लिये निन्दित नहीं है ।' इसपर भी सुग्रीवको संतोष नहीं हुआ । उसने शङ्का और भय उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी बातें कहीं । तब श्रीरामने सुग्रीवको फिर समझाया—

पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान् ।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर ॥

× × ×

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥

× × ×

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

(वा० रा० ६ । १८ । २३, २७, ३३-३४)

"वानरगणाधीश ! यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वीभरके उन पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षसोंको अँगुलीके अग्रभागसे ही मार सकता हूँ [अतः डरनेकी कोई बात नहीं है] । परंतप ! यदि कोई शत्रु भी हाथ जोड़कर दीनभावसे शरणमें आकर अभय-याचना करे तो दया-धर्मका पालन करनेके लिये उसे नहीं मारना चाहिये । मेरा तो यह विरद है कि जो एक बार भी 'मैं आपका हूँ' यों कहता हुआ शरणमें आकर मुझसे रक्षा चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ । वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ! [उपर्युक्त नीतिके अनुसार]

मैंने इसे अभय दे दिया, अतः तुम इसे ले आओ—चाहे यह विभीषण हो या स्वयं रावण ही क्यों न हो।"

बस, फिर क्या था। भगवान्की बात सुनकर सब मुग्ध हो गये और भगवान्के आज्ञानुसार तुरंत ही विभीषणको ले आये। विभीषण अपने मन्त्रियोंसहित आकर श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़ा और कहने लगा—'भगवन्! मैं सब कुछ छोड़कर आपकी शरणमें आया हूँ। अब मेरा राज्य, सुख और जीवन—सब कुछ आपके ही अधीन है।' इसके बाद श्रीरामने प्रेमभरी दृष्टि और वाणीसे उसे धैर्य दिया और लक्ष्मणसे समुद्रका जल मँगाकर उसका वहीं लङ्काके राज्यपर अभिषेक कर दिया।

कृतज्ञता

वास्तवमें देखा जाय तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर थे। उनकी अपार शक्ति थी, वे स्वयं सब कुछ कर सकते थे और करते थे; उनका कोई क्या उपकार कर सकता था। तथापि अपने आश्रितजनोंके प्रेमकी वृद्धिके लिये उनकी साधारण सेवाको भी बड़े-से-बड़ा रूप देकर आपने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

सीताको खोजते-खोजते जब श्रीराम रावणद्वारा युद्धमें मारकर गिराये हुए जटायुकी दशा देखते हैं, उस समयका वर्णन है—

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति विमुच्य वाचं निपपात भूमौ॥

(वा० रा० ३। ६७। २९)

"जिसके पंख कटे हुए थे, समस्त शरीर लहू-लुहान हो रहा

था, ऐसे गीधराज जटायुको हृदयसे लगाकर श्रीरघुनाथजी 'प्राणप्रिया जानकी कहाँ गयी ?' इतना कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े।''

फिर रावणका परिचय देते और सीताको ले जानेकी बात कहते-कहते ही जब पक्षिराजके प्राण उड़ जाते हैं, तब भगवान् श्रीराम स्वयं अपने हाथोंसे उसकी दाह-क्रिया करते हैं। कैसी अद्भुत कृतज्ञता है!

इसी तरह और भी बहुत-से प्रसङ्ग हैं। वानरों, राजाओं, ऋषियों और देवताओंसे बात करते समय आपने जगह-जगहपर कहा है कि 'आपलोगोंकी सहायता और अनुग्रहसे ही मैंने रावणपर विजय प्राप्त की है।'

जब श्रीहनुमान्‌जी सीताजीका पता लगाकर भगवान् रामसे मिले हैं, उस समय उनके कार्यकी बार-बार प्रशंसा करके अन्तमें रघुनाथजीने यहाँतक कहा है कि 'हनुमान्! जानकीका पता लगाकर तुमने मुझे, समस्त रघुवंशको और लक्ष्मणको भी बचा लिया। इस प्रिय कार्यके बदलेमें कुछ दे सकूँ, ऐसी कोई वस्तु मुझे नहीं दिखायी देती। अतः अपना सर्वस्व यह आलिङ्गन ही मैं तुझे देता हूँ।' इतना कहकर हर्षसे पुलकित श्रीरामने हनुमान्‌को हृदयसे लगा लिया। राज्याभिषेक हो जानेके बाद हनुमान्‌को विदा करते समय हनुमान्‌की सेवा और कार्योंका स्मरण करके भगवान् राम कहते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० ७। ४०। २३-२४)

'हनुमान् ! तुम्हारे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी इस विषयमें शेष उपकारोंके लिये तो हम तुम्हारे ऋणी ही बने रहेंगे । तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकार मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर ही न मिले; क्योंकि आपत्तियाँ आनेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारोंका पात्र होता है ।' इससे पता चलता है कि भगवान् श्रीरामका कृतज्ञताका भाव कितना आदर्श था ।

प्रजारञ्जकता

श्रीरामचन्द्रजीमें प्रजाको हर तरहसे प्रसन्न रखनेका गुण भी बड़ा ही आदर्श था । वे अपनी प्रजाका पुत्रसे भी बढ़कर वात्सल्य-प्रेमसे पालन करते थे । सदा-सर्वदा उनके हितमें रत रहते थे । यही कारण था कि अयोध्यावासियोंका उनपर अद्भुत प्रेम था ।

श्रीरामके वनगमनका, चित्रकूटमें भरतके साथ प्रजासे मिलनेका और परमधाममें पधारनेके समयका वर्णन पढ़नेसे पता चलता है कि आरम्भसे लेकर अन्ततक प्रजाके छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुषोंका श्रीराममें बड़ा ही अद्भुत प्रेम था । वे हर हालतमें श्रीरामके लिये प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते थे । उन्हें भगवान् रामका वियोग असह्य हो गया था ।

जब श्रीरामचन्द्रजी वनमें जाने लगे, तब प्रजाके अधिकांश लोग प्रेममें पागल होकर उनके साथ हो लिये । भगवान् श्रीरामने बहुत-कुछ अनुनय-विनय की । किन्तु चेष्टा करनेपर भी वे प्रजाको लौटा नहीं सके । आखिर उन्हें सोते हुए छोड़कर ही श्रीरामको वनमें जाना पड़ा । उस समयके वर्णनमें यह भी कहा गया है कि

पशु-पक्षी भी उनके प्रेममें मुग्ध थे। उनके लिये श्रीरामका वियोग असह्य था। परमधाममें पधारते समयका वर्णन भी ऐसा ही अद्भुत है।

इसके सिवा जिस सीताके वियोगमें श्रीरामने एक साधारण विरह-व्याकुल कामी मनुष्यकी भाँति पागल होकर विलाप किया था, उसी सीताको—यद्यपि वह निर्दोष और पति-परायणा थी तो भी, प्रजाकी प्रसन्नताके लिये त्याग दिया। इससे भी उनकी प्रजा-रञ्जकताका आदर्श भाव व्यक्त होता है।

श्रीरामका महत्त्व

श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णुके अवतार थे, यह बात वाल्मीकीय रामायणमें जगह-जगह कही गयी है। जब संसारमें रावणका उपद्रव बहुत बढ़ गया, देवता और ऋषिगण बहुत दुःखी हो गये, तब उन्होंने जाकर ब्रह्मासे प्रार्थना की। पितामह ब्रह्मा देवताओंको धीरज बँधा रहे थे, उसी समय भगवान् विष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आता है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥
(वा० रा० १। १५। १६-१७)

'इतनेमें ही महान् तेजस्वी उत्तम देवताओंद्वारा वन्दनीय जगत्पति भगवान् विष्णु मेघपर चढ़े हुए सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर तथा हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे।'

इसके बाद देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने राजा दशरथके घर मनुष्यरूपमें अवतार लेना स्वीकार किया। फिर वहीं अन्तर्धान हो गये।

श्रीरामचन्द्रजीका विवाह होनेके बाद जब वे अयोध्याको लौट रहे थे, उस समय रास्तेमें परशुरामजी मिले। श्रीराम विष्णुके अवतार हैं या नहीं—इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने श्रीरामसे भगवान् विष्णुके धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये कहा; तब श्रीरामचन्द्रजी-ने तुरंत ही उनके हाथसे दिव्य धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ा दिया और कहा—'यह दिव्य वैष्णव बाण है। इसे कहाँ छोड़ा जाय ?' यह देख-सुनकर परशुरामजी चकित हो गये। उनका तेज श्रीराममें जा मिला। उस समय श्रीरामकी स्तुति करते हुए परशुरामजी कहते हैं—

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप॥

(वा० रा० १। ७६। १७)

'शत्रुतापन राम! आपका कल्याण हो। इस धनुषके चढ़ानेसे मैं जान गया कि आप मधु-दैत्यको मारनेवाले, देवताओंके स्वामी, साक्षात् अविनाशी विष्णु हैं।' इस प्रकार श्रीरामके प्रभावका वर्णन करके और उनकी प्रदक्षिणा करके परशुरामजी चले गये।

रावणका वध हो जानेके बाद जब ब्रह्मासहित देवतालोग श्रीरामचन्द्रजीके पास आये और उनसे बातचीत करते हुए श्रीरामने यह कहा कि 'मैं तो अपनेको दशरथजीका पुत्र राम नामका मनुष्य ही समझता हूँ! मैं जो हूँ, जहाँसे आया हूँ—यह आपलोग ही

बतायें ।' इसपर ब्रह्माजीने सबके सामने सम्पूर्ण रहस्य खोल दिया । वहाँ रामके महत्त्वका वर्णन करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः ।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥
(वा० रा० ६ । ११७ । १३–१५)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं । आप ही भूत-भविष्यके शत्रुओंको जीतनेवाले और एक शृङ्गधारी वराहभगवान् हैं । राघव ! आप आदि, मध्य और अन्तमें सत्य स्वरूप अविनाशी ब्रह्म हैं । आप सम्पूर्ण लोकोंके परमधर्म चतुर्भुज विष्णु हैं । आप ही अजित, पुरुष, पुरुषोत्तम, हृषीकेश तथा शार्ङ्ग-धनुषवाले, खड्गधारी विष्णु हैं और आप ही महाबलवान् कृष्ण हैं ।'

इसी तरह और भी बहुत कुछ कहा है । वहीं राजा दशरथ भी लक्ष्मणके साथ बातचीत करते समय श्रीरामकी सेवाका महत्त्व बतलाकर कहते हैं—

एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसंमितम् ।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परंतपः ॥
अवाप्तं धर्मचरणं यशश्च विपुलं त्वया ।
एनं शुश्रूषताव्यग्रं वैदेह्या सह सीतया ॥
(वा० रा० ६ । ११९ । ३०-३१)

'सौम्य ! ये परन्तप राम साक्षात् वेदवर्णित अविनाशी अव्यक्त ब्रह्म हैं। ये देवोंके हृदय और परम रहस्यमय हैं। जनकनन्दिनी सीताके सहित इनकी सावधानीपूर्वक सेवा करके तुमने पवित्र धर्मका आचरण और बड़े भारी यशका लाभ किया है।'

इसके सिवा और भी अनेक बार ब्रह्माजी, देवता और महर्षियोंने श्रीरामके अमित प्रभावका यथासाध्य वर्णन किया है। मनुष्य-लीला समाप्त करके परम धाममें पधारनेके प्रसङ्गमें भी यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। अतः वाल्मीकीय रामायणको प्रामाणिक ग्रन्थ माननेवाला कोई भी मनुष्य श्रीरामके ईश्वर होनेमें शङ्का कर सके, ऐसी गुंजाइश नहीं है।

पराक्रम

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके बल, पराक्रम, वीरता और शस्त्र-कौशलके विषयमें तो कहना ही क्या है। सम्पूर्ण रामायणमें इसका वर्णन भरा पड़ा है। कहींसे भी युद्धका प्रसङ्ग निकालकर देख सकते हैं। विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करते समय उन्होंने बात-की-बातमें ताड़का और सुबाहुको मारकर मारीचको मानवास्त्रके द्वारा सौ योजन दूर समुद्रके बीचमें गिरा दिया।

जनकपुरमें जिस धनुषको बड़े-बड़े वीर और महाबली राजा अत्यन्त परिश्रम करके भी नहीं हिला सके, उसीको श्रीरामने अनायास ही उठाकर तोड़ दिया। विष्णुके धनुषपर बाण चढ़ाकर परशुरामजीका तेज हर लिया। पञ्चवटीमें चौदह हजार राक्षसोंको जरा-सी देरमें बिना किसीकी सहायताके मार गिराया। बाली-जैसे महायोद्धाको एक ही बाणसे मार डाला। धनुषपर बाण चढ़ानेमात्रसे

ही समुद्रमें खलबली मच गयी और वह भयभीत होकर शरणमें आ गया। लङ्कामें जाकर भयंकर युद्धमें राक्षसोंसहित कुम्भकर्ण और रावणका वध करके समस्त संसारमें विजयका डंका बजा दिया।

क्षमा

ऐसे बड़े पराक्रमी होनेपर भी श्रीरघुनाथजी इतने क्षमाशील थे कि वे अपने प्रति किये हुए किसीके अपराधको अपराध ही नहीं मानते थे। उन्होंने जहाँ कहीं भी क्रोध और युद्धकी लीला की है, वह अपने आश्रितों और साधु पुरुषोंके प्रति किये हुए अपराधोंके लिये दण्ड देने और इसी बहाने दुष्टोंको निर्दोष बनानेके लिये ही की है। मन्थरा-जैसी दासीके अपराधका उन्होंने कहीं जिक्र भी नहीं किया।

उपसंहार

श्रीरामके महत्त्वपूर्ण असंख्य आदर्श गुणोंका लेखनीद्वारा वर्णन करना असम्भव ही है। आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीसे लेकर आजतक सभी प्रधान-प्रधान कवियोंने श्रीरामचरितका वर्णन करके अपनी वाणीको सफल बनानेकी चेष्टा की है, परन्तु श्रीरामके अनन्त गुणोंका पार कोई नहीं पा सका। मैंने तो जो कुछ भी लिखा है, वह केवल श्रीवाल्मीकीय रामायणके आधारपर बहुत ही संक्षेपमें लिखा है। वह भी मेरा केवल साहसमात्र ही है; क्योंकि न तो मुझे संस्कृत-भाषाका विशेष ज्ञान है और न हिन्दीका ही। अतः विज्ञ पाठकजन त्रुटियोंके लिये क्षमा करें। इसे पढ़-सुनकर यदि कोई भगवत्प्रेमी भाई किसी अंशमें लाभ उठा सकेंगे तो मेरे लिये वह बड़े सौभाग्यकी बात होगी और मैं उनका आभारी रहूँगा।

राम-सेवक श्रीलक्ष्मण

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीलक्ष्मणजी भी भगवान् विष्णुके ही अंशावतार माने गये हैं, किन्तु दूसरे ग्रन्थोंमें इनको भगवान् अनन्त (शेषनाग) का अवतार बताया गया है। इनके चरित्रसे यह स्पष्ट है कि इनका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। यही कारण है कि सभी भाइयोंका श्रीरामके प्रति प्रेम होते हुए भी देवालयोंमें श्रीरामके साथ लक्ष्मणकी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है और रामके साथ लक्ष्मणका ही नाम लिया जाता है। भरत-शत्रुघ्न तो स्वेच्छासे भी श्रीरामसे अलग ननिहालमें रह लिये, परन्तु श्रीलक्ष्मणजीने अपने जीवनमें किसी भी परिस्थितिमें श्रीरामका साथ नहीं छोड़ा। रामके द्वारा त्याग दिये जानेपर वे तुरंत ही परमधाम सिधार गये। श्रीलक्ष्मणजी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले, धीर, वीर, तेजस्वी, पराक्रमी और इन्द्रिय-विजयी थे। ये बड़े ही सुन्दर, सरल, तितिक्षु, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवक, सत्यव्रती, बुद्धिमान् और नीति-निपुण थे। श्रीराममें आपका अपूर्व

प्रेम था। श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करना ही आप अपना मुख्य धर्म और कर्तव्य समझते थे और श्रीराम-सेवामें अपने आपको भूल जाते थे। जैसे भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम अनुपम है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवा-मूलक प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें भी श्रीलक्ष्मणजी सर्वदा श्रीरामके साथ ही रहते थे। वाल्मीकि-रामायणमें लिखा है—

बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥
लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥

(१।१८।२८–३०)

'शोभाको बढ़ानेवाले श्रीलक्ष्मण बाल्यकालसे ही बड़े भाई लोकाभिराम श्रीराममें सदा ही स्वाभाविक गाढ़ स्नेह रखते हैं। वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा और सभी प्रिय-कार्य सदा अपने शरीरसे ही किया करते हैं। शोभा-सम्पन्न श्रीलक्ष्मण भगवान् श्रीरामके मानो दूसरे प्राण ही हैं; क्योंकि उनके बिना पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रको निद्रा भी नहीं आती थी।'

छोटी अवस्थामें ही श्रीलक्ष्मणजी अपने भाई श्रीरामके साथ विश्वामित्रकी यज्ञ-रक्षाके लिये चले गये। वहाँ ये सदा श्रीरामकी ही सेवामें लगे रहते, पत्तोंके बिछौनोंपर शयन करते और श्रीरामचन्द्रजी-

के साथ रहकर उनके आज्ञानुसार राक्षसोंका वध करके मुनिके यज्ञकी रक्षा करते थे।

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके दोनों भाई उनके साथ जनकपुर गये। वहाँ धनुष-भङ्गके बाद सब भाइयोंका विवाहसंस्कार सम्पन्न हुआ। सभी अयोध्याको लौटकर आनन्दसे रहने लगे। भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथकी इच्छा और मन्त्रिवर्ग तथा प्रजाकी सम्मतिसे रामके राज्याभिषेककी तैयारी हुई। यह देखकर लक्ष्मणके आनन्दका पार न रहा। श्रीरामको राजसिंहासन-पर विराजमान देखनेके लिये लक्ष्मण कितने लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर उनके उभरे हुए क्रोधको देखनेसे लगता है। जो बात मनके जितनी प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

मन्थरा भी कैकेयीको उभारती हुई श्रीलक्ष्मणके प्रेमकी इस प्रकार बड़ाई करती है—

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम्॥

(वा० रा० २।८।३१)

'लक्ष्मण सदा श्रीरामकी रक्षा करते हैं और राम सदा उनकी रक्षा करते हैं। उन दोनोंका भ्रातृ-प्रेम अश्विनीकुमारोंकी भाँति जगत्में प्रसिद्ध है।'

इसके बाद जब श्रीराम वन जाना स्वीकार करके माता कौसल्यासे आज्ञा लेने गये, उस समय लक्ष्मण भी साथ ही थे। वे

हर हालतमें श्रीरामके पीछे ही रहते थे। श्रीरामने माता कौसल्याको सारी कथा सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा। माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणको अच्छा नहीं लगा। वे रामके पूर्ण अनुयायी थे, परन्तु उन्हें अपना हक छोड़ते देखकर वे शान्त न रह सके। माता कौसल्याको विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥
(वा० रा० २। २१। १६–१८)

'देवि! मैं आपसे सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञादिकी शपथ करके कहता हूँ कि पूज्य भाई श्रीराममें मेरा हार्दिक दृढ़ अनुराग है। यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर जंगलमें प्रवेश करें तो आप मुझको उनसे पहले ही वहाँ प्रविष्ट हुआ समझें। जैसे सूर्य उदय होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःख दूर कर दूँगा। देवी और श्रीरामचन्द्रजी भी मेरा पराक्रम देखें।'

लक्ष्मणने वीर-रसके आवेशमें तथा श्रीरामजीके प्रेमसे विवश होकर और भी बहुत-सी साहसभरी बातें कहीं। माता कौसल्याको समझानेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥
मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
× × × × ॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥

(वा० रा० २ । २१ । ३९-४१, ४३-४४)

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति जो तुम्हारा अत्यन्त ही उत्तम प्रेम है, उसे मैं जानता हूँ । तथा तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजसे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ । शुभलक्षण ! मेरी माताको जो महान् अतुलनीय दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरा अभिप्राय न समझनेके कारण है । संसारमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य-तत्त्व प्रतिष्ठित है ।·······अतः ऐसा मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । वीर ! पिताजीकी आज्ञासे ही माता कैकेयीने मुझे वन जानेके लिये कहा है । इसलिये केवल क्षात्र-धर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो । धर्मका आश्रय लो, तीक्ष्ण भावको छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो ।'

लक्ष्मणजीके स्वभावमें यह विशेषता थी कि जो बात उनके मनमें जँचती, उसे वे बड़े जोरदार शब्दोंमें श्रीरामके सामने रख

देते थे तथा अपने मनके प्रतिकूल होनेपर भी श्रीरामकी बात मान लेते थे। उनके स्वभावमें पुरुषार्थ और वीरत्व छलकते थे। इसी कारण जब श्रीरामने प्रारब्धको बलवान् बताकर लक्ष्मणको समझानेकी चेष्टा की, तब उन्होंने कहा—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
× × × ×
अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम्॥
× × × ×।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात्॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः॥
(वा० रा० २। २३। १६, १७, १९, २९, ३०)

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही प्रारब्धका भरोसा करता है। सारा संसार जिनको आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते। जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेकी शक्ति रखता है, वह दैवके द्वारा किसी कार्यमें बाधा उपस्थित की जानेपर खेद नहीं करता।········जिन लोगोंने दैवके बलसे आपके राज्याभिषेकको नष्ट होते देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे दैवका भी विनाश होता देखेंगे।······मैं अकेला ही

समस्त विरोधी राजाओंको बलपूर्वक परास्त करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये दोनों भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं। यह धनुष आभूषणकी जगह नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है। ये बाण सहारा लेनेके डंडे नहीं हैं।'

इसके बाद माता कौसल्या और सीतासे बातचीत होनेपर जब उनको श्रीरामका अन्तिम निर्णय मालूम हो गया, तब आप अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर सब प्रकारसे श्रीरामका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो गये। श्रीरामको वनमें जानेके लिये तैयार देखकर उनके साथ जानेको वे व्याकुल हो उठे। भाईके विरहका दुःख उनके लिये असह्य हो गया। उनके नेत्रोंसे अश्रु-धारा बह चली और वे दोनों हाथोंसे भाईके चरणोंको पकड़कर यशस्विनी सीता और कठिन नियमोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥

× × × ×

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वा० रा० २। ३१। ३, ५)

'प्रभो! यदि आपने हजारों जंगली पशुओं और हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर लिया है, तो मैं भी धनुष लेकर आपके साथ ही आगे-आगे चलूँगा।'…'आपके बिना मैं देवलोकमें जाना, अमर होना नहीं चाहता और न समस्त लोकोंका ऐश्वर्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ।'

यह सुनकर श्रीरामने सान्त्वनापूर्ण वचनोंसे लक्ष्मणको वनमें न जाकर अयोध्यामें ही रहनेके लिये समझाया । तब लक्ष्मणने फिर कहा—

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥

(वा० रा० २ । ३१ । ७)

'आपने तो मुझे पहलेसे ही अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रक्खी है; फिर इस समय मुझे क्यों रोकते हैं ?' इसपर श्रीरामने कहा—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥

(वा० रा० २ । ३१ । १०-११)

'लक्ष्मण ! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धीर और सदा श्रेष्ठ मार्गपर आरूढ़ रहनेवाले हो । मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले, आज्ञापालक और सखा हो । यदि आज मेरे साथ तुम भी वनके लिये चल पड़ोगे तो परम यशस्विनी माता सुमित्रा और कौसल्याकी सेवा कौन करेगा ?'

इसपर लक्ष्मणने कहा—

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च ।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते॥
× × × ×
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥
भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥
(वा० रा० २।३१।२३-२४, २६-२७)

'मनस्विनी माता कौसल्या स्वयं ही अपना और मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं। अतः आप मुझे अपना अनुचर बना लीजिये। इसमें कुछ भी धर्म-विरुद्ध बात नहीं है। ऐसा करनेसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और आपकी भी सेवा बनती रहेगी।····मैं आपके लिये सदा फल-मूल और वनमें होनेवाली दूसरी आवश्यक वस्तुएँ तथा तपस्वियोंके लिये हवनकी सामग्री जुटाता रहूँगा। आप सीताके साथ पर्वतोंके शिखरों-पर विचरते रहियेगा। मैं आपके जागते और शयन करते समय भी सभी आवश्यक कार्य करता रहूँगा।' कैसा सुन्दर सेवा-भाव है! अपने सुखकी तनिक भी परवा नहीं है!

फिर क्या था। लक्ष्मणका ऐसा दृढ़ प्रेमाग्रह देखकर भगवान् श्रीरामको उनकी प्रार्थना स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा। जब श्रीरामने उनसे कहा कि 'माता सुमित्रासे विदा माँग आओ,' तब वे तुरंत ही अपनी माताके पास जाकर उनसे विदा लेकर लौट आये। उसके बाद वन जाते समय जब राम, लक्ष्मण और सीता—

सभीने माता सुमित्राके चरणोंमें प्रणाम किया, उस समय माता लक्ष्मणका सिर सूँघकर कहती हैं—

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥
× × × ×
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २।४०।५, ६, ९)

'बेटा ! तुम अपने सुहृद् रामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुमको वनवासकी आज्ञा देती हूँ। तुम्हारे बड़े भाई श्रीराम वनको जाते हैं, तुम इनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना। निष्पाप लक्ष्मण ! ये सङ्कटमें हों चाहे बढ़ी-चढ़ी स्थितिमें, प्रत्येक दशामें ये ही तुम्हारी परम गति हैं। संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सदा अपने बड़े भाईके अधीन होकर रहे।.......तुम रामको ही साक्षात् पिता दशरथ समझो, सीताको मेरे स्थानमें समझो और वनको ही अयोध्या समझो। (मैं तुमको आज्ञा देती हूँ) तुम सुखपूर्वक जाओ।'

कैसा सुन्दर उपदेश है ! माता हो तो ऐसी हो। लक्ष्मणने भी माताकी आज्ञाका प्राण-पणसे अक्षरशः पालन किया।

इसके बाद श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सुमन्त्रद्वारा लाये हुए रथपर बैठकर वनको चल दिये। उस समय प्रजाके लोग भी प्रेमविह्वल होकर उनके साथ-साथ चलने लगे। जब बहुत समझानेपर

भी प्रजाजन अयोध्याकी ओर न लौटे, तब लक्ष्मण और सीतासहित श्रीराम सबको तमसाके तटपर सोते छोड़कर शृङ्गवेरपुरकी ओर चले गये। वहाँ वे निषादराज गुहसे मिले। उनको सब बातें समझायीं। सन्ध्योपासनके अनन्तर लक्ष्मण गङ्गाजल ले आये। उसीको पीकर श्रीराम और सीता लक्ष्मणद्वारा तैयार की हुई घास और पत्तोंकी शय्यापर सोये। उस समय लक्ष्मणने उनके चरणोंको धोया, फिर वे कुछ हटकर पास ही दूसरे वृक्षके नीचे जा बैठे। इस प्रकार भाईके स्वाभाविक अनुरागसे लक्ष्मणको जागते देखकर गुहने कहा—'भाई लक्ष्मण! आपके लिये शय्या तैयार है। आप सुखपूर्वक सो जाइये। मैं अपने बान्धवोंसहित हाथमें धनुष लिये पहरा देता रहूँगा।'

यह सुनकर लक्ष्मणने उसकी सराहना करके कहा—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया॥

(वा० रा० २।५१।९-१०)

'निषादराज! जब दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मैं कैसे नींद ले सकता हूँ तथा कैसे मेरे लिये जीवन और सुखकी सामग्रियोंको स्वीकार करना सम्भव है? देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको सहन नहीं कर सकते, वे ही श्रीराम आज सीताके साथ तिनकोंपर सुखसे सो रहे हैं!'

इसके बाद सबेरा होते ही गङ्गातटपर पहुँचकर श्रीरामने

सुमन्त्रको विदा किया। फिर नौकापर बैठकर तीनों गङ्गाके उस पार गये। वहाँसे चलकर रात्रिमें वरदा नदीके पार एक वृक्षके नीचे ठहरे। लक्ष्मणने वहाँकी भूमि साफ करके कोमल पत्तियाँ बिछा दीं। श्रीराम और सीता उसपर बैठ गये। वहाँ माता-पिताके लिये शोक करते हुए श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'भाई लक्ष्मण! तुम अयोध्याको लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंकी सेवा करो। सीताके साथ मुझे अकेले ही वनमें जाने दो।' इसपर लक्ष्मणने बड़े हृदयग्राही वचन कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥

(वा० रा० २।५३।३१-३२)

'रघुनन्दन! आपके बिना न तो सीताजी ही और न मैं ही जलसे अलग की हुई मछलियोंकी भाँति, मुहूर्तभर भी जी सकते हैं। परन्तप! इस समय मैं आपको छोड़कर न तो माता सुमित्राको, न पिताको तथा न भाई शत्रुघ्नको और न स्वर्गको ही देखना चाहता हूँ।'

उसके बाद सवेरा होनेपर वहाँसे चलकर तीनों मुनिवर भरद्वाजसे मिले और एक दिन उनके आश्रममें विश्राम किया। दूसरे दिन उनके दिखाये हुए मार्गसे चित्रकूटकी ओर चल पड़े। यमुना-तटपर पहुँचकर उससे पार उतरनेके लिये लक्ष्मणने एक बेड़ा तैयार किया। उसमें सीताके बैठनेके लिये एक सुन्दर बेतका सिंहासन बनाया। सीता कुछ लज्जित होकर उसपर बैठ गयीं। श्रीरामसहित

लक्ष्मण स्वयं ही उस बेड़ेको खेकर यमुनापार ले गये। उस बेड़ेसे उतरकर आगे-आगे लक्ष्मण, पीछे सीता और उनके पीछे दोनोंकी रक्षा करते हुए श्रीराम चले। इस प्रकार जाते-जाते वे चित्रकूट पहुँचे। वहाँ मुनिवर वाल्मीकिजीसे मिले। फिर श्रीरामकी आज्ञा लेकर लक्ष्मणने स्वयं ही एक सुन्दर पर्णशाला तैयार की। उसीमें सब सुखपूर्वक रहने लगे।

वनमें रहते समय फल-मूल तथा हवनकी सामग्री जुटाना, सीताके वस्त्राभूषणोंकी पेटी और शस्त्रास्त्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना और उनकी सँभाल रखना, जाड़ेकी रातोंमें खेतोंके बीचसे होकर नदीसे पानी ले आना, रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों और पत्थरोंपर पुराने चिथड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका लगाना, बैठनेके लिये चबूतरा तैयार करना, जलानेके लिये ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सभी काम लक्ष्मण बड़े हर्षपूर्वक सुचारुरूपसे करते थे।

इसके बाद जब भरतजी रामको लौटा ले जानेके लिये सेनासहित चित्रकूटके पास पहुँचे, उस समय लक्ष्मणजीको भरतपर सन्देह हुआ; अतः श्रीरामके प्रेमसे विवश होकर उन्होंने भरतके प्रति कुछ कड़े शब्द कह दिये। परन्तु फिर श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे भरतकी प्रशंसा सुनकर वे चुप हो गये। भरतजी सबसे मिल-जुलकर श्रीरामकी चरण-पादुका प्राप्त करके अयोध्या लौट गये। इधर श्रीरामचन्द्रजी भी सीता और लक्ष्मणसहित चित्रकूटसे चलकर अत्रि आदि ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते पञ्चवटीमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'हमें जहाँ आना था, वह स्थान यही है।

यहाँ चारों ओर दृष्टि डालकर कोई ऐसी जगह खोज निकालो, जहाँ सर्वसम्मत आश्रम बनाकर हम, तुम और यह जनकनन्दिनी रह सकें तथा जल, पुष्प और कुशा—पासमें ही हों।' तब लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिकी प्रधानता न रखकर कहते हैं—

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥

(वा० रा० ३ । १५ । ७)

'रघुनाथजी ! इस लोकमें आपके सैकड़ों वर्ष स्थित रहनेपर भी मैं सदा आपके अधीन ही हूँ। (आपके सामने अपनी इच्छासे मैं कुछ नहीं करूँगा) इसलिये आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुकूल स्थानमें मुझे आश्रम बनानेकी आज्ञा दीजिये।'

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे; समय-समयपर श्रीराम-सेवाके लिये बुद्धिका भी प्रयोग करते थे। किन्तु उन्हें रामके किये हुए कामपर अधिक सन्तोष होता था।

तदनन्तर श्रीरामजीने सुन्दर जगह दिखाकर उसके गुणों और शोभाका वर्णन किया। वहाँ श्रीलक्ष्मणजीने तुरंत ही भाईके आज्ञानुसार एक रहनेयोग्य आश्रम तैयार कर दिया और उसमें एक बड़ी सुन्दर विशाल पर्णशाला बना दी। उस आश्रम और पर्णशाला-को देखकर सीतासहित श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने लक्ष्मणके कार्यकी प्रशंसा करके उन्हें हृदयसे लगाया। फिर वे लोग वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

वहाँ रहते-रहते शरद्-ऋतु बीत गयी । हेमन्तका आगमन हुआ । तब एक दिन विनीत लक्ष्मणने सीताजीके साथ स्नान करनेके लिये जाते हुए श्रीरामसे कहा—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून् ।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले ॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः ।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥

(वा० रा० ३ । १६ । २७–३०)

'पुरुषोत्तम ! इस शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपकी भक्तिके कारण नगरमें कष्ट सहन करके तप कर रहे हैं । वे राज्य और मान तथा नाना प्रकारके बहुत-से भोगोंका भी परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं और नियमित आहार करते हुए इस जाड़ेकी ऋतुमें भी पृथ्वीपर ही शयन करते हैं । निश्चय ही, भरत भी इसी वेलामें स्नान करनेके लिये उद्यत होकर मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीपर जाते होंगे । अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहन करते हुए रात्रिके पिछले पहरमें सरयूजीमें कैसे डुबकी लगाते होंगे ।'

इससे उन लोगोंके मतका खण्डन हो जाता है, जो यह कहते हैं कि लक्ष्मणजी श्रीरामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका

द्वेषभाव ही रहा। अवश्य ही श्रीरामको दुःख देनेवालों और उनकी अवज्ञा करनेवालोंको वे क्षमा नहीं करते थे; परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरतका कोई दोष नहीं है, बल्कि राम वियोगमें भरत तपस्वी-जीवन बिता रहे हैं तब तो लक्ष्मण भरतपर पहलेसे भी बढ़कर परम श्रद्धा और प्रेम करने लग गये थे।

एक दिनकी बात है, पञ्चवटी-आश्रममें बैठे हुए श्रीराम लक्ष्मणसे बातें कर रहे थे। उसी समय वहाँ शूर्पणखाने आकर श्रीरामसे अपने साथ विवाह करनेके लिये कहा। श्रीरामने उसको लक्ष्मणके पास भेज दिया। शूर्पणखाने उनके पास जाकर भी वही बात कही। तब लक्ष्मणजीने हँसकर उत्तर दिया—

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि॥

(वा० रा० ३। १८। ९)

'मैं तो दास हूँ। अपने बड़े भाई श्रीरामके अधीन हूँ। कमलवर्णिनी! तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो? [तुम श्रीरामके ही पास जाओ।]'

वह श्रीरामके पास लौट आयी। वहाँ जब वह सीतापर झपटी, तब श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये।

इसके बाद खर-दूषण आदि राक्षसोंने श्रीरामपर चढ़ाई की। उनको आते देखकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'निस्सन्देह तुम इन राक्षसोंको मार सकते हो, किन्तु मैं स्वयं ही इन सबोंका वध करना चाहता हूँ। अतः तुम सीताकी रक्षाके लिये उसे गुफामें ले जाओ।' लक्ष्मणने भगवान्‌की आज्ञा मानकर वैसा ही किया। श्रीरामने सब

राक्षसोंका संहार कर दिया। फिर शूर्पनखाकी प्रेरणासे रावण सीता-हरणके लिये मारीचको साथ लेकर पञ्चवटीके पास आया। वहाँ मारीचने विचित्र स्वर्णमृगका रूप बनाकर सीताका मन आकर्षित किया। सीताके कहनेसे भगवान् श्रीराम उसे मारनेके लिये धनुष-बाण लेकर उसके पीछे गये। वहाँ मारीच मारा गया। मरते समय उसने राम-जैसा ही स्वर बनाकर 'हा सीते! हा लक्ष्मण!!' इस प्रकार कहकर बड़े जोरसे आर्त्तनाद किया। उसे सुनकर सीता घबरा गयीं। उन्होंने समझा कि राम संकटमें पड़े हैं, अतः उनकी सहायताके लिये लक्ष्मणको तुरंत दौड़ जानेके लिये कहा। सीताके बहुत कुछ कहनेपर भी श्रीलक्ष्मणजी भाईकी आज्ञाका आदर करके सीताकी रक्षापर ही खड़े रहे। तब देवी सीताने उनके प्रेम और भावपर दोषारोपण करके कटुवचन कहे; फिर भी लक्ष्मण टस-से-मस नहीं हुए, उन्होंने श्रीरामके प्रभाव और राक्षसोंकी मायाका वर्णन करके सीताको समझानेकी चेष्टा की। परन्तु सीताको सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने क्रोधावेशमें लक्ष्मणको ताना देकर न कहनेयोग्य वचन कह डाले। तब लक्ष्मण वनके देवताओंको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर श्रीरामके पास चले गये। श्रीरामकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेका लक्ष्मणके लिये यह पहला ही अवसर था।

इधर रावण भिक्षुके वेषमें आकर सीताका हरण करके ले गया और उधर लक्ष्मणजी आश्रमकी ओर आते हुए श्रीरामसे मिले। श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'तुम सीताको अकेली छोड़कर चले आये, यह बहुत बुरा काम किया।' इसी तरह और भी कुछ उलाहना दिया। तब लक्ष्मणने कहा—

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥
(वा० रा० ३ । ५९ । ६)

'भगवन् ! मैं अपनी इच्छासे उनको छोड़कर यहाँ नहीं आया हूँ, उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे यहाँ आपके पास आना पड़ा है ।'

इस प्रकार लक्ष्मणने सब बातें श्रीरामसे समझाकर कहीं, तब भी श्रीरामको सन्तोष नहीं हुआ । वे रास्तेमें तरह-तरहसे विलाप करते आश्रमपर पहुँचे । वहाँ पर्णकुटीको खाली पा, अत्यन्त विरहाकुल होकर विलाप करने लगे । तब लक्ष्मणने उन्हें धीरज बँधाकर बहुत समझाया । इस तरह जब-जब सीताके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजी अधीर हो जाते, तब-तब लक्ष्मण प्रेमभरे वचनोंसे उनके प्रभावका स्मरण कराते हुए उनको धैर्य बँधाया करते थे ।

दोनों भाई सीताकी खोजमें फिरते-फिरते जटायुके पास पहुँचे । उसकी दाह-क्रिया करके कबन्धका वध किया और उसीके परामर्शसे पम्पासरके पास गये; वहीं शबरीसे भेंट हुई । वहाँसे चलनेके बाद हनुमान्‌के द्वारा सुग्रीवसे मित्रता हुई । सुग्रीवने श्रीरामको श्रीसीताद्वारा गिराये हुए वस्त्र और आभूषण दिखाये । तब श्रीरामने उन वस्त्राभूषणों-को छातीसे लगाकर लक्ष्मणजीसे देखनेके लिये कहा । उन्हें देखकर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।
× × × ॥
(वा० रा० ४ । ६ । २२-२३)

'भगवन् ! न मैं सीताके बाजूबंदको ही जानता हूँ और न मैं कुण्डलोंको ही पहचानता हूँ, परन्तु उनके नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ; क्योंकि मैं नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करते हुए नूपुरोंको देखा करता था।' ब्रह्मचर्य-व्रत और पूज्यभावका कितना सुन्दर आदर्श है !

इसके बाद सुग्रीवसे सारी बातें हुईं। बाली-सुग्रीवका युद्ध हुआ। श्रीरामने एक ही बाणसे बालीको मार गिराया। सुग्रीवका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक हुआ। श्रीराम और लक्ष्मणने प्रवर्षण-पर्वतपर रहकर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत किया, शरद्-ऋतु आ गयी। किन्तु इधर सुग्रीव विषय-भोगोंमें फँसकर श्रीरामके कार्यको भूल गये। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे लक्ष्मणजी सुग्रीवके पास गये। उस प्रसङ्गमें श्रीलक्ष्मणजीकी वीरता, धीरता और शीलका वाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वहाँ सुग्रीवको समझाते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥
गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥

(वा० रा० ४। ३४। १०, १२)

'वानरराज ! जो पहले मित्रोंकी सहायतासे अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उनका उपकार नहीं करता, वह कृतघ्न है। अतः वह सब प्राणियोंके लिये वध करने योग्य है। गो-हत्यारा और शराबी तथा चोर एवं व्रत भंग करनेवाला—इन सबके लिये तो

सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किन्तु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।'

इसपर ताराने विनयपूर्वक लक्ष्मणको समझाकर शान्त किया। तब सुग्रीव सावधान होकर लक्ष्मणसे बोले—

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥
सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥

(वा० रा० ४ । ३६ । ६-७)

'दशरथनन्दन ! भगवान् श्रीराम अपने कार्यसे सर्वत्र विख्यात हैं। वे साक्षात् देव (भगवान्) हैं। उनके उपकारका कोई आंशिक रूपमें भी बदला कैसे चुका सकता है। धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त करेंगे। मैं तो केवल निमित्तरूपमें सहायक रहूँगा ।'

यह सुनकर श्रीलक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये और सुग्रीवकी प्रशंसा करके उनके साथ भगवान् श्रीरामके पास चले आये। उसी समय सुग्रीवके बुलाये हुए असंख्य वानर भी पहुँच गये। उनको सीताकी खोज करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा गया। श्रीहनुमान् लङ्कामें जाकर श्रीजनकनन्दिनीसे मिले। वहाँसे लौटकर उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको सीताकी कष्टकथा सुनायी। सीताका समाचार सुनकर असंख्य वानरोंकी बड़ी भारी सेना लेकर श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ श्रीरामने शरणागत विभीषणको अभय-दान

दिया। समुद्रपर सेतु बाँधकर सेनासहित श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके उस पार पहुँचे। लङ्कामें राक्षसोंके साथ भयानक युद्ध हुआ। एक दिनकी बात है; मेघनादने सब वानरोंके देखते-देखते मायाकी सीता-का वध करके सबको दुःखित कर दिया। हनुमान्‌द्वारा यह समाचार पाकर श्रीराम सीताके दुःखसे मूर्च्छित हो गये। उनको सचेत करनेके लिये अनेक उपचार किये गये। लक्ष्मणने पुरुषार्थकी बड़ाई करते हुए श्रीरामसे कहा—

> **तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम्।**
> **कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव॥**
> **उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो धृतव्रत।**
> **किमात्मानं महात्मानमात्मानं नावबुध्यसे॥**
>
> (वा० रा० ६। ८३। ४२-४३)

'प्रभो! आज इन्द्रजित्‌ने (अपने इस क्रूर कर्मसे) जो आपको बड़ा भारी कष्ट पहुँचाया है, मैं अपने भयानक कर्मसे उसे दूर कर दूँगा। अतः अब आप उठ बैठिये। महाबाहो! पुरुषसिंह! क्या आप अपने महात्मापनके महान् प्रभावको नहीं जानते? हे व्रतोंके पालन करनेवाले! आप खड़े हो जाइये।'

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी अपनी गोदमें मूर्च्छित होकर सोये हुए श्रीरामको सचेत करनेकी चेष्टा कर रहे थे, उसी समय विभीषण भी वहाँ आ पहुँचे। विभीषणके पूछनेपर श्रीलक्ष्मणजीने सीताके शोकमें श्रीरामके अचेत होनेकी बात कही। तब विभीषणने प्रबल युक्तियोंद्वारा सबके सामने श्रीरामको समझाया कि 'मेघनाद सीताको नहीं मार सकता। यह सब राक्षसी मायाका खेल है। आप चिन्ता

न करें। मेघनाद इस समय निकुम्भिलामें यज्ञ करने गया है, उसका यज्ञ पूरा हो जानेपर उसे जीतना कठिन हो जायगा। हमें शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर उससे युद्ध करना चाहिये। अतः आप लक्ष्मणको हमारे साथ भेज दीजिये।' इस प्रकार विभीषणकी बात सुनकर श्रीराम सावधान हो गये। विभीषणसे सारी बातें दुबारा सुनीं। फिर मेघनादके पराक्रम और मायाबलका वर्णन करके लक्ष्मणसे कहा—'सुग्रीव और विभीषणके साथ जाकर तुम उसको मारो।' तब श्रीलक्ष्मणजीने मेघनादको मारनेकी प्रतिज्ञा करके श्रीरामकी प्रदक्षिणा की और उनको प्रणाम किया। इसके बाद वे सेनाके साथ विभीषणको लेकर गये। वहाँ मेघनादके साथ लक्ष्मणका बड़ा घोर युद्ध हुआ। उसमें श्रीलक्ष्मणने वीरता, धीरता और युद्धकौशलका बहुत विलक्षण परिचय दिया। श्रीलक्ष्मणने मेघनादके घोड़े, सारथि और रथका नाश करके बार-बार उसके अनेक धनुष काट गिराये। इस प्रकार उन्होंने राक्षसोंकी सारी सेनाको व्याकुल कर दिया। अन्तमें महाबलवान् मेघनादको मारकर लक्ष्मणजीने बड़ा अद्भुत काम किया। फिर लक्ष्मणजीने श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम किया। श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हुए कहा—

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि॥
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि।
(वा० रा० ६। ९१। १३-१४)

'भाई लक्ष्मण ! तुम बड़े दुष्कर कर्म करनेवाले हो । तुमने यह परम कल्याणकारी कार्य किया है । रावण-पुत्र मेघनादके मारे जानेसे अब मैं रावणको युद्धमें मरा हुआ ही समझता हूँ । उस दुरात्मा शत्रु मेघनादके मारे जानेसे अब हमारी विजय हो चुकी ।'

इसके बाद श्रीरामकी आज्ञासे सुषेणने ओषधियोंका उपचार करके लक्ष्मणके शरीरकी समस्त व्यथा दूर की, इससे लक्ष्मण पूर्ववत् स्वस्थ हो गये ।

राक्षसोंके मुखसे लक्ष्मणके द्वारा मेघनादके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बहुत दुःख हुआ । उसने क्रोधमें भरकर सेनासहित चढ़ाई की । बड़ा भयानक युद्ध हुआ । उस युद्धमें रावणके शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणजी मूर्च्छित हो गये । यह देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने भाई लक्ष्मणकी सेवा और प्रेम याद करके विचित्र ढंगसे विलाप किया; इससे भी श्रीलक्ष्मणके प्रेमका पता चलता है ।

तदनन्तर सुषेणने हनुमान्जीसे ओषधियाँ मँगवाकर लक्ष्मणको मूर्च्छासे जाग्रत् और स्वस्थ किया । फिर राम और रावणका घोर युद्ध हुआ; जिसमें रावण मारा गया । सीता बुलायी गयीं । राज्योचित सत्कारके साथ वे पालकीमें बैठकर आ रही थीं, पर श्रीरामने उन्हें पैदल लानेके लिये विभीषणको आज्ञा दी । यह बात लक्ष्मणको बहुत खटकी, परन्तु भगवान्की वैसी ही इच्छा समझकर वे कुछ नहीं बोले । श्रीरामने वहाँ आनेपर सीताका तिरस्कार किया । लक्ष्मणको बड़ा दुःख हुआ, तथापि सीताके कहनेसे श्रीरामका रुख समझकर उन्होंने सीताके लिये चिता तैयार कर दी । सीताकी अग्नि-परीक्षा हुई । सब देवता आये । राजा दशरथ भी आये । वहाँ श्रीदशरथजीने

लक्ष्मणको श्रीरामका प्रभाव सुनाकर उनकी सेवामें तत्पर रहनेके लिये उत्साहित किया। इसके बाद पुष्पक-विमानपर चढ़कर सब अयोध्या पहुँचे। वहाँ माताओं और भरत-शत्रुघ्नसे मिलाप हुआ। श्रीराम राजसिंहासनपर विराजमान हुए। तीनों भाई उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार आनन्दपूर्वक कितना ही समय व्यतीत हुआ।

इसके बाद सीताको घरमें रखनेके कारण होनेवाले लोकापवादको सुनकर श्रीरामने सीताका परित्याग करनेका विचार किया। उस समय सब भाइयोंको अपने पास बुलाकर श्रीरामने कहा—'तुमलोग शान्तचित्तसे मेरी बात सुनो, सीताके कारण सारे राज्यमें मेरा अपवाद हो रहा है। यद्यपि लङ्कामें सीताने अग्नि-परीक्षा देकर सबको विश्वास दिला दिया था और लक्ष्मणके सामने ही सब देवता और सब महर्षियोंने भी सीताको निष्पाप बताया था तथा मैं स्वयं भी जानता हूँ कि जानकी निर्दोष है, फिर भी अब यह लोकापवाद मुझसे नहीं सहा जाता। अतः भाई लक्ष्मण! कल सबेरे तुम सुवर्ण-भूषित रथमें बैठाकर जानकीको गङ्गापार ले जाओ और वाल्मीकि ऋषिके आश्रमके पास छोड़ आओ।'

श्रीरामकी यह आज्ञा लक्ष्मणके लिये बहुत ही भयंकर थी; परन्तु श्रीरामने सोचा कि लक्ष्मणके सिवा दूसरा कोई इस आज्ञाका पालन कर भी नहीं सकेगा। लक्ष्मणके प्रेमपर उनको पूरा भरोसा था। इसी कारण उन्होंने यह हृदयविदारक आज्ञा लक्ष्मणको ही दी। श्रीरामने अपनी शपथ दिलाकर प्रतिवाद करनेकी मनाही कर दी। इस कारण लक्ष्मण कुछ उत्तर न दे सके। इस प्रसङ्गमें लक्ष्मणने कितना असह्य कष्ट सहन करके आज्ञा-पालनका व्रत

निबाहा है, यह बात इस प्रसङ्गको पढ़नेसे ही कुछ समझमें आ सकती है। इस छोटे-से लेखमें इसका पूरा भाव व्यक्त नहीं किया जा सकता। सीताका परित्याग करते समय शोकमें भरकर हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण सीतासे कहते हैं—

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः॥

(वा० रा० ७। ४७। ४)

'जनकनन्दिनी! बुद्धिमान् आर्य श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा मैं इस लोकनिन्दित कार्यमें नियुक्त किया गया—इससे मेरे हृदयमें बड़ा काँटा चुभ रहा है।'

इसके सिवा लक्ष्मणने वहाँ यह भी कहा है कि 'इसकी अपेक्षा यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो अच्छा था।' ऐसी कठिन आज्ञाका पालन करना लक्ष्मणका ही काम था। वहाँसे लौटते समय भी लक्ष्मणजी श्रीरामकी ही चिन्ता करते हैं कि अब श्रीराम सीताके बिना किस प्रकार जीवन धारण कर सकेंगे। इस प्रकार सुमन्त्रसे बातचीत करते-करते लक्ष्मण अयोध्या पहुँचे और श्रीरामसे मिले। उस समय लक्ष्मणके मुखपर शोकके सभी चिह्न मौजूद थे। श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने सीताके परित्यागकी सारी बात कह सुनायी और शोकाकुल श्रीरामको बहुत प्रकारसे सान्त्वना दी। उस समय श्रीराम प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहते हैं—'भाई लक्ष्मण! ऐसे विकट समयमें तुम्हारे-जैसा बन्धु बड़ा ही दुर्लभ है। सौम्य! तुम महाबुद्धिमान् हो और मेरे मनके अनुसार चलनेवाले हो।'

इसके बाद अश्वमेध-यज्ञका आयोजन हुआ। उसमें सीता

और कुश-लवको साथ लेकर श्रीवाल्मीकि ऋषि भी पधारे । कुश-लवने रामायणकी कथा सुनायी । श्रीरामकी आज्ञासे सीताने सबके सामने अपने पातिव्रत्यका परिचय दिया और वे भूमिमें प्रविष्ट हो गयीं ।

इसके बाद ब्रह्माजीका सन्देश लेकर एक तपस्वी आया । उसने भगवान्‌से यह प्रतिज्ञा कराकर कि 'जो हम दोनोंकी बात सुन ले या हमें देख ले, उसका आप वध करवा दें,' एकान्तमें ब्रह्माजीका महाप्रयाण-विषयक संदेश सुनाया । उसी समय दुर्वासा ऋषि आये । उन्होंने उसी समय श्रीरामसे मिलना चाहा । उनके शापसे समस्त कुलको बचानेके लिये श्रीलक्ष्मण अपने जीवनका लोभ छोड़कर उनके आगमनकी सूचना देनेके लिये श्रीरामके पास चले गये । फिर स्वयं ही श्रीरामको प्रतिज्ञा-पालनके लिये उत्साहित करके अपनेको मार डालनेके लिये कहा । इसपर सबकी सलाहसे जब श्रीरामने लक्ष्मणका परित्याग कर दिया, तब उनका वियोग सहन करके आप एक दिन भी इस संसारमें नहीं रहे, तुरंत ही सरयू नदीके तीर जाकर योगबलसे परमधाममें पधार गये ।

श्रीलक्ष्मणके माहात्म्यका वर्णन कौन कर सकता है । इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और निष्कपटताका, सत्परामर्श देने और आज्ञापालन करनेका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रोंमें पाया जाता है । सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतके गुणोंका बखान करते हैं तथा श्रीराम और भरत—दोनों श्रीलक्ष्मणके गुण गाते हैं । फिर मैं उनके गुणोंका इस छोटे-से लेखमें कैसे वर्णन कर सकता हूँ ।

भरतका आदर्श चरित्र

भरतजीका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल और आदर्श है। उसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय रामायणमें आपको श्रीविष्णुका ही अंशावतार बताया गया है। साथ ही उनका चरित्र उन्हें एक साधु-शिरोमणि, आदर्श स्वामि-भक्त, महात्मा, निःस्पृह और भक्ति-प्रधान कर्मयोगी सिद्ध करता है। भरतजी धर्म और नीतिके जाननेवाले, सद्गुणसम्पन्न, त्यागी, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धालु और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सरलता, सौम्यता, मधुरता, अमानिता और सुहृदता आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास हुआ था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति ही थे।

भरतकी पितृ-भक्ति

विवाहके बाद भरतजी शीघ्र ही अपने मामाके साथ ननिहाल चले गये थे; इस कारण रामायणमें इनकी पितृ-भक्तिका विशेष वर्णन नहीं आता। परन्तु नानाके घर रहते हुए एक दिन इन्होंने मित्रगोष्ठीमें अपने दुःस्वप्नकी बात कहकर जो पिताके लिये दुःख प्रकट किया है और अयोध्यामें लौटनेके बाद मातासे पिताजीके स्वर्गवासका समाचार पानेपर शोकके कारण इनकी जो दशा हुई है तथा इन्होंने पिताके लिये जिस प्रकार विलाप किया है, उससे इनके

श्रद्धा-समन्वित सच्चे पितृ-प्रेमका पता चलता है। जब माताने इनसे धैर्य धारण करनेके लिये कहा, तब उसके उत्तरमें आप कहते हैं—

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्॥

(वा० रा० २। ७२। २७-२८)

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञकी दीक्षा लेंगे। इसी विचारसे मैं वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक चला था; किन्तु यहाँ आनेपर वे सभी बातें विपरीत ही दिखायी दीं। आज जो मैं सर्वदा अपना प्रिय और हित करनेवाले पिताजीको नहीं देखता, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है'—इत्यादि।

भ्रातृ-भक्ति

उपर्युक्त ढंगसे पिताके लिये शोक करते-करते ही भरतके हृदयमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम उमड़ पड़ता है और वे कहने लगते हैं—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥

(वा० रा० २। ७२। ३२-३३)

'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करनेवाले हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीको आप

शीघ्र मेरे आनेकी सूचना दें। धर्मको जाननेवाले श्रेष्ठ मनुष्यके लिये बड़ा भाई पिताके समान ही होता है। मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं।'

इसपर कैकेयीने उन्हें सारी घटना कह सुनायी और राज्य स्वीकार करनेके लिये कहा।

कैकेयीके मुखसे इस प्रकार भाइयोंके वन-गमनकी बात सुनकर भरतजी महान् दुःखसे सन्तप्त हो जाते हैं। वे व्याकुल हृदयसे माताको बहुत-कुछ बुरा-भला कहते हैं और यह भी कहते हैं—

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वया नीतो महानयम्॥

(वा० रा० २। ७३। १३)

'मैं समझता हूँ, लोभके वशमें होनेके कारण तू अबतक यह न जान सकी कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है। इसी कारण तूने राज्यके लिये इतना बड़ा अनर्थ कर डाला।'

इसके सिवा और भी बहुत-सी बातें भरतजीने माताके प्रति कहीं। उसके बाद भरतजी माता कौसल्यासे, जो उनसे मिलनेके लिये आ रही थीं, रास्तेमें ही मिले और उनकी गोदमें लिपटकर रोने लगे हैं। इसके अनन्तर वे अनेक प्रकारसे शपथ करके माता कौसल्याको विश्वास दिलाते हैं कि रामजीके वनवासमें उनकी सम्मति नहीं थी।

इसके बाद मुनि वसिष्ठजीके आज्ञानुसार राजा दशरथके अन्त्येष्टि-कर्मकी तैयारी होती है। उस समय राजाके शवको देखकर भरतजी फिर विलाप करते हुए कहते हैं—

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥
(वा० रा० २ । ७६ । ६)

'राजन्! मैं तो परदेश गया हुआ था, आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया; उसके पहले ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीको और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने यह क्या विचार किया?'

भरतको इस प्रकार विलाप करते देखकर महामुनि वसिष्ठजी फिर समझाते हैं। उसके बाद विधि-विधानसे राजा दशरथकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न होती है। नगरमें आकर दस दिनोंतक भूमि-पर शयन करते हुए भरत बड़े दुःखसे समय बिताते हैं।

श्राद्ध आदिसे निवृत्त हो जानेपर राजसभामें श्रीवसिष्ठजी तथा अन्य सभी सभासद् भरतजीको समझाकर आग्रहपूर्वक राज्य स्वीकार करनेके लिये कहने लगे। तब भरतजीने कहा—

'मैं और यह राज्य दोनों ही श्रीरामके हैं। आपलोग मुझे धर्मका उपदेश दीजिये। श्रीरामचन्द्रजी सब प्रकार मुझसे बड़े हैं; इसलिये—

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः ।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥
× × × ×
यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथाऽऽर्यो लक्ष्मणस्तथा ॥
सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात् ।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥
(वा० रा० २ । ८२ । १६, १८-१९)

'पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी अयोध्याकी तो बात ही क्या, त्रिलोकी-के भी राजा होने योग्य हैं; मैं उन्हींका अनुसरण करूँगा । आप-जैसे गुणवान् श्रेष्ठ साधु पुरुषोंके सामने ही उन्हें बलपूर्वक लौटा लानेके लिये मैं सब प्रकारके उपाय करूँगा । इसपर भी यदि आर्य श्रीरामचन्द्रजीको वनसे लौटा लानेमें समर्थ नहीं हुआ तो जैसे श्रेष्ठ भाई लक्ष्मण रहते हैं, उसी तरह मैं भी वहीं वनमें निवास करूँगा ।' भरतके ऐसे भ्रातृ-प्रेममें सने वचन सुनकर वहाँ बैठे हुए सभी सभासदोंकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगते हैं।

श्रीरामको लौटा लानेके लिये जब भरत दल-बलके साथ चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय रास्तेमें उनकी निषादराज गुहसे भेंट होती है । इनके साथ चतुरङ्गिणी सेना देखकर गुहके मनमें संदेह हो जाता है और वे अपना संदेह इनके सामने प्रकट कर देते हैं । उस समय भरत निषादसे कहते हैं—

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।

(वा० रा० २ । ८५ । ९-१०)

'निषादराज ! ऐसा अवसर न आये जो इस प्रकार दुःखदायक हो । तुमको मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये । क्योंकि रघुकुल-भूषण श्रीराम मेरे बड़े भाई हैं और मैं उनको पिताके समान समझता हूँ । मैं उन वनवासी श्रीरामको वनवाससे लौटानेके लिये जा रहा हूँ ।' भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वह हर्षमें भरकर कहने लगा—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥

(वा० रा० २ । ८५ । १२)

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके मिले हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं; अतः इस भूमण्डलमें आपके समान मुझे कोई दूसरा नहीं दिखायी देता ।'—इत्यादि ।

इस प्रकार दोनोंमें बड़ी देरतक बातें होती रहीं । श्रीरामके वियोगमें उन्हींका चिन्तन करते-करते शोकाग्निसे सन्तप्त हो जानेके कारण भरतजी सहसा मूर्च्छित हो गये । पासमें बैठे हुए शत्रुघ्न भी उनको पकड़कर रोने लगे और बेहोश हो गये । यह देखकर निषादराज मुग्ध हो गया । थोड़ी देर बाद चित्त स्वस्थ होनेपर भरतजीने फिर गुहसे पूछा—

भ्राता मे क्वावसद्रात्रिं क्व सीता क्व च लक्ष्मणः ।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥

(वा० रा० २ । ८७ । १३)

'निषादराज ! उस दिन रातको मेरे भाई श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ यहाँ किस जगह ठहरे थे तथा उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनोंपर शयन किया था ? सब बातें मुझे बताओ ।'

भरतके इस प्रकार पूछनेपर गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी । उसने उन्हें वह इंगुदीका वृक्ष और कुशका बिछौना दिखाया, जहाँपर श्रीरामने सीताके साथ रात्रिमें शयन किया था । उस स्थानको देखकर भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी, वे भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे—

हा हतोऽसि नृशंसोऽसि यत् सभार्यः कृते मम ।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः ।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥
धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥

(वा० रा० २ । ८८ । १७-२०)

'हाय ! मैं मारा गया । मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताके साथ अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है । जो सम्राट्के वंशमें उत्पन्न, सब लोकोंको सुख देनेवाले और सबका प्रिय करनेवाले हैं, जिनका वर्ण नील कमलके समान है, नेत्र लाल हैं, जो सब प्रकारसे सुख भोगनेके योग्य और दु:खके अयोग्य हैं, वे प्रियदर्शन श्रीरघुनाथजी अत्युत्तम प्रिय राज्यको छोड़कर किस प्रकार पृथ्वीपर शयन करते हैं । उत्तम लक्षणोंवाला लक्ष्मण ही धन्य और बड़भागी है, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करता है ।' भरतजीने विलाप करते हुए इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी बातें कहीं ।

आगे चलकर जब भरतजी महर्षि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचते हैं, उस समय महर्षि कुशल पूछनेके बाद उनके हृदयपर गहरी चोट पहुँचानेवाला प्रश्न कर बैठते हैं । वे कहते हैं—'तुम्हारा यहाँ वनमें किस निमित्तसे आना हुआ ? तुम निरपराधी धर्मात्मा राम और

लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते ?' यह सुनकर दु:खके कारण भरतकी आँखोंमें जल भर आया। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि॥
न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम्॥
तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व संप्रति महीपतिः॥

(वा० रा० २। ९०। १५-१८)

'मुने! मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है। फिर भी आप यदि मुझे इतना अपराधी समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया। अत: आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें। मेरी अनुपस्थितिमें मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, वह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं उससे तनिक भी प्रसन्न नहीं हूँ और न मैंने उसकी बातको माना ही है। मैं तो उन नरश्रेष्ठ श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्या लौटा ले आनेके लिये और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये वनमें आया हूँ। अत: मुझे इस प्रकार आया हुआ समझकर आप मुझपर कृपा कीजिये और बतलाइये कि इस समय महाराज श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं ?'

यह सुनकर भरद्वाजजी बड़े प्रसन्न हुए और भरतजीकी प्रशंसा करके बोले—

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥

(वा० रा० २ । ९० । २१)

'भरत ! मैं तुम्हारे मनकी बात जानता हूँ; तथापि उसे दृढ़ करनेके लिये और तुम्हारी कीर्तिका अधिक विस्तार करनेके लिये ही मैंने तुमसे ये सब बातें पूछी हैं ।'

इसके बाद और भी बहुत-सी बातें हुईं । भरद्वाजजीके अधिक आग्रहसे उनका आतिथ्य भरतको स्वीकार करना पड़ा । ऋषिराजने बड़े ही विचित्र ढंगसे सेना और परिवारसहित भरतका अतिथि-सत्कार किया । बड़े ही आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत हुई । उसी प्रसङ्ग-में यह बात भी आयी है—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥

(वा० रा० २ । ९१ । ३८-३९)

'भरतने उस राजमहलमें [जिसे मुनिने अपने योगबलसे रचा था] दिव्यराज्यसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजा श्रीरामकी भाँति उनका सम्मान किया । श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर

मन्त्रीके आसनपर जा बैठे ।' देखिये, कितनी ऊँची भावना और भक्ति है ! कैसा पवित्र भाव है ! कितनी निरभिमानता और कितना त्याग है !

जब भरत चित्रकूटके निकट पहुँच जाते हैं, उस समय आकाशमें धूल उड़ती हुई देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे उसका कारण जाननेके लिये कहते हैं । लक्ष्मण वृक्षपर चढ़कर देखते हैं और यह निश्चय करके कि सेनासहित भरत आ रहे हैं, उनके प्रति सन्देह प्रकट करते हुए कठोर वचन कहने लगते हैं । तब श्रीरामचन्द्रजी भरतके गुण और प्रेमकी बड़ाई करते हुए कहते हैं—

प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति ।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥
न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥
× × × ×
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद् वचः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥
(वा० रा० २ । ९७ । १३–१५, १७-१८)

'जिस प्रकार इस समय यह भरत हमलोगोंसे मिलनेके लिये आ रहा है, यह सर्वथा उचित है । हमलोगोंके अहितका आचरण

तो वह कभी मनसे भी नहीं कर सकता। भरतने तुम्हारा कब और क्या अपकार किया है, जिसके कारण तुम आज उससे ऐसा भय, इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो ? (भरतके आनेपर) तुम उसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न कहना। यदि तुमने उसके साथ कोई प्रतिकूल बर्ताव किया या अप्रिय वचन कहे तो वह बर्ताव मेरे ही साथ किया समझा जायगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो भरतसे मिलनेपर मैं उसे कह दूँगा कि यह राज्य लक्ष्मणको दे दो! मेरे ऐसा कहनेपर वह अवश्य ही मेरी बातका अनुमोदन करेगा और तुमको राज्य दे देगा।'

इस प्रकार यद्यपि भरतजी सर्वथा साधु और निर्दोष थे, तथापि उनको सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ा। भरतके सदृश सर्वथा निःस्पृह, धर्मात्मा एवं त्यागी महापुरुषका इस प्रकार सबके सन्देहका शिकार बनना जगत्के इतिहासमें एक अनोखी बात है। इतनेपर भी भरत सब कुछ सहते हैं। धन्य उनका प्रेम! धन्य उनकी स्वामिभक्ति!! और धन्य उनकी सहिष्णुता!!!

इधर भरत भाई शत्रुघ्न, गुह और प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंको श्रीरामके आश्रमको खोजनेके लिये आज्ञा देकर कहने लगते हैं—

यावन्न चन्द्रसङ्काशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम्।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥

× × × ×

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ।।
(वा० रा० २ । ९८ । ७, ९-१०)

'जबतक भाई श्रीरामचन्द्रके कमलदलसदृश विशाल नेत्रोंवाले और चन्द्रमाके समान सुशोभित उस मुख-कमलको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक अपने भ्राताके राज-चिह्नोंसे युक्त युगल चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी भगवान् श्रीराम अभिषेकके जलसे सिक्त होकर अपने पिता-पितामहोंके साम्राज्यपर प्रतिष्ठित न हो जायँगे, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

इस प्रकार बहुत कुछ कहकर पुरुषश्रेष्ठ भरतजीने पैदल ही श्रीरामकी खोज करनेके लिये उस गहन वनमें प्रवेश किया। ऊँचे वृक्षपर चढ़कर उन्होंने दूरसे ही श्रीरामके आश्रमको और उसमें बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीको पहचाना; इससे उनमें नया जीवन आ गया। वे बड़े प्रसन्न हुए और गुहको साथ लेकर आश्रमकी ओर चल दिये।

श्रीरामकी कुटियाके पास पहुँचकर भरत देखते हैं कि समस्त पृथ्वीके स्वामी धर्मपरायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ एक चबूतरेपर बैठे हैं। उन्होंने कृष्णमृगचर्म और बल्कल-वस्त्र धारण कर रक्खे हैं। उनके मस्तकपर जटाएँ शोभा दे रही हैं तथा सिंहके-से कंधे, बड़ी-बड़ी भुजाएँ और कमलके समान

नेत्र हैं ! श्रीरामको इस अवस्थामें देखकर महात्मा भरत शोकमें निमग्न हो जाते हैं। भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही आर्त्तभावसे विलाप करते हुए गद्गद वाणीसे कहने लगते हैं—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥

× × × ×

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग् जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥

(वा० रा० २ । ९९ । ३१-३२, ३६)

'हाय ! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सम्मान पानेयोग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भाई यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे बैठे हैं। जो महात्मा पहले हजारोंकी लागतके वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे आज यहाँ धर्माचरण करते हुए केवल दो मृगचर्म धारण करके रहते हैं। हाय ! जो सब प्रकारसे सुखके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण इतना दुःख उठा रहे हैं। मैं कितना क्रूर हूँ ! मेरे इस लोक-निन्दित जीवनको धिक्कार है।'

इस प्रकार विलाप करते-करते भरतजी दुःखसे व्याकुल हो गये। उनके मुख-कमलपर आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे अत्यन्त दुःखसे विह्वल हो जानेके कारण श्रीरामके चरणोंको छू सकनेके पहले ही 'हा आर्य !' कहकर उनके पास दीनकी भाँति गिर पड़े। शोकसे उनका गला रुँध गया, कुछ भी बोल नहीं सके। फिर

शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। जटा और वल्कल धारण किये भरतको हाथ जोड़े पृथ्वीपर पड़ा देख श्रीरामने बड़ी कठिनतासे पहिचाना। उन्होंने दोनों भाइयोंको उठाया और छातीसे लगा लिया। भरतका बर्ताव देखकर समस्त वनवासी रोने लगे।

तदनन्तर भाई भरतको गोदमें बैठाकर श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—'भाई! तुम राज्य छोड़कर वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये?' इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका समाचार सुनाकर कहा—

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु॥
× × × ×
एभिश्च सचिवैः सार्द्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥
(वा० रा० २। १०१। १०, १२)

'सबको सम्मान देनेवाले रघुनन्दन! परम्परानुसार तथा योग्य होनेके कारण भी इस राज्यके अधिकारी आप ही हैं। अतः न्यायसे इस राज्यको आप धर्मानुसार ग्रहण करके अपने सुहृदोंका मनोरथ पूर्ण करें। मैं आपका छोटा भाई, शिष्य और दास हूँ। इन मन्त्रियोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ, मुझपर कृपा करें।'

इसी तरहकी और भी बहुत-सी बातें कहकर भरतजी नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े और राज्याभिषेकके

लिये उनसे प्रार्थना करने लगे। तब श्रीरामजीने बहुत-सी शास्त्रोक्त बातें कहकर और पिताकी आज्ञाका महत्त्व दिखाकर भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये बहुत कुछ समझाया, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'भगवन्! आपकी बराबरी कौन कर सकता है; आपके लिये सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति—सब समान हैं। जिसको आपकी तरह ज्ञान है, वह सङ्कट पड़नेपर भी विषाद नहीं करेगा; परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। अतः मैं बारंबार आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ, आप दया कीजिये! आप पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, मेरा और मेरी माताका कलङ्क धोकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये।' इत्यादि—

भरतके इस प्रकार कहनेपर सम्पूर्ण ऋत्विज, पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ—ये सब अचेत-से होकर आँसू बहाते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे और सभीने अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार श्रीरामचन्द्रजीसे लौटनेकी प्रार्थना की।

तदनन्तर श्रीरामने फिर बहुत-से न्याय और धर्मसे पूर्ण वचन कहकर भरतको समझाया। इस प्रकार बात होते-होते जब श्रीरामचन्द्रजीने किसी तरह भी स्वीकृति नहीं दी, तब भरतजीके मनमें बड़ा दुःख हुआ; वे बोले—'जबतक मेरे स्वामी मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं बिना कुछ खाये-पीये यहीं इनके सामने बैठा रहूँगा।' इतना कहकर वे दर्भासन बिछाकर जमीनपर बैठ गये। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर भरतको समझाया कि 'भाई! तुम्हारा यह कार्य धर्मके विरुद्ध है। अतः तुम इस दुराग्रहका त्याग करो।' यह सुनकर भरत तुरंत ही खड़े होकर पुनः सबके सामने कहने

लगे कि 'यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इनका वनमें रहना अनिवार्य हो तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षतक वनमें निवास करूँगा।' इसपर फिर श्रीरामने भरतको समझाया कि 'भाई भरत! इस प्रकार बदला करनेका हमलोगोंको अधिकार नहीं है।' इसके बाद सबके सामने भगवान् श्रीरामने कहा—

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि॥
अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्॥

(वा० रा० २।१११।३०-३२)

'मैं जानता हूँ भरत बड़ा क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाला है। इस सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण वर्तमान हैं। वनवासकी अवधि समाप्त करके फिर जब मैं लौटूँगा, तब मैं अपने इस धर्मशील भाईके साथ इस पृथ्वीका प्रमुख राजा बनूँगा। कैकेयीने राजासे वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया। इसलिये भाई भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उन पृथ्वीपति राजाधिराज पिताजीको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो।'

उन अतुलित तेजस्वी भाइयोंका वह रोमाञ्चकारी संवाद सुनकर और आपसका प्रेमपूर्ण बर्ताव देखकर वहाँ आये हुए जन-समुदायके साथ सभी महर्षि विस्मित और मुग्ध हो गये। अन्तरिक्षमें अदृश्य-

भावसे खड़े हुए मुनि और वहाँ प्रत्यक्ष बैठे हुए महर्षि उन दोनों भाइयोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

इसके बाद सब महर्षियोंने भरतको श्रीरामकी बात मान लेनेके लिये समझाया। इससे श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु भरतको सन्तोष नहीं हुआ। वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर फिर श्रीरामसे कहने लगे—'आर्य! मैं इस राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता। आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये।' यह कहकर भरत अपने भाईके चरणोंमें गिर पड़े। तब श्रीरामचन्द्रने उनको उठाकर गोदमें बैठा लिया और मधुर स्वरसे बोले—

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥

(वा० रा० २। ११२। १६)

'प्यारे भाई! तुम्हें स्वभावसे ही तथा शिक्षाके फलस्वरूप जो यह विनययुक्त बुद्धि प्राप्त हुई है, इससे तुम सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेमें भी पूर्णतया समर्थ हो।'

सूर्यतुल्य तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीके ये प्रेम और शिक्षाभरे वचन सुनकर और उनकी दृढ़ता देखकर भरतने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥

(वा० रा० २। ११२। २१)

'आर्य! ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ हैं, आप इनपर अपने चरण रक्खें। ये ही सम्पूर्ण जगत‌्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी।'

धन्य है भरतके उच्चतम भावको !

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन पादुकाओंपर अपने मङ्गलमय चरणयुगल रखकर उन्हें भरतको दे दिया। उन पादुकाओंको प्रणाम कर भरतने श्रीरामसे कहा—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।

(वा० रा० २। ११२। २३–२६)

'वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका आहार करूँगा और आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। परंतप ! इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओंपर ही रहेगा। रघुश्रेष्ठ ! चौदह वर्ष पूरे होनेके बाद, उसी दिन यदि मुझे आपके दर्शन नहीं मिलेंगे तो मैं धधकती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

भरतकी यह प्रतिज्ञा सुनकर भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक उसका अनुमोदन किया। तदनन्तर दोनों भाइयोंको माता कैकेयीके साथ अच्छा व्यवहार करनेकी शिक्षा देकर और दोनोंका हृदयसे आलिङ्गन करके विदा किया ! उस समय भाई भरतके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजीकी आँखोंमें जल भर आया।

तदनन्तर भरतजी भगवान्‌की पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके बड़ी प्रसन्नतासे रथपर सवार हुए तथा रास्तेमें भरद्वाजजीसे मिलकर, उनसे सारी बातें कहकर और आज्ञा लेकर शृङ्गवेरपुर होते हुए अयोध्या पहुँचे। फिर माताओंको महलमें रखकर भरतने सब गुरुजनोंसे कहा—

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥
गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥

(वा० रा० २। ११५। २-३)

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। बहुत दुःखकी बात है, महाराज तो स्वर्ग सिधार गये और मेरे परम पूज्य गुरु श्रीराम वनमें निवास करते हैं। अतः मैं वहीं रहकर श्रीराम-वियोगमें इन सब दुःखोंको सहन करूँगा और राज्यके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही हमलोगोंके राजा हैं।'

भरतकी ऐसी बात सुनकर मन्त्रियोंसहित पुरोहित श्रीवसिष्ठजीने कहा—

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥
नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥

(वा० रा० २। ११५। ५-६)

'भरत ! भ्रातृ-भक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो वचन कहा है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है । वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है । तुम अपने भाईके दर्शनार्थ सदा ही लालायित रहते हो, उन्हींके हितमें संलग्न हो और अत्यन्त उत्तम मार्गपर चल रहे हो; अतः तुम्हारे विचारका अनुमोदन कौन पुरुष नहीं करेगा ।'

इस प्रकार सबकी आज्ञा लेकर भरत श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाओंको सिरपर रक्खे शत्रुघ्नके साथ नन्दिग्राम चले गये । वहाँ रथसे उतरकर सब गुरुजनोंसे बोले—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥
× × × ×
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम् ॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥
(वा० रा० २ । ११५ । १४, १६–२०)

'मेरे भाईने यह राज्य मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें दिया है ।

उनकी ये सुवर्ण-भूषित पादुकाएँ ही सबका योगक्षेम निबाहनेवाली हैं। मैं इन्हें आर्य श्रीरामचन्द्रके साक्षात् चरण मानता हूँ। आपलोग शीघ्र ही इनपर छत्र लगायें। मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंके प्रभावसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी। उन्होंने प्रेमके कारण ही मुझे यह अमूल्य धरोहर सौंपी है। अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा। तथा उनके आनेपर शीघ्र ही इनको पुनः भगवान्‌के चरणोंसे युक्त कर इन पादुकाओंसे सुशोभित आर्यके चरणोंका दर्शन करूँगा। श्रीरघुनाथजीके आते ही उनकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर दूँगा; फिर मेरा सब भार हल्का हो जायगा। मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहरके रूपमें रखे हुए इस राज्यको, इन पादुकाओंको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके दुःख और पापोंसे मुक्त हो जाऊँगा।'

फिर धैर्यवान् भरतजी जटा-वल्कल धारण किये मुनिका वेष बनाकर नन्दिग्राममें रहने लगे। वे राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान्‌की चरण-पादुकाओंको निवेदन करके करते थे। उनके ऊपर स्वयं छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे। इस प्रकार उन्होंने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-पादुकाओंका राज्याभिषेक किया। राज्यका जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, भरतजी वह सब पहले उन पादुकाओंको अर्पण करते और पीछे उसका यथायोग्य प्रबन्ध करते।

* * *

लङ्का-विजयके बाद विभीषणको राज्य देकर, सीता और

लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीराम अयोध्या लौटनेके लिये तैयार हुए। उस समय विभीषणने श्रीरामजीसे स्नान आदि करके वस्त्रालङ्कार धारण करनेकी प्रार्थना की। तब भगवान् भरतकी भक्ति याद करके कहते हैं—

स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥
तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥
× × ×
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
(वा० रा० ६। १२१। ५-६, १८)

'सत्यपरायण, धर्मात्मा, महाबाहु, सुकुमार भरत सब प्रकारके सुख-भोगोंके योग्य होकर भी मेरे लिये दुःख भोग रहा है। उस धर्मचारी कैकेयी-पुत्र भरतके बिना मुझे स्नान और वस्त्राभूषण धारण करना रुचिकर नहीं है। उस भाई भरतको देखनेके लिये तो मेरा मन छटपटा रहा है।' इससे मालूम होता है कि भरतका श्रीराममें कितना प्रेम था।

उसके बाद श्रीराम सीता, लक्ष्मण और सब समुदायके साथ पुष्पक-विमानपर बैठकर अयोध्याके लिये चले और भरद्वाज-आश्रमपर पहुँचकर अपने आनेका शुभ संवाद देनेके लिये हनुमान्‌को प्यारे भरतके पास भेजा। हनुमान्‌जी नन्दिग्राममें पहुँचकर क्या देखते हैं—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥

नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम् ।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम् ॥
(वा० रा० ६ । १२५ । ३०–३२)

श्रीहनुमान्‌ने देखा कि भरत शहरके बाहर आश्रममें रहते हैं। भाईके वियोगसे उनका शरीर दुर्बल हो गया है। उसपर मैल जम गयी है। उनका मुख सूख गया है, उसपर दीनताका भाव झलक रहा है। वे केवल फल-मूलका ही आहार करते हैं। इन्द्रियाँ उनके वशमें हैं। वे मस्तकपर लंबी जटाओंका भार तथा शरीरपर वल्कल और मृगचर्म धारण किये धर्माचरणपूर्वक तपस्या कर रहे हैं। उनका मन सब ओरसे संयत और ध्यानमें निमग्न है। उनका तेज ब्रह्मर्षियोंके समान है। वे श्रीरामकी चरण-पादुकाओंकी सेवा करते हुए पृथ्वीका शासन कर रहे हैं। हनुमान्‌जीने यह भी देखा कि भरतके प्रेम और व्यवहारसे आकर्षित होकर काषाय-वस्त्र धारण किये हुए मन्त्री, पुरोहित और सेनाके प्रधान-प्रधान वीर भी उन्हींके पास रहते हैं। वायुपुत्र हनुमान्‌जीने भरतजीको श्रीरामके आगमनका समाचार सुनाया।

हनुमान्‌के मुखसे भगवान्‌के आनेका समाचार सुनकर भरतजी हर्षसे विह्वल हो गये। उनको शरीरकी सुधि नहीं रही। थोड़ी देरमें स्वस्थ होनेपर उन्होंने हनुमान्‌को हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रुओंसे भिगोते हुए उनसे कहने लगे—

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः ।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥
(वा० रा० ६ । १२५ । ४३)

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद् वनम् ।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ॥

(वा० रा० ६ । १२६ । १)

'मुझपर दया करके आनेवाले तुम कोई देवता हो या मनुष्य ? सौम्य ! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय सन्देश दिया; इसके बदलेमें तुम्हें जो कुछ प्रिय हो, वह मैं दे सकता हूँ । मेरे स्वामीको गहन वनमें गये हुए बहुत वर्ष बीत गये । आज ही मैं अपने नाथका आनन्द-दायक समाचार सुन रहा हूँ ।'

इसके बाद भरतजीने वानरोंके साथ श्रीरामकी मित्रता होनेके विषयमें पूछा । इसपर हनुमान्‌जीने वन-गमनसे लेकर लङ्कासे लौटते हुए भरद्वाजके आश्रममें पहुँचनेतककी सारी बातें कह सुनायीं । यह सब सुनकर भरतजी बड़े प्रसन्न हुए और पास ही खड़े हुए शत्रुघ्नको नगरकी सजावट करने और सबको श्रीरामकी अगवानीके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेको कहा । समाचार सुनते ही सारे नगरमें हर्ष और प्रेमकी बाढ़ आ गयी । सभी भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे । धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामकी पादुकाओंको सिरपर रखकर उन्हें सुन्दर मालाओंसे सुशोभित किया और उनपर स्वर्णछत्र लगाकर स्वर्ण-भूषित सफेद चँवर डुलाते हुए चले । थोड़ी दूर जानेपर जब उन्हें श्रीरामचन्द्रजी आते हुए दिखायी नहीं दिये, तब वे प्रेमाकुल होकर हनुमान्‌जीसे पूछने लगे—'हनुमान् ! क्या बात है ? अभीतक रघुकुल-भूषण आर्य श्रीराम मुझे दिखायी नहीं दे रहे हैं ।' इतनेमें ही श्रीभरतजीने विमानको आते हुए देखा और उसपर बैठे हुए श्रीरामको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । फिर श्रीरामकी आज्ञासे

वह विमान पृथ्वीपर उतरा। श्रीभरतजी विमानके भीतर श्रीरामको देखकर हर्षसे भर गये और पुनः उनके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरामचन्द्रजीने बहुत दिनोंके बाद दृष्टिगोचर हुए भाई भरतको उठा गोदमें बैठाकर प्रेम और हर्षपूर्वक हृदयसे लगाया। इसके बाद भरतने भाई लक्ष्मणसे मिलकर सीताके चरणोंमें प्रणाम किया।

तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीभरतजीने श्रीरामकी उन दोनों पादुकाओंको हाथमें लेकर श्रीरामके चरणोंमें पहना दिया और हाथ जोड़कर कहा—

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया ॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।
यत्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम् ॥

(वा० रा० ६। १२७। ५४-५५)

'यह धरोहररूपमें रक्खा हुआ आपका सम्पूर्ण राज्य मैंने आज आपको लौटा दिया। आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो गये, जो मैं अयोध्यामें लौटकर आये हुए आपको देख रहा हूँ'—इत्यादि।

—इस प्रकार कहते हुए भ्रातृप्रेमी भरतको देखकर राक्षसराज विभीषण और सुग्रीवादि वानरोंकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली।

श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेके बाद भरत भी लक्ष्मणकी भाँति ही श्रीरामकी सेवामें रहने लगे। कुछ दिन बाद श्रीरामने भरतके मामाका समाचार पाकर गन्धर्वोंपर विजय करनेके लिये भरतको भेजा। भरतजीने भगवान्‌की आज्ञा पालन करनेके लिये ही वहाँ जाकर गन्धर्वोंपर विजय प्राप्त की। पुनः भगवान्‌के आज्ञानुसार वहाँके राज्यपर अपने पुत्रोंका अभिषेक करके वे शीघ्र ही भगवान्‌के

पास लौट आये और उनसे सब बातें कह दीं। पूरी बातें सुन लेनेपर श्रीरामने भरतकी प्रशंसा की और बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद लक्ष्मणका त्याग करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने परमधाम पधारनेकी इच्छासे भरतका राज्याभिषेक करनेकी बात कही, परन्तु भरतने उसे स्वीकार नहीं किया। वे इस तरहकी बात सुनते ही अचेत हो गये और चेत होनेपर राज्यकी निन्दा करते हुए बोले—

सत्येनाहं शपे राजन् स्वर्गभोगेन चैव हि।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन ॥

(वा० रा० ७। १०७। ६)

'राजन्! मैं निश्चयपूर्वक सत्य तथा स्वर्गकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं आपसे अलग रहकर राज्य भी नहीं चाहता।'

—तब श्रीरामने भरतकी सलाहसे कुश और लवको राज्यपर अभिषिक्त किया और शत्रुघ्नको बुलाकर सबके साथ परमधाम पधार गये।

वास्तवमें भरतकी राम-भक्ति जगत्के इतिहासमें अद्वितीय है। इनका त्याग, संयम, व्रत, नियम—सभी सराहनीय और अनुकरणीय हैं। इनके चरित्रसे स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, वैराग्य और स्वामिभक्ति आदि सभी गुणोंकी शिक्षा ली जा सकती है। भक्तिसहित निष्कामभावसे गृहस्थमें रहते हुए प्रजापालन करनेका ऐसा सुन्दर उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है।

श्रीरामके दासानुदास श्रीशत्रुघ्न

श्रीशत्रुघ्नजीका चरित्र भी अपने ढंगका निराला ही है। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीशत्रुघ्नजीको भी भगवान् विष्णुका ही अंशावतार माना गया है; परन्तु उनके चरित्रसे यही सिद्ध होता है कि आप श्रीरामके दासानुदासोंमें अग्रगण्य थे। श्रीशत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषयविरागी, सरल, तेज:पूर्ण, गुरुजनके अनुगामी और वीर थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता; परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। आप बाल्यकालसे ही सदा भरतजीके साथ रहते थे; अत: श्रीभरतजीका और इनका चरित्र साथ ही चलता है। इसलिये रामायणमें इनके विषयमें कोई विशेष बात अलग नहीं कही गयी है। इनके गुण और चरित्रोंका अनुमान भरतके व्यवहारसे लगा लेना चाहिये।

बालकाण्डमें इनके प्रेमका वर्णन करते हुए कहा है—

अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥

(वा० रा० १। १८। ३२)

'जैसे लक्ष्मण हाथमें धनुष लेकर श्रीरामकी रक्षा करते हुए उनके पीछे चलते थे, उसी तरह ही वे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भी भरतके साथ रहते थे।'

जनकपुरमें सब भाइयोंके विवाहका कार्य सम्पन्न होनेके बाद वहाँसे लौटकर अयोध्या आनेके कुछ ही दिन पश्चात् भरतजीको

उनके मामा युधाजित् अपने देश ले जाने लगे तो शत्रुघ्नजी भी उनके साथ ही ननिहाल गये। उस समय भरतजीके प्रेममें उन्होंने माता-पिता, भाई-बन्धु और नव-विवाहिता स्त्रीका कुछ भी मोह न करके भाई भरतके साथ रहना ही अपना परम कर्तव्य समझा। फिर अयोध्यासे बुलावा जानेपर भरतजीके साथ लौट आये। अयोध्या पहुँचनेपर माता कैकेयीके द्वारा पिताके मरण तथा लक्ष्मण और सीताके साथ श्रीरामके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतः इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥

(वा० रा० २। ७८। २-३)

'आर्य! जो दुःखके समय आत्मीय व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या, समस्त प्राणियोंको सहारा देनेवाले हैं, वे ही महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी पत्नीके साथ वनमें भेज दिये गये (यह कितने दुःखकी बात है)। जो भाई लक्ष्मणजी बड़े ही बलवान् और पराक्रमी भी हैं, उन्होंने पिता-माताका निग्रह करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं मुक्त कर दिया।'

इस प्रकार बातें हो रही थीं, श्रीशत्रुघ्नजी दुःख और क्रोधमें भरे थे, उसी समय राम-विरह-व्याकुल एक द्वारपालने सूचना दी कि 'राजकुमार! जिस क्रूरा पापिनी मन्थराके षड्यन्त्रसे श्रीरामचन्द्र

वन भेजे गये हैं, वह वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर खड़ी है।' यह सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ा क्रोध आया। वे मन्थराकी चोटी पकड़कर उसे आँगनमें घसीटने लगे। यह देखकर कुब्जाकी अन्य सहेलियोंने सोचा कि दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमें भी नहीं छोड़ेंगे। अतः वे तुरंत ही दौड़कर कौसल्याजीके पास चली गयीं। कैकेयी उसे छुड़ानेके लिये आयीं तो शत्रुघ्नने उन्हें भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नको समझाया कि स्त्रीजाति अवध्य मानी गयी है और यह भी कहा कि—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

(वा० रा० २।७८।२३)

'भाई! यदि कहीं कुबड़ी तुम्हारे हाथसे मारी गयी तो इस घटनाको जानते ही धर्मात्मा श्रीराम तुमसे और मुझसे भी निश्चय ही बोलना छोड़ देंगे।'

भरतकी इस बातको सुनकर शत्रुघ्नने कुब्जाको मूर्च्छित-अवस्थामें ही छोड़ दिया।

इस प्रसंगमें समझनेकी पहली बात तो यह है कि श्रीरामकी धर्मनीतिमें स्त्रीजातिका कितना आदर था, जिससे कि वे हर हालतमें अवध्य मानी जाती थीं। दूसरी यह कि शोकाकुल भरतने ऐसी परिस्थितिमें भी छोटे भाईको समझाकर अधर्मसे रोका। तीसरी यह कि क्रोधातुर होनेपर भी शत्रुघ्नने तुरंत ही बड़े भाईकी बात मान ली। इसके बाद श्रीरामको लौटानेके लिये वनमें जाने लगे तो शत्रुघ्न भी साथ गये। चित्रकूटके पास पहुँचकर भरतकी आज्ञासे

श्रीरामकी पर्णकुटी ढूँढ़ने लगे। जब भरतजी श्रीरामको देखकर उनकी ओर दौड़े, तब रामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी उनके पीछे-पीछे पहुँचे। वहाँ कविने कहा है—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० २। ९९। ४०)

'शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंकी वन्दना की। उन दोनोंको हृदयसे लगाकर श्रीराम भी आँसू बहाने लगे।' उसके बाद शत्रुघ्न भाई लक्ष्मण और सीताजीसे भी बड़े प्रेमसे मिले।

सब लोग इकट्ठे हुए, बातचीत आरम्भ हुई। वहाँ श्रीराम और भरतके संवादमें लक्ष्मण और शत्रुघ्नका कोई काम ही नहीं था। शत्रुघ्नजीने तो अपना जीवन रामसेवक श्रीभरतजीको अर्पण कर रक्खा था; अतः उनके विषयमें जो कुछ कहना होता वह स्वयं भरत ही कह देते।

पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौटते समय दोनों भाई फिर श्रीरामकी प्रदक्षिणा और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे मिले। लक्ष्मणकी भाँति शत्रुघ्नका भी स्वभाव तेज था। कैकेयीके प्रति इनके मनमें रोष था। श्रीराम इस बातको जानते थे। इस कारण विदा करते समय श्रीरामने शत्रुघ्नको वात्सल्य-भावसे शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० २। ११२। २७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! निश्चय ही तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीकी सेवा करना, उनपर कभी क्रोध न करना।'

इससे भी पता चलता है कि शत्रुघ्नजीका श्रीराममें कितना प्रेम और भक्तिभाव था।

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतके साथ अयोध्या लौटकर बराबर उनके आज्ञानुसार राज्य और परिवारकी सेवा करते रहे। शत्रुघ्नजी हर हालतमें भरतके पास रहकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते थे। भरतजीके मनमें भी शत्रुघ्नपर बड़ा भरोसा था। इसी कारण वे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कार्यके लिये शत्रुघ्नको ही आज्ञा देते थे।

इसके बाद श्रीरामके लौटकर आनेतक शत्रुघ्नजीके विषयमें वाल्मीकीय रामायणमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं मिलती। श्रीहनुमान्जीद्वारा श्रीरामचन्द्रजीके आनेका समाचार मिलनेपर भरतजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने ही श्रीरामकी अगवानीका और नगरको सजानेका तथा राजमार्ग और अन्य सब रास्तोंको ठीक करानेका प्रबन्ध किया। श्रीरामका राज्याभिषेक होनेके बाद भी आप श्रीभरतजीके साथ-साथ ही श्रीरामका सेवाकार्य किया करते थे। भाईके नाते श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नपर भरतजीका समान अधिकार होनेपर भी श्रीभरतजी अपना काम शत्रुघ्नसे ही करवाते थे।

सीता-वनवासके बाद एक दिन बहुत-से ऋषियोंने श्रीरामके पास आकर लवणासुरके अत्याचारोंका वर्णन किया। इसपर श्रीरामने उनको आश्वासन दिया और सभामें यह प्रस्ताव रक्खा कि 'लवणासुरको मारनेके लिये कौन जायगा? किसको आज्ञा दी जाय? भरतको या शत्रुघ्नको?' यह सुनकर भरतजीने कहा कि 'मुझे आज्ञा मिले, मैं लवणासुरको मार डालूँगा।' भरतकी बात सुनकर शत्रुघ्नजीने अपने आसनसे खड़े होकर श्रीरामको प्रणाम करके कहा—

कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दन ॥
आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता ।
सन्तापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति ॥
दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव ।
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे महायशाः ॥
फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा ।
अनुभूयेदृशं दुःखमेष राघवनन्दनः ॥
प्रेष्ये मयि स्थिते राजन्न भूयः क्लेशमाप्नुयात् ।
(वा० रा० ७ । ६२ । ११–१५)

'रघुनाथजी ! मझले भाई श्रीभरतजीने तो पहले आपके बहुत कार्य किये हैं । क्योंकि इन्होंने आपके वियोगका सन्ताप हृदयमें रखकर भी आपके न रहनेपर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए अयोध्याका पालन किया है । राजन् ! महायशस्वी भरतजीने नन्दिग्राममें तृणकी शय्यापर शयन कर और फल-मूलका भोजन करके जटा और चीर धारण किये हुए आपके वियोगकालको व्यतीत किया है । इस प्रकारके दुःखोंका अनुभव करनेके अनन्तर इस समय मुझ दासके रहते हुए इनको पुनः यह लवणासुर-वधका परिश्रम नहीं मिलना चाहिये ।' शत्रुघ्नजीके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम् ।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे ॥
निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे ।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने ॥

राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम॥
(वा० रा० ७। ६२। १६-१७, २०)

'भाई! ऐसा ही हो, तुम्हीं मेरी आज्ञाका पालन करो। मैं मधुदैत्यके सुन्दर नगरपर तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। महाबाहो! यदि तुम भरतको कष्ट देना नहीं चाहते तो अच्छी बात है, भरतको यहीं रहने दो। तुम भी बड़े विद्वान्, शूर-वीर और नगर बसानेमें समर्थ हो। यदि तुम्हें मेरी बातका पालन करना है तो धर्मपूर्वक वहाँके राज्यका शासन करो। वीर! तुमको मेरी इस आज्ञाके विरुद्ध कोई उत्तर नहीं देना चाहिये।' भगवान् श्रीरामके यह वचन सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ी लज्जा हुई और वे मन्द स्वरमें बोले—

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते॥
अवश्यं करणीयं च शासनं पुरुषर्षभ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम्॥
त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम्।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति॥
व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥
सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम्।
(वा० रा० ७। ६३। २-७)

'राजन् ! बड़े भाई भरतजीके रहते हुए मुझ छोटेका राज्याभिषेक कैसे हो सकता है ? इस कार्यमें मुझे अधर्म माल्रम होता है । इधर मुझे आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषोत्तम ! महाभाग ! आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना भी घोर पाप है । वीर ! यही बात मैंने आपसे और वेद-शास्त्रोंसे भी सुन रक्खी है । अतः पूज्य भाई भरतजीके लवणासुरको मारनेकी बात स्वीकार कर लेनेके बाद फिर मुझे कोई उत्तर नहीं देना चाहिये था । मैंने यह बहुत ही खोटे दुर्वचन कह डाले कि 'लवणासुरको मैं मारूँगा ।' पुरुषश्रेष्ठ ! इस दुरुक्तिका ही फल यह राज्याभिषेक-रूप दुर्गति मुझे मिली है । बड़े भाईकी आज्ञा हो जानेपर फिर उत्तर नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकके विरुद्ध है । इसलिये रघुवर ! अब मैं दुबारा कुछ भी उत्तर नहीं दूँगा [मैं आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ] ।'

कैसा सुन्दर त्याग है ! श्रीरामके वियोगमें राज्यप्राप्तिको आप दुर्गति समझते हैं । वास्तवमें बात भी ऐसी ही है, साधकोंको इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

इसके बाद भी श्रीशत्रुघ्नजीने लवणासुरपर चढ़ाई की । उस समय श्रीरामने शत्रुघ्नको लवणासुरको मारनेकी युक्ति बतलायी तथा रास्तेमें खर्चके लिये बहुत-सा धन और बड़ी भारी सेना उनके साथ देकर उन्हें विदा किया । रास्तेमें जाते समय शत्रुघ्नजी एक रात श्रीवाल्मीकिके आश्रममें ठहरे । उसी रात्रिमें श्रीसीताजीसे कुश-लव—इन दो यमज (जोड़ले) पुत्रोंका जन्म हुआ था । इसलिये वह रात्रि भी श्रीशत्रुघ्नजीके लिये बड़ी ही आनन्ददायिनी हुई ।

इसके बाद शत्रुघ्नजी वहाँसे चलकर रास्तेमें सात दिन ठहरते-ठहरते यमुना-किनारे च्यवन ऋषिके आश्रममें पहुँचे।

वहाँ च्यवन ऋषिसे लवणासुरकी दिनचर्या और उसके बल-पराक्रमकी जानकारी प्राप्त की। फिर जब लवणासुर अपने घरसे आहारके लिये वनमें निकल गया, तब उसके लौटनेसे पहले ही शत्रुघ्नजीने जाकर उसके नगरका द्वार रोक लिया। शत्रुघ्नको देखकर लवणासुर कहने लगा कि 'इससे क्या होगा? नराधम! इस तरहके हजारों मनुष्योंको तो मैं रोज खाता हूँ।' इसपर शत्रुघ्नजीने अपना परिचय देते हुए कहा कि 'मैं तुम्हारे साथ युद्ध करना चाहता हूँ।' इसके बाद दोनोंका आपसमें घोर युद्ध हुआ। अन्तमें शत्रुघ्नजीने कानतक धनुष तानकर एक दिव्य बाण उसकी छातीमें मारा। वह छातीको छेदकर पातालमें प्रवेश कर गया और फिर वापस आकर शत्रुघ्नजीके तरकसमें स्थित हो गया। देवता और महर्षिगण शत्रुघ्नजीकी प्रशंसा करने लगे तथा आकाशसे जय-जयकारकी ध्वनि और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी।

इस प्रकार लवणासुरको मारकर तथा वहीं अच्छी तरह मधुरापुरी बसाकर उसके राज्यका प्रबन्ध करके बारह वर्षके बाद शत्रुघ्नजी श्रीरामका दर्शन करनेके लिये वहाँसे अयोध्याकी ओर लौटे। आते समय फिर शत्रुघ्नजी श्रीवाल्मीकि ऋषिके आश्रममें ही ठहरे। वहाँ उन्होंने मधुर स्वरमें गाये जाते हुए श्रीरामचरित्रको सुना। उसे सुनकर उनका हृदय करुणासे भर गया। वे रात्रिमें वहीं लेटकर श्रीरामके विषयमें ही विचार करते रहे। उनको नींद नहीं आयी। सबेरा होनेपर नित्यकर्मके बाद मुनिकी आज्ञा लेकर श्रीरामदर्शनकी

उत्कण्ठासे वे अयोध्याकी ओर चल पड़े । अयोध्या पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके महलमें आये; वहाँ इन्द्रके समान आसनपर विराजमान श्रीरामको उन्होंने प्रणाम किया और कहा कि 'भगवन् ! आपके आज्ञानुसार मैं लवणासुरको मारकर वहाँ नगर बसा आया हूँ ।'

द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन ।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप ॥
स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम ।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम् ॥

(वा० रा० ७ । ७२ । ११-१२)

'महाराज रघुनाथजी ! ये बारह वर्ष मैंने आपके वियोगमें बड़ी कठिनतासे बिताये हैं । इसलिये अब मैं आपके बिना वहाँ निवास करना नहीं चाहता । अतएव महापराक्रमी श्रीरामजी ! आप मुझपर ऐसी कृपा करें, जिससे मातृविहीन बालककी भाँति मैं आपसे अलग होकर बहुत दिनतक कहीं न रहूँ ।'

शत्रुघ्नकी यह बात सुनकर श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगाया और कहा—'वीर ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, यह क्षत्रिय-स्वभावके अनुरूप नहीं है । तुम्हें क्षात्रधर्मके अनुसार प्रजाका पालन करना चाहिये । समय-समयपर मुझसे मिलनेके लिये आ जाया करो ।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नजीने दीन वाणीसे उनकी बात स्वीकार कर ली । फिर भरत और लक्ष्मणसे मिलकर और सबको प्रणाम करके वे मथुरा लौट गये ।

इसके बाद जब भगवान् परमधाम पधारने लगे, तब फिर

शत्रुघ्नको बुलाया गया। तब शत्रुघ्नजी अपने पुत्रोंका राज्याभिषेक करके अयोध्यामें पहुँचे और श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम करके गद्गदवाणीसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥
(वा० रा० ७। १०८। १४-१५)

'महाराज रघुनाथजी! मैं अपने दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक करके आपके साथ चलनेका निश्चय करके आया हूँ। वीर! अब आप मुझे कोई दूसरी आज्ञा न दें; क्योंकि किसीके भी द्वारा और विशेषतः मेरे-जैसे अनुयायीके द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो—यह मैं नहीं चाहता। अभिप्राय यह है कि मैंने आजतक आपकी आज्ञाका कभी त्याग नहीं किया है। अतः अब भी वैसा न करना पड़े, इसकी आप ही रक्षा करें।'

भगवान् श्रीरामने शत्रुघ्नजीकी प्रार्थना स्वीकार की और श्रीशत्रुघ्नजी भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ-ही-साथ परमधाम पधार गये।

यह श्रीशत्रुघ्नजीका छोटा-सा जीवन-चरित्र केवल वाल्मीकीय रामायणके आधारपर लिखा गया है, इसमें दूसरे किसी रामायणसे या पुराणोंसे कोई बात नहीं ली गयी है। इस कारण सम्भव है कि उनके प्रेम और गुणोंकी समस्त बातें पाठकोंके सामने न आवें; परन्तु इसके लिये क्षमा-प्रार्थनाके सिवा मैं कर ही क्या सकता हूँ।

आदर्श भक्त हनुमान्

श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामके सर्वोत्तम दास-भक्त हैं। आपका जन्म वायुदेवके अंशसे और माता अञ्जनीके गर्भसे हुआ था। श्रीहनुमान्‌जी बालब्रह्मचारी, महावीर, अतिशय बलवान्, बड़े बुद्धिमान्, चतुरशिरोमणि, विद्वान्, सेवाधर्मके आचार्य, सर्वथा निर्भय, सत्यवादी, स्वामिभक्त, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको भली प्रकार जाननेवाले, महाविरक्त, सिद्ध, परम प्रेमी भक्त और सदाचारी महात्मा हैं। आप युद्ध-विद्यामें बड़े ही निपुण, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ तथा भगवान्‌के नाम, गुण, स्वरूप और लीलाके बड़े ही रसिक हैं। कहा जाता है कि अब भी जहाँ श्रीरामकी कथा या कीर्तन होता है, वहाँ श्रीहनुमान्‌जी किसी-न-किसी वेषमें उपस्थित रहते ही हैं। श्रद्धा न होनेके कारण लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।

श्रीहनुमान्‌जीके गुण अपार हैं। भगवान् और उनके भक्तोंके गुणोंका वर्णन कोई भी मनुष्य कैसे कर सकता है। इस विषयमें जो कुछ भी लिखा जाय, वह बहुत ही थोड़ा है। यहाँ संक्षेपमें श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रोंद्वारा उनके गुणोंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहले-पहल जब पम्पा-सरोवरपर श्रीराम और लक्ष्मणसे श्रीहनुमान्‌जी मिले हैं, वह प्रसंग देखनेसे माल्लम होता है कि श्रीहनुमान्‌जीमें विनय, विद्वत्ता, चतुरता, दीनता, प्रेम और श्रद्धा आदि गुण बड़े ही विलक्षण हैं।

अपने मन्त्रियोंके सहित ऋष्यमूक-पर्वतपर बैठे हुए सुग्रीवकी दृष्टि पम्पा-सरोवरकी ओर जाती है, तो वे देखते हैं कि हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए बड़े सुन्दर, विशालबाहु, महापराक्रमी दो वीर पुरुष इस ओर आ रहे हैं। उन्हें देखते ही सुग्रीव भयभीत होकर श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं कि 'हनुमान्! तुम जाकर इनकी परीक्षा तो करो। यदि ये वालीके भेजे हुए हों तो मुझे संकेतसे समझा देना, जिससे मैं इस पर्वतको छोड़कर तुरंत ही भाग जाऊँ।'

सुग्रीवकी आज्ञा पाकर आप ब्रह्मचारीका रूप धरकर वहाँ जाते हैं और श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके उनसे प्रश्न करते हैं। मानस-रामायणमें श्रीतुलसीदासजी उनके प्रश्नका यों वर्णन करते हैं—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥

× × × ×

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

अध्यात्मरामायणमें भी करीब-करीब ऐसा ही वर्णन है। इसके

सिवा वहाँ श्रीरामचन्द्रजी भाई श्रीलक्ष्मणसे हनुमान्‌जीकी विद्वत्ताकी सराहना करते हुए कहते हैं—

'लक्ष्मण ! देखो, यह ब्रह्मचारीके वेषमें कैसा सुन्दर भाषण करता है, अवश्य ही इसने सम्पूर्ण शब्द-शास्त्र बहुत प्रकारसे पढ़ा है। इसने इतनी बातें कहीं, किन्तु इसके बोलनेमें कहीं कोई भी अशुद्धि नहीं आयी।'

वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामने यहाँतक कहा है कि 'इसने अवश्य ही सब वेदोंका अभ्यास किया है, नहीं तो यह इस प्रकारका भाषण कैसे कर सकता।' इसके सिवा और भी बहुत प्रकारसे श्रीहनुमान्‌जीके वचनोंकी सराहना करते हुए वे अन्तमें कहते हैं कि जिस राजाके पास ऐसे बुद्धिमान् दूत हों, उसके समस्त कार्य दूतकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाया करते हैं !

रामचरितमानसमें आगेका वर्णन बड़ा ही प्रेमपूर्ण है—

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपना समस्त परिचय देकर श्रीहनुमान्‌जीसे पूछते हैं कि ब्राह्मण ! बतलाइये, आप कौन हैं ?' यह सुनते ही हनुमान्‌जी श्रीरामको भलीभाँति पहचानकर तुरंत ही उनके चरणोंमें गिर पड़ते हैं, उनका शरीर पुलकित हो जाता है, मुखसे बोला नहीं जाता, वे टकटकी लगाकर भगवान्‌की रूप-माधुरी और विचित्र वेषको निहारने लगते हैं। कैसा अलौकिक प्रेम है ! फिर धैर्य धारण करके भगवान्‌से कहते हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥

कितना प्रेम और दैन्यभाव है! इसके बाद विनयपूर्वक सुग्रीवकी परिस्थिति बतलाकर दोनों भाइयोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर वे सुग्रीवके पास ले जाते हैं। वहाँ दोनों ओरकी सब बातें सुनाकर अग्निदेवकी साक्षीमें श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रता करा देते हैं। बालीका वध करके भगवान् श्रीराम भाई लक्ष्मणके सहित प्रवर्षण-पर्वतपर निवास कर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत करते हैं। उधर सुग्रीव राज्य, ऐश्वर्य और स्त्री आदिके मिल जानेसे भोगोंमें फँसकर भगवान्‌के कार्यको भूल जाते हैं। यह देखकर श्रीहनुमान्‌जी राजनीतिके अनुसार सुग्रीवको भगवान्‌के कार्यकी स्मृति कराते हैं और उनकी आज्ञा लेकर वानरोंको बुलानेके लिये देश-देशान्तरोंमें दूत भेजते हैं। कैसी बुद्धिमानी है!

इसके बाद जब श्रीसीताजीकी खोजके लिये सब दिशाओंमें वानरोंको भेजनेकी बातचीत हो रही थी, उस समयका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें देखनेसे मालूम होता है कि सुग्रीवका श्रीहनुमान्‌जीपर कितना भरोसा और विश्वास था, तथा भगवान् श्रीरामको भी उनकी कार्यकुशलतापर कितना विश्वास था। वहाँ श्रीरामके सामने ही सुग्रीव हनुमान्‌से कहते हैं—

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिभङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः ।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥
गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः ॥
तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते ।
तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥
त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥

(किष्किन्धा० ४४ । ३-७)

'कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारी गतिका अवरोध न पृथ्वीमें, न अन्तरिक्षमें, न आकाशमें और न देवलोकमें अथवा जलमें ही देखा जाता है। देवता, असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य इनके सहित उन-उनके समस्त लोकोंका समुद्र और पर्वतोंसहित तुम्हें भलीभाँति ज्ञान है। महाकपे ! तुम्हारी गति, वेग, तेज और फुर्ती—तुम्हारे महान् बलशाली पिता वायुके समान हैं। वीर ! इस भूमण्डलपर कोई भी प्राणी तेजमें तुम्हारी समानता करनेवाला न कभी हुआ और न है। अतः जिस प्रकार सीता मिल सके, वह उपाय तुम्हीं सोचकर बताओ। हनुमन् ! तुम नीति-शास्त्रके पण्डित हो; बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण और नीतिपूर्ण बर्ताव—ये सब एक साथ तुममें पाये जाते हैं।'

इस प्रकार सुग्रीवकी बातें सुनकर भगवान् श्रीराम हनुमान्-जीकी ओर देखकर अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझने लगे। उन्होंने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने नामके अक्षरोंसे युक्त एक अँगूठी हनुमान्जीके हाथमें देकर कहा—

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥
व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥

(किष्किन्धा० ४४ । १३-१४)

'कपिश्रेष्ठ ! इस चिह्नके द्वारा जनकनन्दिनी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो । तब वह निर्भय होकर तुम्हारी ओर देख सकेगी । वीरवर ! तुम्हारा उद्योग, धैर्य और पराक्रम तथा सुग्रीवका संदेश मुझे इस बातकी सूचना दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा इस कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी ।'

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी प्रकार श्रीरामने हनुमान्‌जीके गुणोंकी बड़ाई की है । वहाँ निशानीके रूपमें अपनी मुद्रिका देकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम ।
जानामि सत्त्वं ते सर्वं गच्छ पन्थाः शुभस्तव ॥

(४ । ६ । २९)

'कपिश्रेष्ठ ! इस कार्यमें केवल तुम्हीं समर्थ हो । मैं तुम्हारा समस्त पराक्रम भलीभाँति जानता हूँ । अच्छा, जाओ; तुम्हारा मार्ग कल्याणकारक हो ।'

इसके बाद जब जाम्बवान् और अङ्गद आदि वानरोंके साथ हनुमान्‌जी श्रीसीताजीकी खोज करते-करते समुद्रके किनारे पहुँचते हैं और श्रीसीताका अनुसन्धान न मिलनेके कारण शोकाकुल होकर सब वहीं अनशन-व्रत लेकर बैठ जाते हैं, तब गृध्रराज सम्पातीसे

बातचीत होनेपर उन्हें यह पता लगता है कि सौ योजन समुद्रके पार लङ्कापुरीमें राक्षसराज रावण रहता है, वहाँ अपनी अशोक-वाटिकामें उसने सीताको छिपा रक्खा है । तब सब वानर एक जगह बैठकर परस्पर समुद्र लाँघनेका विचार करने लगे । अङ्गदके पूछनेपर सभीने अपनी-अपनी सामर्थ्यका परिचय दिया; परन्तु श्रीहनुमान्‌जी चुप साधे बैठे ही रहे । कैसी निरभिमानता है ! यह प्रसङ्ग श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही रोचक और विस्तृत है । वहाँ जाम्बवान्‌ने श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धि, बल, तेज, पराक्रम, विद्या और वीरताका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है । वे कहते हैं —

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर ।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि ॥
... ...
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥
....
गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥
× × ×
पक्षयोर्यद्बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव ।
विक्रमश्चापि तेजश्च न ते तेनापहीयते ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव ।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे ॥

(किष्किन्धा० ६६ । २–७)

'सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा वानर-जगत्‌के अद्वितीय वीर हनुमान् ! तुम कैसे एकान्तमें आकर चुप साधे बैठे हो ? कुछ

बोलते क्यों नहीं ? तुम तो तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके समान हो। गमनशक्तिमें सम्पूर्ण पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतापुत्र महाबली गरुड़के समान विख्यात हो। उनकी पाँखोंमें जो बल और तेज तथा पराक्रम है, वही तुम्हारी इन भुजाओंमें भी है। वानरश्रेष्ठ ! तुम्हारे अंदर समस्त प्राणियोंसे बढ़कर बल, बुद्धि, तेज और धैर्य हैं; फिर तुम अपना स्वरूप क्यों नहीं पहचानते ?'

इसके बाद जाम्बवान् उनके जन्मकी कथा सुनाते हैं तथा बाल्यावस्थाके पराक्रम और वरदानकी बात कहकर उनके बलकी स्मृति दिलाते हुए अन्तमें कहते हैं—

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव ॥
विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे ।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन्विक्रमानिव ॥

(किष्किन्धा० ६६ । ३६-३७)

'वानरश्रेष्ठ हनुमान् ! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ। जो तुम्हारी गति है, वह सभी प्राणियोंसे बढ़कर है। सभी वानर चिन्तामें पड़े हैं और तुम इनकी उपेक्षा करते हो, यह क्या बात है ? तुम्हारा वेग महान् है। जैसे भगवान् विष्णुने (पृथ्वीको नापनेके लिये) तीन डगें भरी थीं, उसी प्रकार तुम छलाँग मारकर समुद्रके उस पार चले जाओ।' इतना सुनते ही श्रीहनुमान्जी तुरंत ही समुद्र लाँघनेके लिये अपना शरीर बढ़ाने लगे।

रामचरितमानसमें भी इसी आशयका वर्णन है। वहाँ अङ्गद-को धैर्य देनेके बाद जाम्बवान् हनुमान्‌जीसे कहते हैं —

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥
कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी तरहका वर्णन है। इसके सिवा पर्वताकार रूप धारण करनेके अनन्तर वहाँ श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—

लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात्॥
रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम्।
यद्वा बद्ध्वा गले रज्ज्वा रावणं वामपाणिना॥
लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम्।
यद्वा दृष्ट्वैव यास्यामि जानकीं शुभलक्षणाम्॥

(४।१।२२—२४)

'वानरो! मैं समुद्रको लाँघकर लङ्काको भस्म कर डालूँगा और रावणको कुलसहित मारकर श्रीजनकनन्दिनीको ले आऊँगा। अथवा कहो तो रावणके गलेमें रस्सी डालकर तथा लङ्काको त्रिकूट-पर्वतसहित बायें हाथपर उठाकर भगवान् रामके आगे ला रक्खूँ? या शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको देखकर ही चला आऊँ?'

कितना आत्मबल है! इसपर जाम्बवान्‌ने कहा— 'वीर!

तुम्हारा शुभ हो, तुम केवल शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको जीती-जागती देखकर ही चले आओ।'

समुद्रको लाँघनेके लिये तैयार होकर आपने वानरोंसे जो वचन कहे हैं, उनसे यह पता चलता है कि आपका श्रीरामनामपर बड़ा ही दृढ़ विश्वास था। आप भगवान् श्रीरामके गुण, प्रभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानते थे तथा श्रीराममें आपका अविचल प्रेम था। अध्यात्मरामायणमें यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

....

पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा ॥
अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः ।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम् ॥
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम् ।
प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन् ॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम् ।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः ॥
तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यल्पवारिधिम् ।
(५ । १ । २–६)

'समस्त वानरो! तुम सभी लोग भगवान् रामद्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणकी भाँति आकाशमार्गसे जाते हुए मुझे देखो। मैं आज ही रामप्रिया जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके दर्शन करूँगा। निश्चय ही मैं कृतकृत्य हो चुका, कृतकृत्य हो चुका; अब मैं फिर श्रीरघुनाथजी-का दर्शन करूँगा। प्राण निकलनेके समय जिनके नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसार-सागरको पारकर उनके

परमधामको चला जाता है, उन्हीं भगवान् श्रीरामका दूत, उनके हाथकी मुद्रिका लिये हुए, हृदयमें उन्हींका ध्यान करता हुआ मैं यदि इस छोटे-से समुद्रको लाँघ जाऊँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।'

समुद्र लाँघनेके लिये श्रीहनुमान्‌जीने जो भयानक रूप धारण किया था, उसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें विस्तारपूर्वक है। यहाँ उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। वहाँ लिखा है—

....

ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥
निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम् ।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम् ॥
स चचालाचलश्चाशु मुहूर्तं कपिपीडितः ।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥
तमूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः ।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥

(सुन्दर० १ । १०, ११, १२, ४६)

'जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामके कार्यकी सिद्धिके लिये हनुमान् बढ़ने लगे। समुद्र लाँघनेकी इच्छासे उन्होंने अपने शरीरको बेहद बढ़ा लिया और अपनी भुजाओं एवं चरणोंसे उस पर्वतको दबाया तो वह हनुमान्‌जीके द्वारा ताडित हुआ पर्वत तुरंत काँप उठा और मुहूर्त्तभर काँपता रहा। उसपर उगे हुए वृक्षोंके समस्त फूल झड़ गये। जब उन्होंने उछाल मारी, तब पर्वतपर उगे हुए साल तथा दूसरे

वृक्ष इधर-उधर गिर गये। उनकी जाँघोंके वेगसे टूटे हुए वृक्ष इस प्रकार उनके पीछे चले जैसे राजाके पीछे सेना चलती है।'

इसके सिवा वहाँपर श्रीहनुमान्‌जीके स्वरूपका मनोहर भाषामें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वहाँ लिखा है कि उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी परछाईं वेगके कारण समुद्रमें बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी। वे परम तेजस्वी, महाकाय कपिवर आकाशमें आलम्बनहीन पंखवाले पर्वतकी भाँति जान पड़ते थे। इससे उनकी लंबाई-चौड़ाईके विस्तार-का कुछ पता चलता है।

यह देखकर मैनाक-पर्वत उनसे विश्राम लेनेके लिये अनेक प्रकारसे प्रार्थना करता है, परन्तु भगवान् श्रीरामका कार्य पूरा किये बिना आपको विश्राम कहाँ! आप उसे केवल स्पर्शमात्र करके ही आगे बढ़ जाते हैं।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥
जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥
हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

सुरसाको अपने बुद्धि-बलका परिचय देकर आगे जाते-जाते जब समुद्रपर आपकी दृष्टि पड़ती है, तब क्या देखते हैं कि एक विशालकाय प्राणी समुद्रके जलपर पड़ा हुआ है। उस विकरालवदना

राक्षसीको देखकर वे सोचने लगे—कपिराज सुग्रीवने जिस महा-पराक्रमी छायाग्राही अद्भुत जीवकी बात कही थी, वह निःसन्देह यही है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने शरीरको बढ़ाया। हनुमान्‌जीके शरीरको बढ़ता देखकर सिंहिका भी अपना भयानक मुख फैलाकर हनुमान्‌जीकी ओर दौड़ी। तब हनुमान्‌जी छोटा रूप बनाकर उसके मुखमें घुस गये और अपने नखोंसे उसके मर्मस्थलों-को फाड़ डाला। इस प्रकार कुशलता और धैर्यपूर्वक उसे मारकर फिर पहलेकी भाँति आगे बढ़ गये। कैसा विचित्र बुद्धि-कौशल, धैर्य और साहस है।

इस प्रकार समुद्रको पार करके आप त्रिकूट-पर्वतपर जा उतरे। बिना विश्राम सौ योजनके समुद्रको लाँघनेपर भी आपके शरीरमें किसी प्रकारकी थकावट नहीं आयी। वहाँसे उन्होंने भलीभाँति लङ्काका निरीक्षण किया। फिर लङ्काके समीप जाकर उसके भीतर प्रवेश करनेके विषयमें खूब विचार करके अन्तमें यह निश्चय किया कि रात्रिके समय छोटा रूप बनाकर इसमें प्रवेश करना ठीक होगा। इसके बाद सन्ध्याकालमें जब आप छोटा-सा रूप धारण करके लङ्कापुरीमें प्रवेश करने लगे, तब द्वारपर लङ्कापुरीकी अधिष्ठात्री लङ्किनी राक्षसीने उनको देख लिया। उसने श्रीहनुमान्‌जीको डाँट-डपटकर जब उनको लात मारी, तब आपने अपने बायें हाथका एक मुक्का उसके शरीरपर मारा। उसके लगते ही वह रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी। फिर उठकर ब्रह्मा-जीकी बातको स्मरण करके हनुमान्‌जीकी स्तुति करने लगी और अन्तमें बोली—

धन्याहमप्यद्य चिराय राघव-
स्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी ।
तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम
प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि ॥
(अध्यात्म० ५ । १ । ५७)

'आज मैं भी धन्य हूँ जो चिरकालके बाद मुझे संसार-बन्धनका नाश करनेवाली रघुनाथजीकी स्मृति प्राप्त हुई तथा उनके भक्तका अति दुर्लभ सङ्ग भी मिला । वे दशरथपुत्र श्रीराम सदा ही मेरे हृदयमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करें ।' रामचरितमानसमें यह प्रसंग इस प्रकार है—

हनुमान्‌जीके प्रहारसे व्याकुल होकर गिर पड़नेके बाद सावधान होकर लङ्किनी कहती है—

तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

इसके बाद हनुमान्‌जी छोटा-सा रूप धारण कर लङ्कापुरीमें सीताकी खोज करते-करते बहुत-से राक्षसोंके घरमें घूम-फिरकर रावणके महलमें जाते हैं । वहाँ रावणके महलकी विचित्र रचना देखते-देखते पुष्पक-विमानको आश्चर्ययुक्त होकर देखते हैं । इसके बाद जिस समय उन्होंने सीताको पहचाननेके लिये रावणके महलमें रावणकी स्त्रियोंको देखकर अपने मनकी स्थितिका वर्णन किया है, उसे देखनेसे यह पता चलता है कि आपकी ब्रह्मचर्य-निष्ठा कितनी

ऊँची थी, परस्त्री-दर्शनको आप कितना बुरा समझते थे, आपका कितना सुन्दर विशुद्ध भाव था। वाल्मीकीय रामायणकी कथा है कि जब हनुमान्‌जीने रावणके महलका कोना-कोना छान डाला, परन्तु उन्हें जानकी कहीं दिखायी नहीं पड़ी, उस समय सीताको खोजनेके उद्देश्यसे स्त्रियोंको देखते-देखते उनके मनमें धर्म-भयसे शङ्का हुई। वे सोचने लगे, 'इस प्रकार अन्तःपुरमें सोयी हुई परायी स्त्रियोंको देखना तो मेरे धर्मको एकदम नष्ट कर देगा; परन्तु इन परस्त्रियोंको मैंने कामबुद्धिसे नहीं देखा है। इस दृश्यसे मेरे मनमें तनिक भी विकार नहीं हुआ। समस्त इन्द्रियोंकी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियोंका कारण मन ही है और मेरा मन सर्वथा निर्विकार है। इसके सिवा सीताजीको दूसरे तरीकेसे मैं खोज भी नहीं सकता। स्त्रियोंको ढूँढ़ते समय स्त्रियोंके ही बीचमें ढूँढ़ना पड़ता है'—इत्यादि। ऐसे सुन्दर विचार और ऐसा विशुद्ध भाव आपके ही उपयुक्त है।

साधकोंको इससे विशेष शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और विकट स्थितिमें भी अपने मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं आने देना चाहिये। वाल्मीकीय रामायणमें सीताकी खोजका बड़ा ही विचित्र और विस्तृत वर्णन है। यहाँ उसमेंसे बहुत ही थोड़े-से प्रसङ्गका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

रामचरितमानसमें लिखा है कि सीताको खोजनेके लिये लङ्का-में घूमते-घूमते हनुमान्‌जीकी दृष्टि एक सुन्दर भवनपर पड़ती है, जिसपर भगवान् श्रीरामके आयुध अङ्कित किये हुए हैं। तुलसीके पौधे उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। यह देखकर आप सोचने लगते हैं

कि यहाँ तो राक्षसोंका ही निवास है, यहाँ सज्जन पुरुष क्यों निवास करने लगे। उसी समय विभीषण जाग उठते हैं और बार-बार श्रीराम-नामका स्मरण करते हैं। यह देखकर हनुमान्जीने सोचा कि निःसन्देह यह कोई भगवान्का भक्त है, इससे जरूर पहचान करनी चाहिये। साधुसे कभी कार्यकी हानि नहीं हो सकती।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥
की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥

भगवान्के भक्तोंमें परस्पर स्वाभाविक प्रेम कैसा होना चाहिये, इसका यहाँ बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। विभीषण कहते हैं—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता

तब हनुमान्जी कहते हैं—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥
एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥

कितना सुन्दर दैन्यभाव, अतुलित विश्वास और अनन्य भगवत्प्रेम है। इसके बाद विभीषणसे सब खबर पाकर हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें जाकर श्रीसीताजीको देखते हैं और मन-ही-मन उनको प्रणाम करते हैं।

अशोकवाटिकामें जाकर श्रीसीताजीसे मिलनेके लिये हनुमान्‌जीने कितनी बुद्धिमानी और युक्तियोंसे काम लिया है, इसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें बहुत विस्तृत है। वहाँ लिखा है कि बहुत तरहकी युक्तियाँ लगाकर सीताजीसे मिलनेका उपाय सोचते-सोचते अन्तमें हनुमान्‌जी बड़ी सावधानीके साथ एक सघन वृक्षके पत्तोंमें छिपकर बैठ जाते हैं। वहींसे सब ओर दृष्टि घुमाकर देखते हैं। देखते-देखते उनकी दृष्टि सीतापर पड़ती है। उसे देखकर बहुत-से चिह्नोंद्वारा अनुमान लगाकर यह निश्चय करते हैं कि यही जनकनन्दिनी सीता हैं। वहाँ उन्होंने सीताके रहन-सहन और स्वभावका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है। वे सीताके गहनोंको देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि भगवान् श्रीरामने सीताजीके अङ्गोंमें जिन-जिन आभूषणोंकी चर्चा की थी, वे सभी इनके अङ्गोंमें दिखायी देते हैं। इनमें केवल वे ही नहीं दिखलायी दे रहे हैं, जो इन्होंने ऋष्यमूक-पर्वतपर गिरा दिये थे।

इसी प्रकार उनके रूप और गुणोंको देखकर बड़ी बुद्धिमानीसे उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि निःसन्देह यही सीता हैं। यह निश्चय हो जानेपर उनको श्रीसीताजीके दुःखसे बड़ा दुःख हुआ और वे मन-ही-मन बहुत विलाप करने लगे।

इसके बाद सीतासे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये, किस

समय और कैसे मिलना चाहिये, किस प्रकार उन्हें विश्वास दिलाना चाहिये कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ—इस विषयपर भी आपने बड़ी विचारकुशलता प्रकट की है। ठीक उसी समय रावण बहुत-सी राक्षसियोंको साथ लेकर वहाँ पहुँच जाता है। वह सीताको अनेक प्रकारसे भय दिखलाकर अपने अधीन करनेकी चेष्टा करता है, पर सीता किसी तरह भी अपने निश्चयसे विचलित नहीं होतीं। अन्तमें रावण चला जाता है। तब उसके आज्ञानुसार राक्षसियाँ अनेक प्रकारसे सीताको भय दिखलाती हैं। उसी समय त्रिजटा नामकी राक्षसी अपने स्वप्नकी बात कहकर सीताको धैर्य देती है और उसकी बातें सुनकर वे घोर राक्षसियाँ भी शान्त हो जाती हैं। सीता विरहसे व्याकुल होकर विलाप करने लग जाती हैं।

तब हनुमान्‌जी सीतासे मिलनेका उपयुक्त मौका देखकर अपने पूर्वनिश्चित विचारके अनुसार श्रीरामकी कथाका वर्णन करने लग जाते हैं। श्रीरघुनाथजीका आद्योपान्त समस्त चरित्र सुनकर सीताको बड़ा विस्मय हुआ। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि अन्तमें उन्होंने सोचा कि यह स्वप्न या भ्रम तो नहीं है। ऐसा विचार करके वे कहने लगीं—

येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम्।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः॥

(५।३।१८)

'जिन्होंने मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाले वचन सुनाये, वे प्रियभाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हों।'

ये वचन सुनकर आप माता सीताके सामने बड़ी विनयके

साथ खड़े हो जाते हैं और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करते हैं। अकस्मात् एक वानरको अपने सामने खड़ा देखकर सीताके मनमें यह शङ्का होती है कि कहीं रावण तो मुझे छलनेके लिये नहीं आ गया है। यह सोचकर वे नीचेकी ओर मुख किये हुए ही बैठी रहती हैं। रामचरितमानसमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुना निधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥

इसके बाद श्रीजानकीजीके पूछनेपर उन्होंने जिस प्रकार वानरराज सुग्रीवके साथ भगवान् श्रीरामकी मित्रता हुई, वह सारी कथा विस्तारपूर्वक सुना दी तथा श्रीराम और लक्ष्मणके शारीरिक चिह्नोंका एवं उनके गुण और स्वभावका भी वर्णन किया। ये सब बातें सुनकर जानकीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसङ्गका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा विस्तृत और रोचक है।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजीने बहुत ही संक्षेपमें इस प्रकार कहा है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥
हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी॥

इसके बाद महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जीने सीताजीको भगवान् श्रीरामकी दी हुई अँगूठी दी, जिसे लेकर वे इतनी प्रसन्न हुईं, मानो स्वयं भगवान् श्रीराम ही मिल गये हों।

उस समय वे हनुमान्‌जीसे कहती हैं—

बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहुँ जलजाना॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी॥
कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुख दायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता
बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इस प्रकार सीताको विरह-व्याकुल देखकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥
जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

इसके बाद बड़ी बुद्धिमानीके साथ श्रीरामके प्रेम और विरह-व्याकुलताकी बात श्रीहनुमान्‌जीने माता सीताको सुनायी। अन्तमें कहा कि श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

इस प्रकार श्रीरामका प्रेमपूर्ण सन्देश सुनकर सीता प्रेममें मग्न हो गयीं, उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीं रहा। तब हनुमान्‌जी फिर कहते हैं—

उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥

ये सब बातें सुनकर जब जानकीजीने यह कहा कि 'सब वानर तो तुम्हारे ही-जैसे होंगे। राक्षसगण बड़े भयानक और विकराल हैं। इन सबको तुमलोग कैसे जीत सकोगे, मेरे मनमें यह सन्देह हो रहा है।' यह सुनकर हनुमान्‌जीने अपना भयानक पर्वताकार रूप सीताको दिखलाकर अपना छिपा हुआ प्रभाव प्रकट कर दिया। उसे देखते ही सीताके मनमें विश्वास हो गया।

सीताने प्रसन्न होकर हनुमान्‌जीको बहुत-से वरदान दिये। साथ ही यह भी कहा कि भगवान् श्रीराम तुमपर कृपा करेंगे। यह बात सुनते ही हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गये और बार-बार चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोले—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इससे यह प्रकट होता है कि हनुमान्‌जीका श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें कितना गूढ़ प्रेम है।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि बातों-ही-बातोंमें सीताजीने जब यह पूछा कि 'वानर-सेनाके सहित श्रीराम इस बड़े भारी समुद्रको पार कर यहाँ कैसे आ सकेंगे?' तब—

हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ।
आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः॥
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम्॥

(सुन्दर० ३। ४७-४८)

'हनुमान्‌ने कहा—वे दोनों नरश्रेष्ठ मेरे कंधोंपर चढ़कर आ जायँगे और समस्त सेनाके सहित वानरराज सुग्रीव भी आकाशमार्गसे क्षणमात्रमें ही इस महासमुद्रसे पार होकर आ जायँगे।'

इस प्रसङ्गसे भी श्रीहनुमान्‌जीके बल, वीर्य और साहसका परिचय मिलता है। इसके बाद माता सीतासे आज्ञा लेकर अशोक-वाटिकाके फल खाकर श्रीहनुमान्‌जीने अपने स्वामी श्रीरामका विशेष कार्य करनेकी इच्छासे अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तहस-नहस करके समस्त वाटिकाको विध्वंस कर दिया। यह समाचार पाकर रावणने अपनी बड़ी भारी सेना और अक्षयकुमारको भेजा। उन सबके साथ हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। बड़ी वीरता और युद्ध-कौशलसे उन्होंने अनायास ही जम्बुमाली, मन्त्रीके सात पुत्रों, पाँच सेनापतियों और अक्षयकुमारको मार डाला। इस युद्धके प्रसङ्गसे श्रीहनुमान्‌जीका अतुलित बल-पौरुष और युद्ध-कौशल स्पष्ट व्यक्त होता है। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित पराक्रमका चित्र खींचते हुए वहाँ लिखा है—

तलेनाभ्यहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित्परंतपः।
मुष्टिभिश्चाहनत्कांश्चिन्नखैः कांश्चिद्व्यदारयत्॥
प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरानपि।
केचित्तस्यैव नादेन तत्रैव पतिता भुवि॥

(सुन्दर० ४५। १२-१३)

'हनुमान्‌जीने उन राक्षसोंमेंसे किसीको थप्पड़ मारकर गिरा दिया, कितनोंको पैरोंसे कुचल डाला, कइयोंका मुक्कोंसे काम तमाम कर दिया और बहुतोंको नखोंसे फाड़ डाला। कुछको छातीसे रगड़कर उनका कचूमर निकाल दिया तो किन्हीं-किन्हींको दोनों जाँघोंसे दबोचकर पीस डाला। कितने ही राक्षस तो उनकी भयानक गर्जनासे ही वहाँ पृथ्वीपर ही गिर पड़े'—इत्यादि।

जब बचे-खुचे राक्षसोंसे रावणको यह खबर मिली कि मन्त्रीके

सातों पुत्र और प्रधान-प्रधान प्रायः सभी राक्षस मारे गये, पाँचों सेनापति तथा अक्षयकुमार भी मारा गया, तब उसने इन्द्रजित्‌को उत्साहित करके हनुमान्‌जीको पकड़ लानेके लिये भेजा। मेघनाद और हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें जब उसने श्रीहनुमान्‌जीको बाँधनेके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब ब्रह्माजीका सम्मान रखनेके लिये वे उससे बँध गये। उन्होंने सोचा कि राक्षसोंद्वारा पकड़े जानेमें भी मेरा लाभ ही है; क्योंकि इससे मुझे राक्षसराज रावणके साथ बातचीत करनेका अवसर मिलेगा। यह सोचकर वे निश्चेष्ट हो गये। तब राक्षसलोगोंने नाना प्रकारके रस्सोंसे हनुमान्‌जीको अच्छी प्रकार बाँध लिया। ऐसा करनेसे ब्रह्मास्त्रका प्रभाव नहीं रहा। इस प्रकार ब्रह्मास्त्रसे मुक्त हो जानेपर भी परम चतुर हनुमान्‌जीने ऐसा बर्ताव किया मानो इस बातको वे जानते ही न हों।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि इसके बाद हनुमान्‌जी रावण-की सभामें लाये गये, वहाँ पहुँचकर उन्होंने समस्त सभाके बीचमें बड़ी सज-धजके साथ राजसिंहासनपर बैठे हुए रावणको देखा। हनुमान्‌जीको देखकर रावणको मन-ही-मन बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगा कि यह भयंकर वानर कौन है, क्या साक्षात् शिवजीके गण भगवान् नन्दीश्वर ही तो वानरका रूप धारण कर नहीं आ गये हैं। इस प्रकार बहुत-सी तर्कणा करनेके बाद रावणने प्रहस्तसे कहा—

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतः
किमत्र कार्यं कुत एव वानरः।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं
हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात्॥
(५।४।५)

'प्रहस्त ! इस वानरसे पूछो, यह यहाँ क्यों आया है ? यहाँ इसका क्या काम है ? यह आया कहाँसे है ? तथा इसने मेरा समस्त बगीचा क्यों नष्ट कर डाला ? और मेरे राक्षस वीरोंको बलात्कारसे क्यों मार डाला ?'

प्रहस्तने श्रीहनुमान्‌जीसे सारी बातें सत्य-सत्य कहनेके लिये अनुरोध किया, तब आपने बड़ी राजनीतिके साथ उत्तर दिया। मनमें भगवान्‌का स्मरण करके वे कहने लगे—

शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे
रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया
भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥

(५।४।८)

'देवादिकोंके शत्रु रावण ! तुम साफ-साफ सुनो—कुत्ता जिस प्रकार विशुद्ध हविको चुरा ले जाता है, उसी प्रकार तुमने अपना नाश करानेके लिये जिन अखिलेश्वरकी साध्वी भार्याको हर लिया है, मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् रामका दूत हूँ, वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसङ्गका विस्तृत वर्णन है। वहाँ हनुमान्‌जी कहते हैं—

अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
धनदेन न मे सख्यं ... . ॥
जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः॥
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य तदिदं दुर्लभं मया।
वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम्॥

ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥
रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे ।
अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि ॥
... .
राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥
(सुन्दर० ५० । १३–१७)

'मैं इन्द्र, यम, वरुण आदि अन्य किसी देवताका भेजा हुआ नहीं हूँ, न मेरी कुबेरके साथ मित्रता है । मेरी तो यह जाति ही है अर्थात् मैं जन्मसे ही वानर हूँ, राक्षसराज रावणको देखनेके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ तथा रावणसे मिलनेके उद्देश्यसे ही मैंने ऐसा यह दुर्लभ बगीचा उजाड़ा है । तुम्हारे बली राक्षस मुझसे लड़नेके लिये गये; तब अपने शरीरकी रक्षाके लिये मैंने उनका मुकाबला किया । देवता या असुर—कोई भी किसी प्रकार मुझे अस्त्रोंके द्वारा बाँध नहीं सकता । राक्षसराजको देखनेके लिये ही मैंने यह बन्धन स्वीकार किया है ।'

इसके बाद संक्षेपमें श्रीरामकी समस्त कथाका वर्णन करते हुए, उनकी सुग्रीवके साथ मित्रता होने और बालीके मारे जानेकी सब बातें कहकर यह बतलाया कि 'मैं सीताकी खबर लेनेके लिये आया हूँ ।'

इसके बाद आपने बड़ी युक्तियोंसे रावणको भगवान् श्रीरामके बल, पराक्रम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी बातें सुनाकर बहुत कुछ समझानेकी चेष्टा की । रामचरितमानसमें श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—

बिनती करउँ जोरि कर रावन । सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

× × × ×

जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहें जानकी दीजै॥

प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥

राम चरन पंकज उर धरहू। लंकाँ अचल राज तुम्ह करहू॥

× × × ×

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥

× × × ×

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान॥

भगवान् श्रीरामका प्रभाव दिखलाकर बहुत कुछ समझानेके बाद अध्यात्मरामायणमें भी यही कहा है—

विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो
रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात्॥

(५।४।२३)

'रावण! तुम हृदयमें स्थित शत्रुभावनारूप मूर्खताका त्याग करके शरणागतप्रिय श्रीरामका भजन करो। श्रीसीताजीको आगे करके अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित (भगवान् श्रीरामकी शरणमें जा पड़ो) उन्हें नमस्कार करो। ऐसा करके तुम भयसे मुक्त हो जाओगे।'

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीने रावणको उसके हितकी बहुत-सी

बातें कहीं, परन्तु उसे वे बहुत ही बुरी लगीं । वह हनुमान्‌जीपर क्रोध करके कहने लगा—'अरे बंदर ! तुम निर्भयकी भाँति कैसे मेरे सामने बक रहे हो ! तुम बंदरोंमें नीच हो । मैं अभी तुम्हें मार डालूँगा ।' इस प्रकार उसने श्रीहनुमान्‌जीको बहुत-सी खोटी-खरी बातें कहकर राक्षसोंको आदेश दिया कि 'इसे मार डालो ।' यह सुनते ही बहुत-से राक्षस श्रीहनुमान्‌जीको मारनेके लिये उद्यत हुए । उस समय विभीषणने रावणको समझाया । रामचरितमानसमें इसका यों वर्णन आता है--

नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीति बिरोध न मारिअ दूता ॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई । सबहीं कहा मंत्र भल भाई ॥

यह सुनकर रावणने कहा—

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ॥
पूँछहीन बानर तहँ जाइहि । तब सठ निज नाथहि लइ आइहि ॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई । देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई ॥

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

यह सुनकर श्रीहनुमान्‌जीने मन-ही-मन सोचा कि अब काम बन गया । उधर राक्षसोंने रावणकी आज्ञा पाकर तुरंत ही हनुमान्‌जीकी पूँछपर बहुत-से वस्त्र घी और तेलमें भिगो-भिगोकर बाँध दिये, पूँछके अग्रभागमें थोड़ी आग लगा दी और शहरमें फिराकर एवं डोंडी पिटवाकर लोगोंको सुनाने लगे कि 'यह चोर है, इसलिये इसे यह दण्ड दिया गया है ।' कुछ दूर जानेपर

हनुमान्‌जीने अपने शरीरको संकुचित कर तुरंत ही समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर पर्वताकार रूप धारण कर लिया और समस्त लङ्का जला डाली ।

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः ।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम् ॥
हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः ।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः ॥
(५।४।४२-४३)

'एक घरसे दूसरे घरपर छलाँग मारते हुए श्रीहनुमान्‌जीने अपनी जलती हुई बड़ी पूँछसे अटारी, महल और तोरणोंके सहित समस्त लङ्काको जला दिया । उस समय 'हा तात !' 'हा पुत्र !' 'हा नाथ !'—इस प्रकार चिल्लाती हुई दैत्योंकी स्त्रियाँ चारों ओर फैल गयीं और महलोंके शिखरोंपर भी चढ़ गयीं ।'

रामचरितमानसमें लिखा है—

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं । भईं सभीत निसाचर नारीं ॥
× × × ×
जारा नगरु निमिष एक माहीं । एक बिभीषन कर गृह नाहीं ॥
× × × ×
उलटि पलटि लंका सब जारी । कूदि परा पुनि सिंधु मझारी ॥
पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि ।
जनकसुता कें आगें ठाढ़ भयउ कर जोरि ॥

इस प्रकार श्रीजानकीजीके पास पहुँचकर श्रीहनुमान्‌जीने उन्हें प्रणाम किया और लौटकर श्रीरामके पास जानेके लिये आज्ञा माँगी ।

तब माता सीताने कहा कि 'हनुमान् ! तुम्हें देखकर मैं अपने दुःखको कुछ भूल गयी थी; अब तुम भी जा रहे हो तो बताओ, अब मैं भगवान् श्रीरामकी कथा सुने बिना कैसे रह सकूँगी ?' अध्यात्म-रामायणमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः ।
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि ॥
(५।५।६)

'देवि जानकी ! यदि ऐसी बात है और आप स्वीकार करें तो मेरे कंधेपर चढ़ जाइये; मैं एक क्षणमें ही आपको श्रीरामसे मिला दूँगा ।'

वाल्मीकीय रामायणमें और भी विस्तृत वर्णन है । वहाँ हनुमान्‌जीके इस प्रस्तावपर श्रीजनकनन्दिनी कहती हैं—'हनुमान् ! मैं स्वेच्छासे किसी पुरुषको कैसे स्पर्श कर सकती हूँ । श्रीरामजी वानरोंके साथ यहाँ आकर रावणको युद्धमें मारकर मुझे ले जायँ इसीमें उनकी शोभा है । इसलिये तुम जाओ, मैं किसी तरह कुछ दिन प्राण धारण करूँगी ।'

इसके बाद रामचरितमानसमें हनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा । जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा ॥

तब सीताने अपनी चूडामणि हनुमान्‌को दी, उसे पाकर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए । उसके बाद सीताने वह सब प्रसङ्ग भी हनुमान्‌जीको सुनाया, जिस प्रकार जयन्तने कौवेका रूप धारण करके चोंच मारी थी और भगवान् श्रीरामने उसपर क्रोध किया था ।

इस प्रकार श्रीहनुमान्जी सीताका सन्देश लेकर, उनको प्रणाम करके वहाँसे लौटे। उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंकी बड़ी उतावली हो रही थी। इसलिये वे बड़े वेगसे पहाड़पर चढ़ रहे थे। उस समय उनके पैरोंकी धमकसे पर्वतकी शिलाएँ चूर-चूर होती जा रही थीं। सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़कर श्रीहनुमान्जीने अपना शरीर बढ़ाया और समुद्रसे पार होकर उत्तरी किनारेपर जानेका विचार किया। पर्वतसे उछलकर वे वायुकी भाँति आकाशमें जा पहुँचे। वह पर्वत हनुमान्जीके पैरोंसे दबाये जानेके कारण बड़ी आवाज करता हुआ अपने ऊपर रहनेवाले वृक्षों और प्राणियोंके सहित जमीनमें धँस गया।

श्रीहनुमान्जी आकाशमार्गसे आगे बढ़ते हुए उत्तर-तटके पास पहुँचकर बड़े जोरसे गर्जे, जिससे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं। उसे सुनकर हनुमान्जीसे मिलनेके लिये समस्त वानर उत्साहित हो उठे। जाम्बवान्के हृदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई, वे सबसे कहने लगे—'हनुमान्जी सब प्रकारसे अपना कार्य सिद्ध करके आ रहे हैं। अन्यथा इनकी ऐसी गर्जना नहीं हो सकती।'

इतनेमें ही अत्यन्त वेगशाली पर्वताकार श्रीहनुमान्जी महेन्द्र-पर्वतके शिखरपर कूद पड़े। उस समय सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और महात्मा हनुमान्जीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। हनुमान्जीने जाम्बवान् आदि बड़ोंको प्रणाम किया तथा अन्य वानरोंसे प्रेमपूर्वक मिले। संक्षेपमें ही सीताजीसे मिलने और लङ्का जला डालनेका सारा प्रसङ्ग उन लोगोंसे कह सुनाया। वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसङ्गका भी बड़े विस्तारसे वर्णन हुआ है।

समस्त वानरोंके सहित श्रीहनुमान्‌जी वहाँसे चलकर किष्किन्धा पहुँचे। वहाँ सुग्रीवके मधुवनमें आनन्दपूर्वक सब वानरोंने अङ्गदकी आज्ञा लेकर मधुपान किया। रक्षकोंने आकर वानरराज सुग्रीवके पास इसकी शिकायत की, उस समय लक्ष्मणके पूछनेपर सुग्रीवने कहा—'भाई लक्ष्मण! इन सब बातोंसे मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि हनुमान्‌ने ही भगवती सीताका दर्शन किया है। वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌में कार्य सिद्ध करनेकी शक्ति, बुद्धि, उद्योग, पराक्रम और शास्त्रीय ज्ञान—सभी कुछ हैं।' इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत-सी ऐसी बातें कहीं, जिनसे श्रीहनुमान्‌जीका प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है।

फिर सुग्रीवने तुरंत ही सब वानरोंके साथ हनुमान्‌जीको अपने पास बुला लिया और वे उनका कुशल-समाचार जानकर बड़े प्रसन्न हुए। सब मिलकर श्रीरामजीके पास आये। उस समय श्रीरामचरितमानसमें हनुमान्‌जीके महत्त्वका वर्णन करते हुए जाम्बवान्‌ने कहा है—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥

इसके बाद श्रीहनुमान्‌जीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और श्रीरामने हनुमान्‌को हृदयसे लगाया। तब हनुमान्‌जीने कहा—'देवी सीता पातिव्रत्यके कठोर नियमोंका पालन करती हुई शरीरसे कुशल हैं, मैं उनके दर्शन कर आया हूँ।' हनुमान्‌जीके ये अमृतके समान वचन सुनकर श्रीराम और लक्ष्मणको बड़ा हर्ष हुआ। भगवान्‌के मनका भाव जानकर हनुमान्‌जीने उन्हें जिस प्रकार

श्रीजानकीजीके दर्शन हुए थे, वह समस्त प्रसङ्ग सुनाकर उनकी दी हुई चूडामणि भगवान्को अर्पण कर दी। उस मणिको लेकर भगवान् श्रीरामने हृदयसे लगा लिया और उसे देख-देखकर विरहमें व्याकुल होने लगे।

रामचरितमानसमें सीताका सन्देश देते हुए हनुमान्जीने श्रीसीताजीके प्रेमकी बात इस प्रकार कही है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

अन्तमें यहाँतक कह दिया—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥

अध्यात्मरामायणमें इसका वर्णन इस प्रकार है। सीताके समाचार सुनाते हुए हनुमान्जी कहते हैं—

अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः॥
इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम्।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा॥
तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किञ्चिद् दुरुक्तं भाषितं पुरा॥
तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः॥

× × ×

ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः।
तदागमनवेलायामशोकवनिकां प्रियाम्॥

उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून् हत्वा क्षणादहम् ।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनाभिभाष्य च ॥
लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यगमं क्षणात् ।
(५।५।५२—५९)

'आते समय मैंने सीतासे कहा कि 'देवि ! मुझे कोई ऐसी निशानी दीजिये, जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास कर लें ।' मेरे इस प्रकार कहनेपर उन्होंने अपने केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूडामणि मुझे दी । पहले चित्रकूटपर काकके साथ जो घटना हुई थी, वह सब सुनायी तथा नेत्रोंमें जल भरकर कहा कि श्रीरघुनाथजीसे मेरी कुशल कहना और लक्ष्मणसे कहना—'कुलनन्दन ! मैंने पहले तुमसे जो कुछ कठोर वचन कहे थे, उन अज्ञानवश कहे हुए वचनोंके लिये मुझे क्षमा करना तथा जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी कृपा करके मेरा उद्धार करें, वैसी चेष्टा करना ।' उनका यह सँदेसा लेकर उनका भेजा हुआ मैं आपके पास चला आया । आते समय मैंने रावणकी प्यारी अशोकवाटिका उजाड़ दी तथा एक क्षणमें ही बहुत-से राक्षस मार डाले । रावणके पुत्र अक्षयकुमारको भी मारा और रावणसे वार्तालाप कर लङ्काको सब ओरसे जलाकर फिर तुरंत ही यहाँ चला आया ।'

श्रीहनुमान्‌जीसे सीताके सब समाचार सुनकर श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—

हनुमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम् ।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥

इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम्॥
सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः।
(५।५।६०—६२)

'वायुनन्दन हनुमान् ! तुमने जो कार्य किया है, वह देवताओं-से भी होना कठिन है । मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ, यह नहीं जानता । मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व देता हूँ ।' यह कहकर रघुश्रेष्ठ श्रीरामने वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को खींचकर गाढ आलिङ्गन किया । उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये और वे प्रेममें मग्न हो गये ।'

श्रीहनुमान्‌जीके बल, पराक्रम, कार्यकौशल, साहस और पवित्र प्रेमका इस प्रकरणमें सभी रामायणोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है । वाल्मीकीय रामायणके युद्धकाण्डमें भी श्रीहनुमान्‌जीके प्रभावका बड़ा सुन्दर वर्णन है; यहाँ उसका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है ।

एक दिन भयानक युद्धमें रावणके प्रधान-प्रधान सेनापति मारे गये, राक्षसलोग हताश हो गये । पुत्र और भाइयोंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बड़ी चिन्ता हुई । यह देखकर मेघनादको बड़ा क्रोध आया, वह पिताके सामने अपने बल-पौरुषका वर्णन करके उसे धैर्य देकर भयानक युद्ध करनेके लिये युद्धक्षेत्रमें आया । वहाँ पहुँचकर उसने बड़ा ही घमासान युद्ध किया तथा बहुत-से वानरोंको प्राणहीन कर दिया । उसके ब्रह्मास्त्रके प्रभावसे श्रीराम और लक्ष्मण भी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । बचे

हुए प्रधान-प्रधान रीछ और वानर चिन्तामग्न हो गये। तब विभीषण-ने सबको धैर्य दिया और वे हनुमान्‌को साथ लेकर जहाँ जाम्बवान् पड़ा था, वहाँ गये। वहाँ जाकर विभीषणने जाम्बवान्‌का हाल पूछा, तब जाम्बवान् अपनी पीड़ाका वर्णन करते हुए कहने लगे कि 'मैं तुम्हें केवल आवाजसे ही पहचान सका हूँ, देखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। तुम सबसे पहले मुझे यह बताओ कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के प्राण बचे हैं या नहीं।' इसपर विभीषणने कहा—'ऋक्षराज ! आपने श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर पहले केवल हनुमान्‌जीकी कुशल कैसे पूछी? राजा सुग्रीव, अङ्गद तथा श्रीराम और लक्ष्मणपर भी आपने उतना स्नेह प्रकट नहीं किया जितना गाढ़ प्रेम आपका पवनकुमारके प्रति लक्षित हो रहा है। इसका क्या कारण है?'

तब जाम्बवान् बोले—

शृणु नैर्ऋतशार्दूल यस्मात्पृच्छामि मारुतिम् ॥
अस्मिञ्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम् ।
हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम् ॥

(युद्ध० ७४। २१-२२)

'राक्षसराज ! सुनो, मैं हनुमान्‌के लिये इसलिये पूछ रहा हूँ कि यदि इस समय वीरवर हनुमान् जीवित हों तो यह मरी हुई सेना भी जी सकती है और यदि उनके प्राण निकल गये हों तो हम जीते हुए भी मृतकतुल्य ही हैं।'

इसके बाद श्रीहनुमान्‌जीने उनको प्रणाम किया। हनुमान्‌की आवाज सुनकर जाम्बवान्‌में नया जीवन आ गया। उन्होंने

हनुमान्को संजीवनी ओषधिके लक्षण बताकर हिमालयपर भेजा। उनके आज्ञानुसार हनुमान्जीने वहाँ जाकर ओषधिकी खोज की, पर ओषधि लुप्त हो जानेके कारण मिली नहीं। तब आप उस पर्वतको ही उखाड़कर ले आये और समस्त वानर-सेनाको पुनः प्राण-दान दिया तथा श्रीराम और लक्ष्मण भी स्वस्थ हो गये। इत्यादि।

जब रावणद्वारा छोड़ी हुई अमोघ शक्ति श्रीलक्ष्मणजीने विभीषण-जीकी रक्षाके लिये अपने ऊपर ले ली और मानुषी लीला करनेके लिये आप मूर्च्छित हो गये, तब रावण श्रीलक्ष्मणके पास जाकर उन्हें उठाने लगा; परन्तु समस्त जगत्के आधारभूत श्रीलक्ष्मणको वह कैसे उठा सकता था।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि ॥
(६।६।१२-१३)

'उस समय हनुमान्जीने देखा कि रावण लक्ष्मणजीको उठाकर ले जाना चाहता है तो वे कुपित हो गये और अपनी वज्रतुल्य मुट्ठीसे उसकी छातीपर प्रहार किया। उस मुष्टिप्रहारसे रावण घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा।' इधर हनुमान्जी लक्ष्मणको उठाकर भगवान् श्रीरामके पास ले गये।

इस समय भी श्रीहनुमान्जी द्रोण-पर्वतपर ओषधि लानेके लिये गये और उसी तरह पर्वतको उखाड़ लाये थे। इस प्रसङ्गका वर्णन करते हुए सभी रामायणोंमें श्रीहनुमान्जीका अद्भुत बल, पौरुष, बुद्धिकौशल और प्रभाव दिखाया गया है।

रामचरितमानसमें मेघनादकी शक्तिसे श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेकी बात आती है। वहाँ हनुमान्‌जी ही जाम्बवान्‌के कहनेसे पहले घरसहित सुषेणको उठाकर लाये हैं, फिर सुषेणके कहनेसे संजीवनी लाने गये हैं और पर्वतको उखाड़ लाये हैं। श्रीहनुमान्‌जी-का सेवाभाव बड़ा ही विचित्र था। इनकी सेवाके कारण भगवान् श्रीरामने अपनेको ऋणी माना। माता सीताने भी वही बात कही। लक्ष्मण और समस्त वानरोंके प्राण बचे। इसी प्रकार विरह-व्याकुल भरतको श्रीरामचन्द्रजीके आनेकी सूचना देकर उनके प्राण बचानेका काम भी श्रीहनुमान्‌जीने ही किया।

रामचरितमानसका वर्णन है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

वहाँ श्रीहनुमान्‌जी भरतकी प्रेम-दशा देखकर कहते हैं—

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुख दाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीरामके आनेका कुशल-समाचार सुनते ही श्री-भरतजीमें नये जीवनका सञ्चार हो आया। उनके पूछनेपर अपना परिचय देते हुए हनुमान्‌जी कहते हैं—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना। नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। × × ×

कितना विनयभाव है! यह बात सुनते ही भरतजी उठकर बड़े हर्ष और आदरके साथ उनसे मिले। अपने आनन्दका वर्णन करते हुए अन्तमें यहाँतक कह दिया—

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीने सबकी सेवा की, जिसके कारण सभीने अपनेको उनका ऋणी माना। भगवान् श्रीरामके राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हो जानेके बाद भी आप सदा उनकी सेवामें ही रहे। अन्य सब वानर और राक्षस अपने-अपने घर लौट गये, पर श्रीहनुमान्‌जी नहीं गये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जब अश्वमेध यज्ञ किया था, उस समय श्रीहनुमान्‌जी भी घोड़ेकी रक्षाके लिये शत्रुघ्नके साथ गये थे।

पद्मपुराणके पातालखण्डमें रामाश्वमेधयज्ञकी कथाका विस्तृत वर्णन है। वहाँ भी श्रीहनुमान्‌जीके महत्त्वका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। जब श्रीरामाश्वमेधका घोड़ा अनेक देशोंमें भ्रमण करता हुआ राजा सुबाहुकी राजधानी चक्राङ्का नगरीके पास पहुँचा, तब राजाके पुत्र दमनने उस घोड़ेको पकड़ लिया। उस राजाके और भी कई पुत्र और भाई बड़े शूरवीर थे तथा वह स्वयं भी बड़ा ही वीर योद्धा था। वहाँ दोनों ओरसे बड़ा भयानक युद्ध हुआ। अन्त-में राजा सुबाहुके साथ श्रीहनुमान्‌जीका भयानक युद्ध हुआ। उसमें कपिवर हनुमान्‌जीने बार-बार राजाको व्यथित किया, उसके रथको घोड़ोंसहित चूर्ण कर डाला और बड़े जोरसे राजाकी छातीमें एक लात मारी। उसके लगते ही राजा सुबाहु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। श्रीहनुमान्‌जीके पदाघातसे उसका मोह नष्ट हो गया। उसके मनमें श्रीरामकी भक्ति प्रकट हो गयी। वह स्वप्नमें देखता है—

रामचन्द्रस्त्वयोध्यायां सरयूतीरमण्डपे।
ब्राह्मणैर्याज्ञिकश्रेष्ठैर्बहुभिः परिवारितः॥

तत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ।
कृतप्राञ्जलयस्तं वै स्तुवन्ति स्तुतिभिर्मुहुः ॥
(२८ । ४९-५०)

'अयोध्यापुरीमें सरयू नदीके तीरपर श्रीरामचन्द्रजी यज्ञमण्डपके भीतर विराजमान हैं। यज्ञ करानेवालोंमें श्रेष्ठ अनेकों ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे हुए हैं। करोड़ों ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मादि देवता हाथ जोड़े खड़े हैं और बारंबार श्रीरामकी स्तुति कर रहे हैं'—इत्यादि।

इस प्रकारका अद्भुत स्वप्न देखते ही राजाको श्रीराम-तत्त्वका ज्ञान हो गया। वह तुरंत ही मूर्च्छासे उठा और शत्रुघ्नके चरणोंकी ओर पैदल ही चल पड़ा। युद्ध बंद करनेकी घोषणा करते हुए उसने अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसे कहा—

एष रामः परं ब्रह्म कार्यकारणतः परम् ।
चराचरजगत्स्वामी न मानुषवपुर्धरः ॥
एतद्धि ब्रह्मविज्ञानमधुना ज्ञातवानहम् ।
(२८ । ५९-६०)

'ये श्रीरामचन्द्रजी कार्य और कारणसे परे साक्षात् परब्रह्म हैं। ये चराचर जगत्के स्वामी हैं। मानव-शरीर धारण करनेपर भी ये वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। इनको इस रूपमें जान लेना ही ब्रह्मज्ञान है। इस तत्त्वको मैं अब समझ पाया हूँ।' इतना कहकर उसने अपने पुत्रोंसे असिताङ्ग मुनिके द्वारा अपनेको शाप प्राप्त होनेकी सब कथा कह सुनायी और घोड़ेको लेकर अपने बन्धु-

बान्धवोंके सहित शत्रुघ्नजीकी शरणमें जा पड़ा। वहाँ उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें कहा है—

क्वासौ हनूमान् रामस्य चरणाम्भोजषट्पदः।
यत्प्रसादादहं प्राप्स्ये राजराजस्य दर्शनम्॥
साधूनां सङ्गमे किं किं प्राप्यते न महीतले।
यत्प्रसादादहं मूढो ब्रह्मशापमतीतरम्॥
(२९।३२-३३)

'श्रीरामके चरण-कमलोंके मधुकर वे हनुमान् कहाँ हैं, उन्हीं-की कृपासे मैं राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँगा। साधुसङ्ग मिल जानेपर इस पृथ्वीपर मनुष्यको क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था, किन्तु सत्सङ्गके प्रभावसे आज घोर ब्रह्मशापसे मेरा उद्धार हो गया।'

उसके बाद अनेक देशोंको विजय करते-करते जब यज्ञका घोड़ा राजा सत्यवान्‌के नगरसे आगे जा रहा था, उस समय विद्युन्माली नामके राक्षसने रास्तेमें उस घोड़ेको चुरा लिया और अपने सैनिक राक्षसोंके सहित विमानमें बैठकर आकाशमें जाकर प्रकट हुआ। वहाँ उस राक्षसके साथ शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। उस समय श्रीहनुमान्‌जीने उस राक्षसके साथ युद्धमें अपना पराक्रम दिखलानेकी जो प्रतिज्ञा की है, उससे इस बातका पता लगता है कि श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामपर कितना भरोसा रखते थे। वे भगवान् श्रीरामकी कृपाके भरोसेपर अपनी अद्भुत शक्ति मानते थे। उन्होंने पहले जैसी प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार युद्धमें भी अपना अद्भुत पराक्रम दिखाया। वे आकाशमें

जाकर विमानपर शत्रुपक्षके महान् दैत्योंको नखोंसे विदीर्ण करके मौतके घाट उतारने लगे। किन्हींको पूँछसे मार डाला, किन्हींको पैरोंसे कुचल डाला और किन्हींको हाथोंसे चीर डाला। जब क्रोधमें भरकर राक्षसराज विद्युन्मालीने अत्यन्त तेजस्वी भयानक त्रिशूलका प्रहार किया, तब उसे हनुमान्-जीने अपने मुँहमें पकड़ लिया और दाँतोंसे चबाकर चूर-चूर कर डाला तथा उस दैत्यराजको थप्पड़ोंकी मारसे व्याकुल कर दिया। इसके बाद श्रीशत्रुघ्नजीने विद्युन्माली और वज्रदंष्ट्रको मार गिराया। बचे-खुचे राक्षस उनकी शरणमें आ गये।

वहाँसे जाकर वे आरण्यक मुनिसे मिले। इसके बाद वह घोड़ा देवपुरके पास पहुँचा, वहाँ राजा वीरमणि और उसके पुत्रोंसे शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। राजा वीरमणि भगवान् शङ्करका परम भक्त था। अतः वहाँ उसकी सहायताके लिये स्वयं भगवान् शङ्कर भी अपने गणोंके सहित रणक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये पधारे थे। उस भयानक युद्धमें जब राजकुमार पुष्कल मारे गये और शत्रुघ्न भी मूर्च्छित हो गये, उस समय श्रीहनुमान्‌जीने अद्भुत पराक्रम दिखाया। साक्षात् भगवान् शङ्करके साथ उन्होंने घोर युद्ध किया तथा सारथि और घोड़ोंके सहित शिवजीके रथको चूर-चूर कर डाला। जब भगवान् शिवजी नन्दीपर सवार होकर युद्ध करने लगे, तब श्रीहनुमान्‌जीने शालवृक्षका प्रहार करके शिवजीको व्याकुल कर दिया। अब भगवान् शङ्करने उनपर अपना त्रिशूल चलाया। हनुमान्‌जीने उसे पकड़ लिया और क्षणभरमें तोड़कर तिल-तिल कर डाला। नाना प्रकारके प्रहारोंसे शिवजीको व्यथित

करके अन्तमें भूतनाथ भगवान् शिवको अपनी पूँछमें लपेट लिया। यह देखकर नन्दी भयभीत हो गये। इस प्रकार जब हनुमान्‌जीने शिवजीको अत्यन्त व्याकुल कर दिया, तब हनुमान्‌जीके युद्धसे प्रसन्न होकर शङ्कर कहने लगे—'श्रीरघुनाथजीके सेवक हनुमान्! तुम धन्य हो। आज तुमने महान् पराक्रम कर दिखाया। इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ। अतः तुम मुझसे वर माँगो।'

इसपर हनुमान्‌जीने हँसकर निर्भय वाणीसे कहा—'महेश्वर! रघुनाथजीकी कृपासे मुझे सब कुछ प्राप्त है; तथापि आपकी प्रसन्नताके लिये मैं यही वर माँगता हूँ कि जबतक मैं द्रोण-पर्वतपर जाकर औषध ले आऊँ, तबतक आप अपने गणोंसहित हमारे पक्ष-के मरे हुए वीरोंके शरीरोंकी रक्षा करते रहें। उन्हें कोई खण्ड-खण्ड न करने पाये।' शिवजीने उनकी माँग स्वीकार कर ली। उसके बाद हनुमान्‌जी जिस प्रकार लङ्कापुरीमें संजीवनी बूटी लाये थे, उसी प्रकार तुरंत ही संजीवनी बूटी ले आये। पहले राजकुमार पुष्कलको जिलाया, उसके बाद शत्रुघ्नकी मूर्च्छा दूर की और समस्त वीरोंको जीवन-दान दिया। इस प्रकार उस भयानक युद्धमें श्री-हनुमान्‌जीके ही पराक्रमसे सबके प्राण बचे। अन्तमें वहाँ भगवान् श्रीराम स्वयं पधारे। भगवान् शिवजीने राजा वीरमणिको समझाकर श्रीरामका भक्त बना दिया।

इसके बाद वह घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमता हुआ राजा सुरथसे रक्षित कुण्डलनगरके पास पहुँचा। राजा सुरथ भगवान् रामका परम भक्त था। उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनार्थ उनके घोड़ेको पकड़ लिया। वहाँपर राजा सुरथके साथ शत्रुघ्नका

बड़ा ही भयङ्कर युद्ध हुआ। उस युद्धमें जब राजा सुरथका पुत्र चम्पक राजकुमार पुष्कलको बाँधकर अपने नगरमें ले जाने लगा, उस समय शत्रुघ्नकी प्रेरणासे श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये। जाते ही उन्होंने रथसे चम्पकको उठा लिया और वे उसे लेकर आकाशमें चले गये। वह आकाशमें ही हनुमान्‌जीसे बाहुयुद्ध करने लगा। राजकुमार चम्पकका अद्भुत पराक्रम देखकर हँसते-हँसते हनुमान्‌जी-ने उसका पैर पकड़ लिया और उसे सौ बार घुमाकर हाथीके हौदेपर दे मारा। राजकुमार गिरते ही मूर्च्छित हो गया।

अपने पुत्रको मूर्च्छित हुआ देख राजा सुरथ स्वयं हनुमान्‌जी-से युद्ध करनेके लिये आये। उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके बल और पराक्रमकी तथा रामभक्तिकी सच्चे हृदयसे प्रशंसा की और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी की कि 'मैं तुम्हें बाँधकर अपने नगरमें ले जाऊँगा।' उसकी बातका उत्तर देते हुए श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'राजन्! आप श्रीरघुनाथजीके चरणोंका चिन्तन करनेवाले हैं और मैं भी उन्हींका सेवक हूँ। यदि आप मुझे बाँध लेंगे तो मेरे स्वामी मुझे बलपूर्वक छुड़ा लेंगे। वीर! तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। जो श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता।'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद राजा सुरथके साथ हनुमान्‌जीका भयङ्कर युद्ध हुआ। हनुमान्‌जीने उस युद्धमें राजा सुरथके एक-एक करके उन्चास रथ तोड़ डाले। राजाकी समस्त सेना व्याकुल हो गयी और स्वयं राजाको भी बड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने श्रीहनुमान्‌जीके बलकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजाने पाशुपतास्त्रसे हनुमान्‌जीको बाँधनेकी चेष्टा की। एक बार लोगोंने

समझा कि हनुमान् बँध गये। परन्तु श्रीहनुमान्‌जीने अपने मनमें भगवान् श्रीरामका स्मरण करके क्षणमात्रमें उस अस्त्रके बन्धनको तोड़ डाला। राजाने ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसे भी श्रीहनुमान्‌जी निगल गये। अन्तमें राजाने भगवान् रामका स्मरण करके श्रीरामास्त्र-को अपने धनुषपर चढ़ाया और उसका प्रयोग करके हनुमान्‌जीसे कहा कि 'कपिश्रेष्ठ! अब तुम बँध गये।' हनुमान्‌जीने कहा—'राजन्! तुमने मुझे मेरे स्वामी श्रीरामके ही शस्त्रसे बाँधा है, दूसरे किसी प्राकृत शस्त्रसे नहीं। इसलिये मैं उसका आदर करता हूँ। अब तुम मुझे अपने नगरमें ले जा सकते हो।'

राजा सुरथके साथ जो हनुमान्‌जीकी बातें हुईं, उनमें अद्भुत प्रेम भरा है। श्रीहनुमान्‌जीको भला कौन बाँध सकता है। वे तो स्वयं अपनी इच्छासे ही भगवान्‌के परम भक्त सुरथकी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये और अपने स्वामीके अस्त्रका सम्मान रखनेके लिये बँध गये।

इसके बाद वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके बुलानेपर स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पधारे और उन्होंने राजा सुरथको दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। इस प्रकार पद्मपुराणके पातालखण्डमें श्रीहनुमान्‌जीके महत्त्वका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। यहाँ वह बहुत ही संक्षेपमें लिखा गया है।

परम धाम पधारते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कपिवर श्री-हनुमान्‌जीको जगत्‌का कल्याण करनेके लिये यहीं रहनेकी आज्ञा दे गये। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीराम परम धाम पधारते समय हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर ।
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ॥
(उत्तर० १०८ । ३०)

'वानरश्रेष्ठ ! संसारमें जबतक मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो ।' महात्मा रामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने कहा—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ॥
(उत्तर० १०८ । ३२)

'प्रभो ! संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा ।'

द्वापरयुगमें श्रीहनुमान्‌जीने भीमसेन और अर्जुनको भी दर्शन दिये थे । कलियुगमें भी आपके प्रकट होनेकी कई कथाएँ मिलती हैं । आपके गुण, प्रभाव और माहात्म्यका बड़ा विस्तार है । यहाँ बहुत ही संक्षेपमें उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । इस लेखसे श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित गुणोंका चिन्तन करके लाभ उठाना चाहिये । उन्हें आदर्श बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य, अटल भगवद्भक्ति, वीरता, धीरता, बल-पौरुष, विद्या, साहस और बुद्धिमानी आदि गुण धारण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

वाल्मीकीय रामायणकी महिमा

श्रीसूतजीका वचन है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥
(पद्म० सृष्टि० २ । ५१-५२)

'इतिहास एवं पुराणोंके अध्ययनसे वेदोंका ज्ञान बढ़ाना चाहिये—परिष्कृत करना चाहिये । जो कोई मनुष्य इतिहास-पुराणोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही वेदोंमें हाथ डालता है, उससे वेद डरते हैं कि कहीं यह हमपर प्रहार न कर बैठे—अर्थका अनर्थ न कर डाले ।'

प्रथम तो वेदोंके अध्ययनका अधिकार ही सबको नहीं है । फिर वेदोंकी भाषा अत्यन्त प्राचीन तथा अर्थ अत्यन्त गम्भीर एवं दुरूह होनेके कारण उसे सब लोग सुगमतासे समझ नहीं सकते । युग-धर्मके अनुसार वेदोंके पठन-पाठनकी परम्परा भी क्रमशः उठती चली जा रही है । ब्राह्मणोंमें भी वैदिक विद्वान् खोजनेपर भी कठिनतासे मिलते हैं । कारण यही है कि वेदोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करनेके लिये प्रचुर समय एवं प्रखर बुद्धिकी आवश्यकता है और वर्तमान युगमें दोनोंकी ही न्यूनता दृष्टिगोचर हो रही है । मनुष्यकी आयु और बुद्धि दोनोंका ही क्रमशः ह्रास होता चला जा रहा है । वेदोंके अध्ययनके लिये ब्रह्मचर्यकी भी परमावश्यकता है और ब्रह्मचर्याश्रमका तो प्रायः लोप ही होता जा रहा है । इन्हीं सब

बातोंका विचार करते हुए हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियोंने वैदिक ज्ञानको सरल एवं सुबोध भाषामें एवं रोचक ढंगसे जन-साधारणके सामने रख देनेके उद्देश्यसे ही इतिहास एवं पुराणोंको प्रकट किया। इतिहास-ग्रन्थोंमें रामायण और महाभारत—ये दो ही ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। दोनों ही ग्रन्थ भारतीय वाङ्मयके मुकुट-मणि एवं आर्यसभ्यताके गौरवरूप हैं। दोनोंमें ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, नीति एवं धर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी हुई है। एकमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिव्य लीलाओंका वर्णन है तो दूसरेमें मालामें सूतकी भाँति लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा ओतप्रोत है। दोनोंमें ही भारतीय संस्कृतिका जीता-जागता रूप दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत-साहित्यमें दृश्य एवं श्रव्य काव्यके जितने भी ग्रन्थ बने, उन सबकी रचना प्रायः इन्हीं दोनों ग्रन्थोंके आधारपर हुई है।

आर्य-जातिके ऋषिप्रणीत सच्चे इतिहास होनेके साथ-साथ दोनों ही ग्रन्थोंका कविताकी दृष्टिसे भी बहुत ऊँचा स्थान है। फिर भी महाभारतकी 'इतिहास' संज्ञा ही है, उसकी काव्योंमें गणना नहीं है। इतिहासके साथ-साथ 'आदिकाव्य' कहलानेका गौरव तो वाल्मीकीय रामायणको ही प्राप्त है। काव्यकी विशेषता यही है कि उसके द्वारा हमें 'कान्ता-सम्मित' उपदेश मिलता है। जहाँ वेद 'सत्यं वद', 'धर्मं चर', 'आचारान्मा प्रमदः', 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' आदि विधि-वाक्योंके द्वारा गुरुकी भाँति उपदेश करते हैं, और इतिहास-पुराण हमें 'रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत्' इस रूपमें मित्रकी भाँति हितपूर्ण सलाह देते हैं, वहाँ काव्य हमें कान्ताकी भाँति रोचक एवं मधुर शब्दोंमें

प्यारभरी मृदु मन्त्रणा देते हैं। 'मातृदेवो भव,' 'पितृदेवो भव' इत्यादि वेदवाक्योंका हमपर उतना असर नहीं होता, जितना भगवान् श्रीरामकी मातृभक्ति एवं पितृभक्तिके काव्यमय वर्णनका। इस प्रकारके 'कान्ता-सम्मित' उपदेश देनेवाले काव्योंमें वाल्मीकीय रामायणका स्थान सर्वोपरि है। रचना-कौशल एवं काव्य-वस्तु दोनोंकी दृष्टिसे ही रामायण जगत्के समस्त काव्योंका शीर्षस्थानीय है।

मनुष्यको कैसी स्थितिमें किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये; किस प्रकार अपने कुटुम्बके एवं संसारके दूसरे व्यक्तियोंको सुख पहुँचानेके लिये अपने सब प्रकारके सुखोंका त्याग करके स्वयं हर तरहका कष्ट सहन करनेको तैयार रहना चाहिये; किस प्रकार सत्य, न्याय, सदाचार और प्रतिज्ञापालनपर दृढ़ रहकर जीवनको आदर्श बनाना चाहिये—इत्यादि सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक शिक्षाओंका तो वाल्मीकीय रामायण भण्डार ही है। इसमें पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पवित्र मनुष्य-लीलाका सर्वाङ्ग-सुन्दर चित्रण किया गया है। साथ ही जगज्जननी जानकीका आदर्श पातिव्रत्य, भरतका अनुपम भ्रातृप्रेम और त्याग, राजा दशरथका अपूर्व वात्सल्य-प्रेम, कौसल्याका महान् सौजन्य, श्रवणकी अनुकरणीय पितृभक्ति, हनुमान्जीकी अतुलनीय स्वामिभक्ति; विभीषणकी असाधारण न्यायप्रियता, अयोध्याकी प्रजाका श्रीरामके प्रति स्वाभाविक स्नेह तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सबके साथ श्रद्धा, दया एवं प्रेमपूर्ण यथायोग्य बर्ताव—इत्यादि सभी विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। इसके श्लोक बड़े ही मधुर, काव्योचित गुणों एवं अलङ्कारोंसे विभूषित, ताल-स्वरके साथ गाये जानेयोग्य एवं गम्भीर अर्थसे युक्त

हैं। इसमें सभी रसोंका बड़े ही सुन्दर ढंगसे समावेश किया गया है। करुण-रस तो इस ग्रन्थका प्राण ही है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त उपादेय है।

वाल्मीकीय रामायण उच्च कोटिका महाकाव्य होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अवतार-लीलाका सच्चा इतिहास है—इस बातको हमें नहीं भूलना चाहिये। साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्माजीने ग्रन्थकर्त्ताको ग्रन्थ-रचनाके पूर्व यह वरदान दिया था कि 'राम-चरित्रसम्बन्धी सारी बातें तुम्हें अपने-आप विदित हो जायँगी।' इसी वरदानके अनुसार सारी बातोंको भलीभाँति जानकर महर्षिने उन्हें अपने चरित-नायकके अवतारकालमें ही श्लोकबद्ध करके उन्हींके पुत्र कुश और लवको कण्ठस्थ करा दिया तथा उन्हींके द्वारा आगे होनेवाली घटनाओंसहित पूरा-का-पूरा चरित्र स्वयं चरित-नायकको भरी सभामें सुनवा दिया। इससे बढ़कर इस ग्रन्थकी ऐतिहासिकताका प्रमाण और क्या हो सकता है। ऐसी दशामें इसमें असत्य, प्रमाद अथवा अतिशयोक्तिकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसे सर्वमान्य एवं सर्वोपयोगी ग्रन्थका जनतामें जितना भी प्रचार होगा, उतना ही जगत्का कल्याण होगा।

मेरी रायमें इस ग्रन्थको पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है, चाहे वह किसी भी समुदाय अथवा जातिका क्यों न हो। प्रत्येक मनुष्य इसका अध्ययन करके इसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपने मनुष्य-जीवनको आदर्श एवं सफल बना सकता है।

भारतीय संस्कृतिमें नारी-धर्म

भारतीय संस्कृति अपना एक खास निरालापन लिये हुए है। उसका निर्माण अध्यात्मकी सुदृढ़ भित्तिपर उन त्रिकालदर्शी ऋषियों-द्वारा हुआ है जो दिव्यदृष्टिसम्पन्न, राग-द्वेषशून्य एवं समदर्शी थे। उनकी दृष्टि इहलोकतक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने अपनी तपःपूत बुद्धिसे समाधिजन्य दिव्य ईश्वरीय ज्ञानके आधारपर जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे सर्वथा निर्दोष, भ्रान्तिशून्य, त्रिकालसत्य एवं मानवबुद्धिसे परे हैं। उन्हें हम अपनी मलिन, मोहग्रस्त, संकीर्ण एवं व्यवसायशून्य बुद्धिके काँटेपर तौलने जाकर धोखा खानेके सिवा और कोई लाभ नहीं उठा सकते। जबसे हम भारतीयोंने शास्त्रका आधार छोड़कर मनमाना आचरण शुरू कर दिया, तभीसे हमारे दुःखके दिन प्रारम्भ हो गये। और यदि हमारी चाल ऐसी ही रही तो पता नहीं अभी हम अवनतिके किस गर्तमें जाकर गिरेंगे। वर्तमान युग विचार-स्वातन्त्र्यका युग है। आजका मनुष्य अपनी बुद्धिपर किसी भी प्रकारका अनुशासन या नियन्त्रण स्वीकार नहीं करता। आज हमें मोहग्रस्त मनुष्योंकी चारों ओर यही आवाज सुनायी देती है—शास्त्रको न मानो, धर्मका अनुशासन मानना गुलामी है, ईश्वरमें विश्वास बुद्धि-पारतन्त्र्यका द्योतक है। भारतवर्षमें भी पश्चिमसे एक ऐसी लहर आयी है, जिसने हमारी बुद्धिको

विचलित कर दिया है, हमारे विश्वासको हिला दिया है। आज हम भी पागलोंकी भाँति चिल्लाने लगे हैं—पोथियोंको फाड़ दो, मनुस्मृतिको जला दो, धर्म ही विघटनमें हेतु है, वर्णव्यवस्था एकतामें बाधक है, इत्यादि-इत्यादि। आजकी भारतीय नारी भी, जो शील, विनय, लज्जा एवं सौम्यताकी मूर्ति थी, पाश्चात्त्य ललनाओंकी देखा-देखी मूर्खताके कारण बहकने लगी है—'हम पुरुषोंकी गुलामीमें नहीं रहना चाहतीं, हमें सीता-सावित्री नहीं बनना है, सतीत्व एक कुसंस्कार है, भारतीय ऋषियोंने हमें पुरुषोंके परतन्त्र बनाकर हमारे प्रति घोर अन्याय किया है' इत्यादि। ऐसे विपरीत समयमें, जब कि धर्मको लोग ढकोसला मानने लगे हैं, धर्मके विषयमें—विशेषकर नारी-धर्मके विषयमें—कुछ लिखनेका प्रयास करना दुःसाहस ही समझा जायगा। फिर भी साँचको कोई आँच नहीं है, सत्य तो सत्य ही है—चाहे कोई उसे माने या न माने—इसी भरोसेपर कर्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार शास्त्रोंके आधारपर नारी-धर्मके विषयमें कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है।

'धृञ् धारणे' धातुसे 'मन्' प्रत्यय लगकर 'धर्म' शब्द बना है। अतः धर्मका अर्थ है—धारण करनेवाला, अथवा जिसके द्वारा यह सब कुछ धारण किया हुआ है। यह तो सभीको मानना पड़ेगा कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड किसी नियम अथवा कानूनके द्वारा परिचालित है। पृथ्वी-आकाश, ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र, जल-वायु, जड-चेतन, जीवन-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय, वृद्धि-क्षय, उन्नति-अवनति, आरोहण-अवरोहण—सब कुछ एक नियमके अधीन है। जगत्की

कोई भी क्रिया नियमके प्रतिकूल नहीं होती। इसी नियमका नाम 'धर्म' है। इस नियमको बुद्धिपूर्वक यथावस्थित रूपसे चलानेवाली चेतनशक्तिका नाम 'ईश्वर' है। इसी नियमको करामलकवत् प्रत्यक्ष देखनेवाले विशिष्ट शक्तिसम्पन्न ईश्वरानुगृहीत आप्त पुरुषोंका नाम है—'ऋषि' और उन ऋषियोंके दिव्य अनुभव तथा उन अनुभवोंके आधारपर ईश्वरीय प्रेरणाके अनुकूल मानव-समाजके ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कल्याणके लिये रचे हुए सनातन नियम जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, उनका नाम है 'शास्त्र'। सनातन-धर्मके ये ही चार प्रधान आधारस्तम्भ हैं। हिंदू-संस्कृति इन्हीं चारपर अवलम्बित है और यही उसकी विशेषता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म अथवा शास्त्र न तो कोई हौआ है और न उपेक्षा अथवा अनादरकी वस्तु है। धर्मकी जो व्याख्या हमने ऊपर की है और सबसे सरल, शास्त्रसम्मत एवं सर्वमान्य व्याख्या 'धर्म'की यही है— उसके अनुसार धर्म ही विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसका एकमात्र साधन है, धर्मसे ही मानव-समाजका वास्तविक तथा स्थायी कल्याण सम्भव है, धर्मसे ही संसारमें सुख-समृद्धि एवं शान्तिका विस्तार हो सकता है,* धर्मके आधारपर ही मानव-जातिका यथार्थ संघटन एवं एकीकरण हो सकता है तथा धर्मसे ही सबके अधिकारों एवं

---

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिक दर्शन)

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(मनु० २।९)

हितोंकी रक्षा हो सकती है। जो लोग यह कहते हैं कि धर्म ही विघटनका हेतु है, तथा धर्मसे ही हिंदू-जाति अथवा भारतकी अवनति हुई है, धर्मसे ही पारस्परिक कलहकी वृद्धि हुई है, इत्यादि-इत्यादि, उन्होंने वास्तवमें धर्मका तत्त्व समझा ही नहीं।

इसी प्रकार धर्मका ज्ञान भी शास्त्रोंद्वारा ही सम्भव है। किसी भी विषयका सम्यक् ज्ञान उस विषयके पारंगत विद्वानों तथा उनके रचित ग्रन्थोंसे ही हो सकता है। यह माना कि स्थूल जगत्के कतिपय तथ्योंका आंशिक पता आधुनिक वैज्ञानिकोंने लगाया है; परंतु उनका वह ज्ञान अब भी अत्यन्त अधूरा एवं सीमित है। अब भी उसमें बहुत कुछ संशोधनकी आवश्यकता है, वैज्ञानिक स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं। फिर स्थूल जगत् ही तो सब कुछ नहीं है। इसके परे और इससे भी अधिक विस्तृत, विशुद्ध एवं सुन्दर तथा जिसकी यह स्थूल जगत् एक छाया अथवा प्रतिकृतिमात्र है—एक सूक्ष्म जगत् भी है; जिसके अनेकों स्तर हैं और जिसमें हमारी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत, शक्तिसम्पन्न एवं दीर्घजीवी प्राणी रहते हैं। हमारे ऋषियोंने उस जगत्का भी पता लगाया है और इस जगत्के साथ उस सूक्ष्म जगत्का क्या सम्बन्ध है, यहाँके प्राणी वहाँके प्राणियोंद्वारा कैसे प्रभावित होते हैं, वहाँकी शक्तियाँ किस प्रकार यहाँके घटना-चक्रोंका नियन्त्रण करती हैं, मरनेके बाद जीवात्मा कहाँ-कहाँ जाता है और क्या-क्या करता है, यहाँ किस प्रकारका आचरण करके हम मृत्युके बाद भी सुखी रह सकते हैं तथा अमर जीवन प्राप्त कर सकते हैं, एवं कौनसे आचरण हमें गिरानेवाले और दुःख देनेवाले हैं, यहाँ सुख-दुःख, ऊँची-नीची

स्थिति, ऊँचा-नीचा जन्म, स्त्री-योनि अथवा पुरुष-योनि—जो कुछ भी हमें प्राप्त होता है, हमारे पूर्व सुकृतों अथवा दुष्कृतोंका फल है तथा सूक्ष्म जगत्की शक्तियोंके सहयोगके बिना यहाँ सुख-समृद्धि एवं शान्तिकी आशा दुराशामात्र है—इन सब बातोंको हमारे ऋषियोंने भलीभाँति समझा ही नहीं, देखा भी है और जो कुछ उन्होंने देखा और अनुभव किया है तथा उसके अनुसार जो कुछ आचरण उन्होंने हमारे लिये कल्याणकर समझा है और अनुभव किया है, वही सब हमारे विविध शास्त्रोंमें—हमारे वेदों और पुराणोंमें तथा हमारी स्मृतियोंमें संगृहीत है। अतः हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ भी लिखा है, सर्वथा सत्य, निर्भ्रान्त एवं पक्षपातरहित है; उसमें स्वार्थका गन्ध भी नहीं है। सत्यका सत्यरूपमें दर्शन करनेवाले महर्षि कभी असत्यवादी नहीं हो सकते। उनके वाक्योंमें असत्य, भ्रम, पक्षपात, स्वार्थ अथवा राग-द्वेषकी कल्पना करना अपना ही अहित करना और सत्यसे वञ्चित रहना है।

नीचे नारी-धर्मपर जो कुछ लिखा जाता है, वह इन्हीं सर्वज्ञ ऋषियोंके बनाये अथवा संग्रह किये हुए ग्रन्थोंके आधारपर लिखा जाता है। वर्तमान युगके विकृत, मलिन एवं राग-द्वेषदूषित अन्तः-करणवाले पुरुषोंको ये सिद्धान्त न जँचें अथवा उन्हें ये पक्षपातपूर्ण अथवा भ्रान्त दिखायी दें तो हम उन्हें इनको माननेके लिये बाध्य नहीं करते; किन्तु यह निश्चित है कि ये सिद्धान्त सर्वथा सत्य एवं सत्यके आधारपर स्थिर किये हुए हैं और इन्हें मानकर इनके अनुसार चलनेसे सबका कल्याण हो सकता है; क्योंकि शास्त्रके सिद्धान्त सबके लिये समानरूपसे हितकर हैं। ऋषियोंने किसी एक

वर्गके प्रति पक्षपात तथा किसी दूसरे वर्गके प्रति अन्याय अथवा अत्याचार किया हो—ऐसी कल्पना सर्वथा दूषित है। सबमें एक आत्मा अथवा परमात्माको देखनेवाले ऋषियोंमें पक्षपात कैसा? हाँ, वे इस बातको जानते थे—नहीं-नहीं, जानते हैं—(क्योंकि ऋषि कहीं चले थोड़े ही गये हैं, वे अब भी दिव्य लोकोंमें दिव्य शरीरसे विद्यमान हैं और अब भी अपत्यवत्सला माताकी भाँति हमें अपनी करुणापूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हमारा हित-चिन्तन, हमारा कल्याण-साधन करते रहते हैं; यह दूसरी बात है कि हम अज्ञानवश उनके आदेशोंकी अवहेलना करके, उनके बताये हुए शोभन मार्गका उल्लङ्घन करके, बार-बार दुःखके गर्तमें गिरते रहे और जान-बूझकर अपना अकल्याण करते रहें) हाँ, वे इस बातको जानते हैं कि आत्मरूपसे एक होते हुए भी सबके कर्म-कलाप, शरीर, मन-बुद्धि, स्वभाव एवं संस्कार आदि भिन्न-भिन्न होनेसे सबके आचरण एक-से नहीं हो सकते, सबकी योग्यता एक-सी नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने कर्मानुसार एवं योग्यतानुसार सबके अलग-अलग कर्तव्य निश्चित किये हैं, कर्तव्योंके साथ-साथ सबके अधिकार भी अलग-अलग रक्खे हैं। साथ ही इस बातका भी ध्यान रक्खा है कि सबको अपने-अपने अधिकारमें रहते हुए अपने-अपने कर्तव्यके अनुष्ठानसे ही जीव-जीवनके परम लक्ष्य—परमात्माकी शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्ति हो जाय।

यह मानी हुई बात है कि जगत्‌की सृष्टि ही वैषम्यको लेकर होती है। प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं रहता। केवल परमात्मा रहते हैं, जगद्बीजरूपा प्रकृति उनके अंदर

रहती है । परमात्माकी इच्छासे जब प्रकृतिके गुणोंमें—सत्त्व, रज, तममें वैषम्य होता है, क्षोभ होता है, तभी सृष्टि-व्यापार प्रारम्भ होता है; और जबतक यह सृष्टि महासर्गके अन्तमें पुनः प्रकृतिमें लीन नहीं हो जाती, तबतक यह वैषम्यका व्यापार चलता ही रहता है । और जबतक वैषम्य है, तबतक व्यवहारकी विषमता, व्यवहार-का भेद, कभी मिट नहीं सकता—चाहे उसे मिटानेकी हम कितनी ही चेष्टा क्यों न करें । जहाँ वैषम्य है, वहाँ कार्य-कलापमें भेद अधिकारमें भेद अवश्यम्भावी है । इसी भेदको लेकर वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है, इसी भेदको लेकर स्त्री-पुरुषके लिये अलग-अलग कर्तव्य निश्चित किये गये हैं और उनका कार्यक्षेत्र अलग-अलग स्थिर किया गया है । इसी भेदको लेकर स्पृश्यास्पृश्यका निर्णय किया गया है । इसी भेदको लेकर राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मस्तिष्कजीवी-श्रमिक, संन्यासी-गृहस्थ, पति-पत्नी आदि विभागों अथवा वर्गोंकी रचना हुई है—जो सृष्टि-सञ्चालनके लिये आवश्यक है । इस नैसर्गिक वैषम्य अथवा विभागको न मानकर जहाँ हम सबको एक करनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वहीं साङ्कर्य और गड़बड़ी शुरू हो जाती है, वहाँ वर्गगत कलह प्रारम्भ हो जाते हैं, अधिकारको लेकर लड़ाई होने लगती है, छोटे-बड़ेका प्रश्न सामने आ जाता है । ज्यों-ज्यों हम भेद मिटानेकी चेष्टा करते हैं, त्यों-त्यों विघटन बढ़ता जाता है और फलतः समाज विशृङ्खलित एवं उच्छिन्न हो जाता है । भेद तो किसी-न-किसी रूपमें फिर भी बना ही रहता है । इस साङ्कर्य एवं अव्यवस्था तथा उसके दुष्परिणामोंसे बचनेके लिये ही हमारे दीर्घदर्शी, दिव्य-

दृष्टि-सम्पन्न महर्षियोंने गुण-कर्मके अनुसार समाजको कई नैसर्गिक विभागोंमें बाँटकर सबके लिये अलग-अलग कर्तव्य, अलग-अलग धर्म निश्चित किये हैं।

धर्मके हमारे यहाँ सामान्यतया दो विभाग किये गये हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य अथवा मानवधर्म मनुष्यमात्रके लिये समान है। धृति (धैर्य), क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (दूसरेका हक न मारना, चोरी-डकैती न करना), शौच (बाहर-भीतरकी शुद्धि, पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (सात्त्विक बुद्धि), विद्या (यथार्थ ज्ञान, सत्यासत्यकी वास्तविक पहचान), सत्य और अक्रोध (क्रोधशून्यता)—मनूक्त धर्मके ये दस लक्षण*; योगोक्त पाँच यम†—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त भोग्य पदार्थोंका संग्रह न करना) और पाँच नियम‡—शौच, संतोष, तप (धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना), स्वाध्याय (सच्छास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम-गुण आदिका कीर्तन) और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागतिपूर्वक नित्य-निरन्तर भजन करते हुए भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना);

---

* धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६।९२)

† अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २।३०)

‡ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २।३२)

तथा निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, ज्ञानकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाला भगवान्के किसी भी स्वरूपका ध्यान, दान, दम (इन्द्रियनिग्रह), यज्ञ (भगवान् तथा देवताओंकी पूजा, हवन आदि), स्वाध्याय, तप, मन-वाणी-शरीरकी सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अहङ्कार आदिका त्याग, मनोनिग्रह, अपैशुन (निन्दा-चुगली न करना), जीवमात्रके प्रति दया, विषयासक्तिका अभाव, कोमलता, निषिद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह (किसीसे द्रोह न करना) एवं निरभिमानता—गीतोक्त दैवी सम्पदाके ये छब्बीस लक्षण*, ये सभी सामान्य अथवा मानवधर्मके अन्तर्गत हैं। इनका पालन स्त्री-पुरुष तथा सभी वर्गके मनुष्योंके लिये—चाहे वे किसी वर्ण, जाति, सम्प्रदाय अथवा देशके हों—वाञ्छनीय है। उपर्युक्त दैवी गुण तथा आचरण सभी मतावलम्बियोंको प्रायः मान्य हैं, अतएव सभीके लिये अनुकरणीय हैं।

इन सामान्य धर्मोंके अतिरिक्त विशिष्ट वर्गोंके लिये हमारे शास्त्रोंने कुछ विशिष्ट धर्म भी माने हैं, जो सामान्य धर्मोंके साथ-साथ उन-उन वर्गोंके लिये विशेषरूपसे पालनीय हैं; क्योंकि वे

---

* अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(गीता १६। १—३)

उनके लिये सहज अथवा स्वभावगत हैं अर्थात् उन्हें जन्मतः अथवा प्राक्तन संस्कारोंसे प्राप्त हुए हैं। हमारे यहाँ जन्म आकस्मिक अथवा यादृच्छिक नहीं माना गया है। जाति (जन्म), आयु (जीवन-काल) तथा भोग (सुख-दुःखकी प्राप्ति)—ये तीनों ही हमें प्रारब्धकर्मके अनुसार प्राप्त होते हैं, अतएव ये अपरिवर्तनीय हैं—इन्हें कोई बदल नहीं सकता। उपनिषद्में आया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ (छान्दोग्य० ५ । १० । ७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे इस लोकमें शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो अशुभ आचरणवाले हैं, वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकर-योनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

यही कारण है कि कोई चक्रवर्ती सम्राट् अथवा किसी धन-कुबेरके यहाँ जन्म लेता है तो कोई दीन-हीन भिखारीके यहाँ; कोई शतायु होता है तो कोई अकालमें ही कालके गालमें चला जाता है; कोई जीवनभर चैनकी वंशी बजाता है तो कोई रो-रोकर दिन काटता है; कोई वृद्धावस्थामें भी स्वस्थ-सबल रहता है तो कोई जन्मसे ही रोगोंसे आक्रान्त रहता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार स्त्री-योनि भी प्राक्तन कर्मोंके अनुसार ही प्राप्त होती है। एक ही माता-पितासे कई सन्तानें

उत्पन्न होती हैं; उनमें कोई पुरुष-चिह्नसे युक्त होती है और कोई स्त्री-चिह्नसे । प्राक्तन कर्मोंके अतिरिक्त उनके इस भेदमें क्या हेतु हो सकता है । जन्मके समय लिङ्गभेदके अतिरिक्त पुत्र एवं कन्याकी शरीर-रचना अथवा आकृतिमें कोई अन्तर नहीं होता । धीरे-धीरे अवस्था बढ़नेपर उनके शरीरकी गठनमें अन्तर स्पष्ट होने लगता है । यहाँतक कि किशोर अवस्थातक पहुँचते-पहुँचते दोनोंके शरीर-की रचनामें काफी अन्तर हो जाता है तथा युवा अवस्थामें यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है एवं अन्ततक बना रहता है । स्त्री और पुरुषके स्वभाव, शारीरिक बल तथा बौद्धिक विकासमें भी काफी अन्तर होता है । स्त्रियोंमें प्रायः भीरुता, अपवित्रता, चपलता तथा पुरुषोंकी अपेक्षा बुद्धिकी मन्दता आदि दोष होते हैं ।* उनमें सेवा एवं सहिष्णुताकी मात्रा अधिक होती है । मस्तिष्ककी अपेक्षा उनमें हृदयकी प्रधानता होती है । इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रियोंको हमारे शास्त्रोंमें पुरुषके अधीन रक्खा गया है । किसी भी हालतमें उन्हें स्वतन्त्र रहनेका अधिकार नहीं दिया गया है । उनके शरीरकी गठन तथा अङ्गोंकी रचना एवं उनके शरीरके व्यापार भी ऐसे हैं, जिनके कारण पुरुषोंके अधीन रहना ही उनके लिये स्वाभाविक एवं श्रेयस्कर है ।

स्वभाव, बुद्धि तथा शारीरिक रचना एवं बल-पौरुषके अनुरूप ही स्त्रियोंका कार्यक्षेत्र भी पुरुषोंसे पृथक् रक्खा गया है । हिंदू-

---

* श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया । भय अबिबेक असौच अदाया ॥

नारी घरकी रानी होती है। घरकी व्यवस्था तथा सफाई, भोजनशालाका प्रबन्ध तथा पाक तैयार करना, बच्चोंका लालन-पालन, उनकी शिक्षा तथा चरित्र-निर्माण, अन्न-वस्त्रका यथोचित संग्रह, आय-व्ययका समीकरण, परिवारके सब लोगोंकी सँभाल, सेवा एवं आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा प्रधानतया गृहस्वामीकी सेवा, उन्हें सब प्रकारसे सुख पहुँचाना तथा उन्हें गृहस्थ-सम्बन्धी चिन्ताओंसे मुक्त रखना, सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करके वंशकी रक्षा एवं वृद्धि करना, पतिके धर्म-कार्योंमें हाथ बँटाना तथा स्वयं धर्मपालन करते हुए अपना एवं अपने पतिका उद्धार करना, पतिको ही परमात्माका प्रतीक, उनका प्रतिनिधि मानकर उन्हींमें अनन्य प्रेम करना—आदि-आदि स्त्रियोंके महान् कर्तव्य हमारे शास्त्रोंमें बताये गये हैं। सेवा, त्याग एवं आत्मोत्सर्ग ही नारीके प्रधान गुण हैं। पतिके प्रति आत्मसमर्पण तथा सन्तानके लिये आत्मदान ही उसके जीवनका परम पुनीत व्रत है। भगवान्‌के प्रति भक्तको आत्मसमर्पण किस प्रकार करना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें पतिपरायणा पतिव्रता नारीके आदर्श जीवनसे ही मिलती है। इन्हीं सब कारणोंसे भारतीय समाजमें नारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ऐसी दशामें भारतीय नारीको पुरुषकी गुलाम बतलाकर उसके अंदर पुरुषोंके प्रति विद्रोह-भावना उत्पन्न करना, उसे महान् सती-धर्मसे विचलित-कर पथभ्रष्ट करना, घरकी रानीके महान् गौरवमय पदसे नीचे उतारकर पद, अधिकार एवं नौकरीके लिये दर-दर भटकनेवाली राहकी भिखारिणी बनाना कहाँतक उसका हित-साधन करना है—इसे नारी-समानाधिकारके हिमायती स्वयं सोच सकते हैं।

स्त्री और पुरुषमें शरीर, बुद्धि एवं स्वभावगत जो नैसर्गिक भेद है, उसे किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता; और उसीके अनुसार दोनोंके कर्तव्य, अधिकार एवं कार्यक्षेत्रमें भी भेद रहना आवश्यक है। दोनोंके कार्यक्षेत्र तथा अधिकारोंमें समता लानेकी चेष्टा करना समाजको छिन्न-भिन्न करना है। इससे कभी जगत्‌का हित-साधन नहीं हो सकता। पाश्चात्त्य जगत्‌में इस प्रकारकी चेष्टासे क्या-क्या अनर्थ हो रहे हैं, वहाँकी पारिवारिक सुख-शान्ति किस प्रकार नष्ट हो रही है—इसे देखते-सुनते हुए भी हमलोग आँख मूँदकर उसी मार्गपर चलनेके लिये उतावले हो रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है!

स्त्रियोंकी शिक्षा भी ऐसी होनी चाहिये, जो उनके जीवन तथा आदर्शके अनुकूल हो तथा जो उनके कर्तव्य-पालनमें सहायक सिद्ध हो। पुरुषोंके आदर्शके अनुसार स्त्रियोंको भी उन्हीं सब विषयोंकी शिक्षा देना उनके जीवनको बर्बाद करना—उन्हें इतोभ्रष्ट-ततोभ्रष्ट करना है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिका उद्देश्य तो इस पद्धतिको प्रचारित करनेवाले पुरुषोंके ही कथनानुसार भारतीय नवयुवकोंको गुलाम बनाना, उनको अपनी निजकी संस्कृति, इतिहास, पूर्वपुरुषों एवं धर्मके प्रति अनास्था उत्पन्न करना—उन्हें कहनेमात्रको भारतीय किंतु हृदयसे पाश्चात्त्य बना देना रहा है और इसी पद्धतिके अनुसार अपनी कन्याओंको भी शिक्षित कर हमने उनका ही नहीं, अपितु साथ-साथ अपने तथा अपनी भावी सन्तानके भी सर्वनाशका बीज बो दिया, किंतु अब भी हम यदि चेत जायँ तो अपने सर्वनाशको बचा सकते हैं; हमें अपनी कन्याओंका शिक्षा-क्रम ऐसा बनाना

चाहिये, जिससे वे आदर्श गृहिणी तथा सीता-सावित्री, अनसूया, मदालसा, मैत्रेयी आदिके समान पतिव्रता बन सकें। उन्हें साधारण भाषा तथा साहित्यिक ज्ञानके साथ-साथ सीना-पिरोना, विविध पाक तैयार करना, बच्चोंका लालन-पालन करना और उन्हें शिक्षा देना, स्वास्थ्य एवं सफाईके साधारण नियमोंको जानना, देशी चिकित्साके प्रारम्भिक सिद्धान्तोंका तथा घरेलू नुस्खोंका ज्ञान प्राप्त करना, घायलोंकी प्रथम सेवा करना, गृह-प्रबन्ध, कृषि, गणित एवं अर्थ-शास्त्रका, चित्रकर्म, शिल्प आदि कलाओंका तथा इतिहास-भूगोलका साधारण ज्ञान प्राप्त करना तथा सर्वोपरि नीति, सद्गुण-सदाचार, सौजन्य, सादगी, कर्तव्य-पालन, ईश्वरभक्ति तथा धर्मका व्यावहारिक ज्ञान—इत्यादि विषयोंकी शिक्षा दी जानी चाहिये। यह शिक्षा भी उन्हें यथासम्भव घरोंमें ही दी जानी उचित है। पाठशालाओंमें चरित्र-सम्पन्न आदर्श अध्यापिकाओंका प्रायः अभाव होनेसे बालिकाओंके चरित्रपर बहुधा अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता और वे प्रायः विलासप्रिय एवं शौकीन बन जाती हैं। साथ ही भारतीय आदर्शके अनुसार वयस्क हो जानेपर लड़कियोंका बाहर निकलना भी श्रेयस्कर नहीं है। बालक-बालिकाओंकी सहशिक्षा तो भारतीय पद्धतिके सर्वथा प्रतिकूल एवं त्याज्य है। उससे तो लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना है। अतः उससे सर्वथा बचना चाहिये। हमारे यहाँ तो स्त्री-पुरुषोंके सम्पर्कपर बहुत अधिक नियन्त्रण रक्खा गया है और सतीधर्मकी रक्षाके लिये यह परमावश्यक है। सतीधर्म ही भारतीय नारीका परम भूषण माना गया है और उसीने हिंदू-जाति एवं हिंदू-धर्मकी रक्षा की है। क्षेत्र एवं बीजकी

शुद्धि—रज-वीर्यकी शुद्धि ही जातिको एवं समाजको पवित्र रख सकती है और इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर नारी-जातिकी पवित्रता—सतीत्वरक्षापर इतना जोर दिया गया है।

महाकवि कालिदासके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में महर्षि कण्वने अपनी पोष्य-पुत्री शकुन्तलाको ससुराल जाते समय बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है। कण्व कहते हैं—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

(चतुर्थ अङ्क, श्लोक २०)

'बेटी ! ससुरालमें जाकर सास-ससुर आदि बड़ोंकी सेवा करना; अपने पतिकी अन्य पत्नियोंके साथ (यदि कोई हो) मित्रताका, प्रेमका बर्ताव करना; यदि कभी पतिका तिरस्कार भी मिले, तो क्रोधके वशीभूत होकर उनके प्रतिकूल आचरण भूलकर भी न कर बैठना; दास-दासियोंके प्रति सदा दयाका भाव बनाये रखना और प्रचुर भोग-सामग्री प्राप्त करके अभिमानसे फूल मत जाना। इस प्रकारका आचरण करनेसे ही युवतियाँ 'गृहिणी' के सम्मान्य पदपर प्रतिष्ठित होती हैं और जो इसके विपरीत आचरण करती हैं, वे तो अपने कुलके लिये आधिरूप—क्लेशदायक बन जाती हैं।'

कविवर कालिदासने शास्त्रोंमें विस्तारसे कहे हुए 'नारी-धर्म' का निचोड़ बहुत थोड़े शब्दोंमें इस श्लोकमें रख दिया है।

शास्त्रसम्मत स्त्री-धर्म

हमारे धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृति धर्मका एक प्रधान ग्रन्थ है। इसमें बहुत-से श्लोक तो ऐसे हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये ही सामान्य धर्म बतलाये गये हैं। कितने ही ऐसे श्लोक हैं, जिनमें केवल पुरुषोंके कर्तव्य ही बतलाये गये हैं एवं कितने ऐसे श्लोक भी हैं, जिनमें केवल स्त्रियोंके ही कर्तव्यका निर्देश है। उनमेंसे, जिनमें केवल स्त्रियोंके ही कर्तव्य बतलाये गये हैं, कुछ श्लोकोंको उद्धृत करके उनके आधारपर साररूपमें कुछ स्त्री-शिक्षाकी समयोपयोगी बातें बतलायी जाती हैं।

मनु आदि ऋषियोंने स्त्री-जीवनका स्वरूप भलीभाँति समझकर उसकी रक्षाके लिये उनको सदा पुरुषोंके अधीन होकर रहनेकी ही आज्ञा दी है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥
(५। १४७—१४९)

'स्त्री बालिका हो, या युवती हो, अथवा बूढ़ी हो, उसे अपने घरमें भी कोई कार्य स्वतन्त्रतासे कदापि नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवती-अवस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो पुत्रोंके अधीन रहे; तात्पर्य यह कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले। वह पिता, पति अथवा पुत्रोंसे अपनेको अलग रखनेकी कभी इच्छा न करे; क्योंकि इनसे अलग रहनेसे पितृकुल और पतिकुल दोनोंके कलङ्कित होनेकी सम्भावना है।'

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
(९।३)

'स्त्रीकी कुमारावस्थामें पिता रक्षा करता है, युवावस्थामें पति रक्षा करता है और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करते हैं; उसे कभी स्वाधीन नहीं रहना चाहिये।'

स्त्रियोंके स्वतन्त्र और अरक्षित होनेपर नाना प्रकारके दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी रक्षा करनेसे अपनी और धर्मकी रक्षा होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रताका विरोध किया गया है। शास्त्रकार ऋषि-महर्षि त्रिकालदर्शी, स्वार्थत्यागी, समदर्शी, अनुभवी, पूर्वापरको गहराईसे सोचनेवाले और संसारके परम हितैषी थे; अतः उनकी बातोंपर हमको विशेष ध्यान देकर स्त्रियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये।

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥
न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥
(९ । ५–७, ९–११)

'कुसङ्ग अथवा आसक्ति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्यों न हो, उससे भी स्त्रियोंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि रक्षित न होनेपर वे पति और पिता दोनोंके कुलको ही शोकमें डाल देती हैं । स्त्रीकी रक्षा सब वर्णोंके लिये ही उत्तम धर्म है, इस धर्मको दृष्टिमें रखकर दुर्बल पति भी अपनी पत्नीको सुरक्षित रखनेका यत्न करते हैं । क्योंकि जो पत्नीकी यत्नपूर्वक रक्षा करता है, वह अपनी सन्तानको वर्णसंकर होनेसे बचाता है, अपने चरित्रको निष्कलङ्क रखता है, अपनी कुल-मर्यादाकी रक्षा करता है तथा अपनी और अपने धर्मकी भी रक्षा कर लेता है । स्त्री जैसे पुरुषका सेवन करती है, वैसी ही सन्तानको जन्म देती है; अतः प्रजाकी शुद्धिके लिये—सन्तानको वर्णसंकरतासे बचानेके लिये स्त्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करे । कोई भी बल-प्रयोग करके स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ

नहीं हो सकता; किन्तु इन नीचे लिखे जानेवाले उपायोंको काममें लेनेसे उनकी रक्षा की जा सकती है। स्त्रीको धनके संग्रहमें और उसे खर्च करनेके कार्यमें लगावे। घरको स्वच्छ रखने, दान-पूजन आदि धर्म-कार्य करने, रसोई बनाने तथा घरके सामानकी देख-भाल करनेके कार्यमें भी उसे नियुक्त करे।'

कन्याको चाहिये कि वह अपना विवाह कभी स्वयं स्वतन्त्रता-पूर्वक न करे; क्योंकि जो अपने बड़े-बूढ़े अनुभवी बुद्धिमान् हितैषी होते हैं, वे बुद्धिपूर्वक जो काम करते हैं, वह इस लोक और परलोकमें लाभदायक होता है। इसके विपरीत अपनी बाल-चपलतासे किया हुआ सम्बन्ध इस लोक एवं परलोकमें भी हानिकर हो सकता है। अतः उसके अभिभावक माता-पिता, भाई आदि शुद्ध भावसे कन्याका हित समझकर जिसके साथ उसका विवाह कर दें, उसीको प्रसन्नतापूर्वक ईश्वरका विधान समझकर पतिरूपमें स्वीकार करना चाहिये और आजीवन उसीकी सेवा करना और उसकी मृत्युके बाद भी उस पतिकी दी हुई शिक्षाके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहिये।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥
(५। १५१)

'पिता अथवा पिताकी अनुमति लेकर भाई भी कन्याको जिसके साथ ब्याह दे, उसी पतिकी यह जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे तथा उसकी मृत्यु होनेपर भी यह उसका उल्लङ्घन न करे

[अर्थात् उससे सम्बन्ध तोड़कर किसी दूसरेसे सम्बन्ध न जोड़े; पतिके जीते हुए उसकी आज्ञाको सदा माने और उसके मरनेपर भी उसकी दी हुई आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे]।

आजकल जो शास्त्रविधिसे विवाह न करके रजिस्ट्रीमात्रसे ही विवाह हो जानेकी प्रथाका समर्थन किया जा रहा है, वह बहुत बुरा है। इससे विवाहकी पवित्रता तो नष्ट होती ही है, प्रेमका बन्धन भी नहीं रहता और बात-बातमें तलाककी नौबत आती है। पाश्चात्त्य देशोंमें आज यही हो रहा है। हमारे भारतवर्षमें शास्त्रीय पद्धतिसे विवाह करनेकी जो प्रथा है, तदनुसार विवाह-सम्बन्ध करनेपर हजारोंमें भी एक भी ऐसा दृष्टान्त दृष्टिगोचर नहीं होता, जो पतिको त्यागकर दूसरेसे विवाह करे या पतिपर मुकदमा करे। क्योंकि ऋषियोंने स्त्री और पुरुषके कल्याणके लिये ही अत्यन्त रहस्यमय विवाह-संस्कार-पद्धतिका विधान किया है, जिसमें पुण्याहवाचन तथा हवन आदि कर्मोंका वर और कन्याके मङ्गलके लिये उल्लेख है—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥

(५। १५२)

'विवाहके अवसरपर जो स्वस्तिवाचन तथा प्रजापतिका यजन होता है, वह तो ब्याही जानेवाली स्त्रियोंके मङ्गलके लिये है; वास्तवमें कन्यादान ही स्वामित्वका कारण है। अर्थात् गुरुजनोंके द्वारा कन्या जिसे दे दी जाती है, वही पति है और उसीकी वह पत्नी है—यह निश्चय कन्यादान होनेपर ही होता है।'

विवाह होनेके बाद स्त्रीका सबसे बढ़कर प्रधान कर्तव्य यह हो जाता है कि वह पतिको ही सर्वस्व मानकर पतिके आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये ही समस्त आचरण करे। पति अयोग्य हो, तो भी उसे देवताके समान समझकर उसकी सेवा करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें हित है।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥
(५। १५३-१५४, १५६)

'वैदिक मन्त्रोंद्वारा विवाह-संस्कार करनेवाला पति ऋतुकालमें तथा उससे भिन्न समयमें भी स्त्रियोंको इस लोक और परलोकमें सदा सुख देनेवाला होता है। शीलहीन, स्वेच्छाचारी अथवा गुणोंसे शून्य होनेपर भी पति साध्वी स्त्रीके लिये सदा देवताकी भाँति पूजनीय है। परम कल्याणमय पतिलोककी इच्छा रखनेवाली नारी पाणिग्रहण करनेवाले पतिके जीवित रहने अथवा मरनेपर भी कभी कोई ऐसा आचरण न करे, जो उसे प्रिय न हो।'

पुरुषका यह परम कर्तव्य बतलाया गया है कि वह जो भी यज्ञ, दान, तप, व्रत, उपवास आदि उत्तम क्रिया करे, स्त्रीकी सलाहसे उसको साथ लेकर ही करे। इसीलिये स्त्रीको पतिके बिना

या उसकी आज्ञाके बिना अलग यज्ञ, तीर्थ, व्रत, उपवास, सत्सङ्ग आदि धार्मिक कर्म भी करनेकी आवश्यकता नहीं है; उसके लिये तो पतिसेवासे ही इस लोक और परलोकमें कल्याण बतलाया है।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते*॥
अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥

(५। १५५, १६५-१६६)

'स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका विधान नहीं है; जिस पातिव्रत्यका आश्रय लेकर वह पतिकी शुश्रूषा करती है, उसीसे वह स्वर्गलोकमें सम्मानित होती है। जो मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर कभी पतिके विपरीत आचरण नहीं करती, वह (भगवत्स्वरूप) पतिलोकको प्राप्त होती है और सत्पुरुषोंद्वारा 'साध्वी' इस प्रकार कही जाती है। मन, वाणी और शरीरको संयममें रखनेवाली नारी इस बर्तावसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें पति-धामको प्राप्त करती है।'

स्त्रीको उचित है कि जिसमें पति संतुष्ट हो उसीमें संतुष्ट रहकर पतिके अनुकूल धार्मिक क्रिया करते हुए घरका हरेक काम बड़ी कुशलताके साथ करे। न तो समयको व्यर्थ बितावे और न फिजूल खर्च ही।

* ऐसा ही श्लोक अ० ९। २९ का भी है।

करे, बल्कि भगवान्‌को याद रखते हुए पतिके आज्ञानुसार ही सारा कार्य करे; क्योंकि पति-सेवा ही स्त्रीके लिये सब कुछ है । ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री इस लोक और परलोकमें प्रशंसनीय है ।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥
(२ । ६७)

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥
(५ । १५०)

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥
(९ । २६—२८)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वेदोक्त उपनयन-संस्कार माना गया है । ससुरालमें रहकर पतिकी सेवा ही उनके लिये गुरुकुलका निवास है और भोजन बनाना आदि घरके काम-काज ही उनके लिये दोनों समयका अग्निहोत्र है । स्त्रीको सदा ही प्रसन्न रहना और घरके कार्योंमें दक्ष होना चाहिये । वह गृहकी प्रत्येक सामग्रीको स्वच्छ रखनेवाली और खुले हाथों खर्च न करने-वाली बने । परम सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ सन्तानोत्पादनके लिये हैं ।

ये सर्वथा सम्मानके योग्य और घरकी शोभा हैं। घरकी स्त्री और लक्ष्मीमें कोई भेद नहीं है। सन्तानको उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई सन्तानका भलीभाँति पालन-पोषण करना और प्रतिदिन भोजन आदि बनाकर लोकयात्राका निर्वाह करना—यह सब प्रत्यक्षरूपसे स्त्रीके अधीन है। सन्तानकी प्राप्ति, धर्म-कार्यका अनुष्ठान, सेवाकार्य, उत्तम (धर्मयुक्त) रति, पितरोंकी स्वर्ग-प्राप्ति तथा अपनी भी पारलौकिक उन्नति स्त्रीके अधीन है।'

बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि आजकल लोग तलाक-कानून बनानेके प्रयत्नमें लगे हैं। सुना जाता है, अमेरिका-इंग्लैंड आदि विदेशोंमें कहीं-कहीं पचास प्रतिशत तलाकके मुकदमे होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इससे सतीत्वका नाश, लोकापवाद, समयका अपव्यय, फिजूलखर्ची, वैमनस्य, चिन्ता, शोक, भय, पाप और मुकदमेबाजी तथा इहलोक-परलोकके भ्रष्ट होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं हो सकता। हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये कि तलाक-कानून हमारे लिये बहुत ही घातक है; ऐसे बिल संसद्में जब-जब आवें, तब-तब जनताको उनका घोर विरोध करना चाहिये। हमारे शास्त्रोंमें पतिके जीवित रहनेके समयकी तो बात ही क्या, मरनेपर भी दूसरे पुरुषको पति बनाना महान् घृणित और पाप बतलाया है। पतिके मरनेके बाद तो साध्वी स्त्रीके लिये जप, तप, व्रत, संयम आदिका पालन करते हुए फल-मूल आदिसे अपना जीवन बिताना श्रेयस्कर है। इस प्रकार संयम और ब्रह्मचर्यसे रहनेवाली स्त्री उत्तम गतिको प्राप्त होती है।

कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥
पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते*॥
(५। १५७-१५८, १६०-१६४)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे जीवन-निर्वाह करती हुई इच्छापूर्वक अपने शरीरको सुखा डाले; परंतु पतिकी मृत्युके बाद किसी पराये पुरुषका (काम-भावनासे) नाम भी न ले। पतिव्रता स्त्रियोंका जो सर्वोत्तम धर्म है, उसे पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे। पतिकी मृत्युके

* ऐसा ही श्लोक ९। ३० का भी है।

पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी स्वर्गलोकमें जाती है, जैसे कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) स्वर्गमें जाते हैं ? किंतु जो स्त्री पुत्रके लोभसे पतिका उल्लङ्घन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें तो निन्दा पाती ही है, पतिलोकसे भी वञ्चित रह जाती है। पर-पुरुषसे उत्पन्न हुई सन्तान यहाँ अपनी सन्तान नहीं मानी जाती; इसी प्रकार परायी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तान भी अपनी नहीं है। साध्वी स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिको अपनानेका उपदेश नहीं दिया गया है। जो स्त्री धन आदिकी दृष्टिसे अपने निम्न श्रेणीके पतिको त्यागकर उच्च वर्गमें गिने जानेवाले किसी पर-पुरुषका सेवन करती है, वह इस लोकमें निन्दनीय ही होती है तथा 'परपूर्वा' (पहलेकी परायी स्त्री) कही जाती है। पतिके विपरीत आचरण—व्यभिचार करनेसे स्त्री इस लोकमें निन्दाका पात्र बनती है, दूसरे जन्ममें उसे सियारकी योनिमें जाना पड़ता है तथा पापजनित रोगोंसे भी वह पीड़ित रहती है।'

आजकल कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'जब स्त्रीके मरनेपर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है, तब फिर स्त्रीको भी पतिके मरनेपर पुनर्विवाह करनेमें क्या आपत्ति है ?' इसका उत्तर यह है कि मरनेके बाद पुरुषके पुनर्विवाह कर लेनेपर भी उसकी पहलेकी संतान उसी कुल-गोत्रमें ही रहकर अपने पिताके द्वारा रक्षित और पालित हो सकती है और उसका उस घरमें दायभाग रहता है, उसका अपने हिस्सेके अनुसार अधिकार कायम रहता है; किंतु पतिकी मृत्यु हो जानेपर स्त्री यदि बच्चोंको वहीं छोड़कर

दूसरे पुरुषसे विवाह करके वहाँ चली जाती है तो वे बच्चे बिल्कुल अनाथ हो जाते हैं, उनका पालन-पोषण ही असम्भव-सा हो जाता है। और यदि संतानको साथ ले जाय तो उनका इस गोत्र और कुलसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण वे अपने पैतृक धनसे वञ्चित रह जाते हैं। जहाँ दूसरे घरमें वह जाती है, वहाँ उसका पति न तो उन बच्चोंसे प्यार करता है और न उन्हें दायभागका हिस्सा ही देता है। इस प्रकार वे पहले-वाले घरसे भी हाथ धो बैठते हैं और दूसरे घरसे भी उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनके शादी-विवाह भी कठिन हो जाते हैं। इस प्रकार वे महान् भयमें पड़ जाते हैं। इसलिये भी शास्त्रकारोंने पुनर्विवाहका बहुत निषेध किया है। यदि कहें कि 'शास्त्रकारोंने पुरुषको तो स्त्रीके जीते ही विवाह करनेकी छूट दे रक्खी है, स्त्रियोंको ऐसी छूट क्यों नहीं दी; उन्होंने यह अन्याय किया है।' तो इसका उत्तर यह है कि एक पुरुष एक साथ पाँच स्त्रियोंके साथ रहकर एक ही वर्षमें उनके द्वारा पाँच संतान पैदा कर सकता है; किंतु एक स्त्री एक साथ पाँच पुरुषोंसे विवाह करके एक भी संतान पैदा नहीं कर सकती। यह स्त्री-पुरुषमें प्राकृतिक भेद है। इस दृष्टिसे पुरुषका अधिक विवाह करना संगत कहा गया है। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि हम पुरुषके बहुविवाहके पक्षपाती हैं। हम तो स्त्रीके जीते किसी पुरुषके दूसरा विवाह करनेका घोर विरोध करते हैं। बल्कि स्त्रीके मरनेपर भी पुरुषका पुनर्विवाह करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है, महत्त्व तो ब्रह्मचर्यके पालनमें ही है। शास्त्रकारोंने केवल मानव-

जातिकी शृङ्खलाकी रक्षाके लिये धर्मानुकूल विवाहका विधान किया है। किसी भी हालतमें पुरुषका दूसरा विवाह करना आदर्श नहीं है, बल्कि क्लेश बढ़ानेवाला और कल्याणमार्गसे पतन करनेवाला ही है। हमने तो, केवल पुरुषोंको शास्त्रोंमें यह छूट क्यों दी गयी, यह दिखलानेके लिये ही युक्ति दी है। अतः स्त्रियोंके लिये तो पतिके जीते या मरनेपर—किसी भी हालतमें दूसरा विवाह करनेका घोर निषेध किया गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवाली स्त्रीको पुनर्विवाह तो दूर रहा, दूसरे पुरुषका भूलकर स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

(मनुस्मृति ९। ४७, ६५-६६)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या किसीको एक ही बार दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है; विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है। यह पशुधर्म है, विद्वान् द्विजोंने इसकी सदा ही निन्दा की है।'

शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये बहुत-से दुर्व्यसन बताये गये हैं।

कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंको सदा उन दोषोंसे बचना चाहिये।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
(९।१३)

'मद्य-पान, दुष्टोंका संग, पतिसे अलग रहना, अकेली घूमना, अधिक सोना तथा दूसरेके घरमें निवास करना—ये छः स्त्रियोंके लिये दोष हैं (इनके कारण वे पतनके गर्तमें गिरती हैं)।'

याज्ञवल्क्य, पराशर आदि ऋषि-मुनियोंने भी स्मृतियोंमें स्त्रियोंके लिये प्रायः इसी प्रकारके उपदेश लिखे हैं; लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये विस्तार नहीं किया गया।

अतएव स्त्रियोंको पूर्वमें हुई सती-साध्वी स्त्रियोंको आदर्श मानकर उनके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। अब पूर्वमें हुई सती-साध्वी स्त्रियोंके उदाहरणपूर्वक स्त्रियोंके लिये कुछ खास पालन करनेकी बातें बतलायी जाती हैं।

जिस प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने एक-पत्नीव्रतका महान् आदर्श दिखलाया, उसी प्रकार जगज्जननी श्रीसीताजीने समस्त स्त्रियोंको शिक्षा देनेके लिये स्वयं आचरण करके पातिव्रतधर्मका दिग्दर्शन कराया। उन्होंने भोग-सुख, राजमहल, आभूषण, रेशमी वस्त्र, मेवा-मिष्टान्न आदि सम्पूर्ण भोग-सामग्रियोंको तुच्छ समझकर उनका परित्याग कर दिया तथा स्वामीके साथ वृक्षोंके नीचे पर्णशालामें निवास करना, शीत-उष्ण-वर्षा आदिका सहन करना और कन्द-मूल-फल खाकर जीवन-निर्वाह करना आदि

कठोर व्रतोंका पालन करते हुए स्त्रियोंके सर्वोत्कृष्ट धर्म पातिव्रत्यका नियमपूर्वक अनुष्ठान करके सबके लिये सुन्दर आदर्श उपस्थित कर दिया।

इसी प्रकार सावित्रीने राजा-महाराजाओंकी अवहेलना करके राजमहलके भोग-विलासोंको तुच्छ समझकर वनवासी सत्यवान्‌को ही पतिरूपमें वरण किया और पतिकी तथा अपने सास-ससुरकी सेवा करनेमें ही अपना जीवन लगाया। पतिसेवाके प्रभावसे उसने यमराजपर भी विजय प्राप्त कर ली। सास-ससुर आदिके लिये अनेक वरदान प्राप्त करके पतिको यमराजके फंदेसे छुड़ा लिया!

मदालसाने अपने पुत्रोंको उत्तम शिक्षा देकर उन्हें जीवन्मुक्त बना दिया और पतिके साथ सर्वोत्तम गति प्राप्त की।

गान्धारीने अपने पातिव्रतधर्मके बलसे यादवकुलको शाप दे श्रीकृष्णको तथा पाण्डवोंको भी अपना प्रभाव दिखलाकर आश्चर्य-चकित कर दिया।

दमयन्तीने बुरी दृष्टिसे देखनेवाले दुराचारी व्याधको अपने पातिव्रतधर्मसे भस्म कर दिया।

शुभा नामक स्त्री पातिव्रतधर्मका पालन करके अपने पतिको भगवान्‌के परम धाममें ले गयी।

जिस अनसूयाने सीताजीको पातिव्रतधर्मका अमूल्य उपदेश दिया और जिसके पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशने उसके यहाँ अवतार लिया, उसकी महिमा क्या कही जाय?

इसी प्रकार इतिहास-पुराणोंमें बहुत-सी पतिव्रता स्त्रियोंकी

गाथाएँ भरी पड़ी हैं, इसके लिये स्त्रियोंको उन ग्रन्थोंके उन-उन स्थलोंको पढ़ना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये सबसे बढ़कर कर्तव्य है—पातिव्रतधर्मका पालन। पतिके मरनेपर भी उनको, जिस प्रकार जीवनकालमें पतिके आदेशका पालन किया, वैसे ही पतिकी आज्ञाके अनुसार वैराग्य और त्यागपूर्वक ईश्वरकी भक्ति करते हुए पाण्डवजननी कुन्तीकी तरह अपना जीवन बिताना चाहिये। विधवा स्त्रियोंके लिये इस प्रकारका आचरण करना ही पातिव्रतधर्मका पालन करना है।

संसारमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं—एक वे, जो इस लोकमें भी सुखी और परलोकमें भी सुखी रहती हैं। दूसरी वे, जो इस लोक और परलोक दोनोंमें दुखी रहती हैं। तीसरी वे, जो इस लोकमें तो सुखी रहती हैं, परंतु परलोकमें दुःख-भोग करती हैं। और चौथी वे, जो इस लोकमें तो दुखी रहती हैं किंतु परलोकमें परम सुखी हो जाती हैं।

इनमें सर्वोत्तम स्त्रियाँ वे हैं, जो यहाँ-वहाँ दोनों जगह सुखी रहती हैं। जो स्त्री ईश्वरकी भक्ति करती है और निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करती है, उसके पास पीहर या ससुरालमें सब स्त्रियोंके साथ हेतुरहित प्रेम बढ़ानेके लिये दो सर्वोत्तम वशीकरण-मन्त्र हैं—(१) सबसे प्रेम होनेके लिये उन स्त्रियोंकी तथा उनके बाल-बच्चे आदिकी निःस्वार्थभावसे सेवा करना, उनका हित करनेमें ही लगे रहना और अहित तो किसीका कभी किसी प्रकार करना

हो नहीं। जिस प्रकार स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करता है, वैसे ही अपने तन, मन, धनसे तत्पर होकर सबकी निःस्वार्थभावसे सेवा करना। (२) उनके अवगुणोंकी तरफ जरा भी खयाल न करके उनके सच्चे गुणोंका ही बखान करना। वस्तुतः इन दो मन्त्रोंको काममें लानेवाली स्त्री अपने सद्बर्तावसे सबको जीत लेती है। जो स्त्री इस तरह सबका हित चाहनेवाली होती है, उसके सद्व्यवहारसे सब उसके अनुयायी और भक्त बन जाते हैं। इसलिये उसका जीवन यहाँ सुखमय और प्रेममय हो जाता है, एवं ईश्वरभक्ति तथा निःस्वार्थ सेवाके प्रभावसे उसको परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है ऐसी स्त्रियोंको यहाँ भी कीर्ति, सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं और परलोकमें भी परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

इससे विपरीत जो दुष्ट स्वभावकी स्त्री कलह करनेवाली होती है, वह स्वार्थान्ध स्त्री लोभ, मोह या क्रोधके वशीभूत होकर, पीहर अथवा ससुरालमें या जहाँ-कहीं भी वह रहती है, अन्य स्त्रियोंके साथ द्वेष-कलह और लड़ाई-झगड़ा ही करती रहती है। सबसे द्वेष हो जानेके कारण वह दूसरोंकी निन्दा करती है और उनके गुणोंमें भी दोषदृष्टि ही करती है। सदा सबको नीचा दिखाने, उन्हें ताना मारने, उनका अहित करने तथा तन-मन-धनसे अनिष्ट करनेका प्रयत्न करना ही उसका काम हो जाता है। इसके फलस्वरूप वे सब स्त्रियाँ भी बदलेमें उसके साथ वैसा ही व्यवहार करती हैं, जिससे उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। इस

प्रकारके असद्व्यवहारके कारण इस लोकमें तो उसका जीवन प्रत्यक्ष दुःखमय हो ही जाता है, सदा दूसरोंसे द्वेष-द्रोह करनेके कारण परलोकमें भी उसे भयानक दुःखोंका ही भोग करना पड़ता है।

तीसरी ऐसी स्त्री होती है, जो आजीवन गृहस्थमें ही निरत रहकर नाना प्रकारके खान-पान, ऐश-आराम, स्वाद-शौक और विषय-भोगोंमें फँसी रहती है। उसका जीवन विलासितामय, काम-भोगपरायण हो जाता है और ऐश-आराममें ही प्रमत्त हो जानेके कारण उसे जीव-हिंसा या दूसरेके कष्टकी भी परवा नहीं रहती। वह सदा अपने इन्द्रियचरितार्थतारूप सुख-साधनमें ही रत रहती है। और अपने स्वाद-शौककी पूर्तिके लिये चमकीले महीन सुन्दर रेशमी वस्त्र, बढ़िया तूस-दुशाले आदि, कोमल चमड़ेकी वस्तुएँ, इत्र-फुलेल-सेंट आदि अपवित्र पदार्थोंका व्यवहार और शरीरको पुष्ट करनेके लिये डाक्टरी दवा, अरिष्ट, आसव आदिका सेवन एवं मनोरञ्जनके लिये गंदे नाटक-सिनेमा देखने तथा क्लब आदिमें जाने आदि प्रमादपूर्ण कर्मोंमें ही रची-पची रहती है। उसे इस बातका भी ध्यान नहीं रहता कि ये सुन्दर रेशमी वस्त्र असंख्य कीड़ोंको मारकर उनसे बनाये जाते हैं, ये बढ़िया कोमल चमड़ेकी वस्तुएँ जीवित गाय आदि पशुओंको मारकर प्राप्त किये चमड़ेसे बनायी जाती हैं, इन इत्र-फुलेल-सेंट आदिके निर्माणमें अपवित्रताके साथ ही बड़ी हिंसा होती है और ये बढ़िया दीखनेवाले तूस (दुशाले) आदि गर्भवती भेड़ोंको मारकर उनके गर्भगत बच्चेके

रोएँसे बनाये जाते हैं। इसी प्रकार डाक्टरी दवाइयोंमें जीवोंकी हिंसा तो होती ही है, मदिराका भी प्रायः सम्मिश्रण रहता है, जिसके कारण वे सर्वथा अपवित्र और तामसी होती हैं। देशी दवाइयोंमें भी अरिष्ट, आसव, सिरके आदि तामसी वस्तु होनेसे इनका सेवन करनेवालेकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। नाटक-सिनेमा-क्लब आदिके प्रमादपूर्ण मनोरञ्जनमें व्यर्थ समय लगानेसे जीवनका मूल्यवान् समय, धन और चरित्र नष्ट होता है; इनसे मनमें गंदे भाव पैदा होते हैं, जिनसे महान् अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके आचरण करनेवाली स्त्रीकी केवल अपने आराम-भोगकी ओर ही प्रवृत्ति हो जानेके कारण वह उन्हींमें मस्त रहती है; उसका दूसरेके कष्टोंकी ओर ध्यान ही नहीं जाता; किंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि कोई भी भोग बिना किसी प्रकारका आरम्भ किये नहीं मिलता और जितना अधिक आरम्भ होता है, उसमें उतनी ही अधिक हिंसा होती है। फिर जो पदार्थ या क्रिया प्रत्यक्ष ही हिंसामय है, उसका तो कहना ही क्या! इन पदार्थोंके सेवनमें यद्यपि एक बार मोहवश क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है, पर परिणाममें वह घोर नरकोंको देनेवाला है। जो स्त्री पर-पुरुषके साथ सहवास करती है, उसे तो महान् भयङ्कर नरकोंकी प्राप्ति होती ही है; परंतु यदि कोई स्त्री अपने पतिके साथ भी अवैध, अनुचित गमन करती है तो उसका भी परलोक भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार सदा विषय-भोगोंमें ही रची-पची रहकर उन्हींका सेवन करनेवाली स्त्रीको यहाँ तो अज्ञानके कारण क्षणिक सुख प्राप्त होता

प्रतीत होता है, किंतु वह परलोकमें असीम अनन्त दुःखोंका ही भोग करती है ।

चौथे प्रकारकी स्त्री वह है, जो ससुराल या पीहरमें रहकर दूसरोंका कटुवचन सहती है, दूसरोंके अत्याचारको सहन करती है, ऐश-आराम-भोग, आलस्य, प्रमाद, स्वाद-शौक आदिका परित्याग करके संयमपूर्वक अपना जीवन बिताती है । तीर्थ, व्रत, उपवास, जप-स्वाध्याय आदि करके आत्मकल्याणार्थ शारीरिक कष्ट सहन करती है और सरदी-गरमी-वर्षा आदिको सहन करके तपका अनुष्ठान करती है । उसे वर्तमान कालमें तो कष्टका ही अनुभव होता है; किंतु उसका आचरण मुक्तिका हेतु होनेसे वह परलोकमें परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त करती है ।

ऊपर जो चार प्रकारकी स्त्रियाँ बतलायी गयी हैं, उनमें वे दो सर्वोत्तम (सात्त्विक) हैं, जिन्हें इस लोक और परलोकमें— दोनों जगह सुख है अथवा यहाँ सांसारिक दुःखका अनुभव होनेपर भी परलोकमें सुखी हैं; मध्यम (राजसी) वह है, जो यहाँ तो सुखी है पर परलोकमें दुःख प्राप्त करती है; और अधम (तामसी) वह है, जो यहाँ भी दुखी है और परलोकमें भी दुखी है । स्त्रियोंको चाहिये कि सर्वदा सर्वोत्तम आचरण करनेमें ही तत्पर रहें । राजसी-तामसी स्त्रियोंका अनुकरण कभी भूलकर भी न करें ।

अब स्त्रियोंके लिये कर्तव्याकर्तव्यकी कुछ विशेष बातें बतलायी जाती हैं ।

अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे ईश्वरका

विधान, उनका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें हर समय प्रसन्नचित्त रहे।

बड़ोंमें श्रद्धा-पूज्यभावसे, बराबरवालोंमें प्रेम-मैत्रीभावसे, छोटोंमें स्नेह-वात्सल्यभावसे—इस प्रकार सबमें हेतुरहित प्रेम बढ़ावे और सदा उनके हितमें रत रहे।

जीवनको निकम्मा न बनावे। कुछ-न-कुछ उत्तम काम करती रहे। घर, समाज और देशका सुधार हो, हित हो—ऐसे कार्योंमें समय लगावे। उद्यमशील बने। कभी परावलम्बी न होकर स्वावलम्बी बने। अपने घरके कामोंके लिये दूसरोंसे सहायता न ले। खर्चको घटावे। विवाह-शादी, मृतक-खर्च, स्वाद-शौकीनी, गोटा-किनारी आदिमें फिजूल खर्च न करे। इस प्रकार व्यर्थ खर्च करके अपने पतिपर भार न बढ़ावे, बल्कि उसे घटानेकी चेष्टा करे। जीवन इस प्रकारका सादा और कमखर्चीला बनावे कि जिससे दूसरोंसे सहायता लेनेकी जरूरत ही न पड़े।

असच्चरित्र, भोगी, प्रमादी, नीच, दुष्ट, धूर्त और कुमार्गी स्त्री-पुरुषोंका कभी सङ्ग न करे, और न उनका कभी स्मरण ही करे।

बाजारका भोजन, पूड़ी-मिठाई, चाय, बिस्कुट, बरफ आदिका व्यवहार न करे। स्वयं पाककलामें निपुण होकर घरमें ही चीजें तैयार करके काममें लावे। मशीनका बना हुआ आटा, चीनी, तेल, कपड़ा और चावल आदि काममें न लावे; हाथकी बनी हुई चीजें ही काममें लावे।

बीमार होनेपर ऐलोपैथिक या होम्योपैथिक दवाओंका सेवन

न करे । बीमारीमें पथ्य-परहेजपर ही विशेष खयाल रक्खे । विशेष आवश्यकता हो तो देशी पवित्र आयुर्वेदीय दवाका सेवन करे तथा अपने बाल-बच्चोंको भी इसी तरहकी शिक्षा दे ।

रोगादिसे पीड़ित आतुर अवस्थामें अथवा दूसरोंके द्वारा सतायी जानेपर भी विशेष वैद्य-डाक्टरों और वकील-बैरिस्टरोंके चक्करमें न पड़े । उस समय पथ्य, संयम, धीरज और विवेकसे काम लेकर ही उस अवस्थाका प्रतीकार करे ।

आजकल बहुत-से धूर्त नर-नारी भोले-भाले बालकों और स्त्रियोंको अपने चंगुलमें फँसानेके लिये उन्हें सोनेका महल दिखलाते हैं और पुत्र-धन आदिका लोभ देकर उनके धनका तथा सतीत्वका अपहरण किया करते हैं । ऐसे लोगोंके प्रलोभनमय वाक्योंमें न फँसे; ऐसे लोगोंसे सदा दूर ही रहे ।

बहुत-से धूर्त जादू-टोना, यन्त्र-तन्त्र आदि क्रियाओंके द्वारा फुसलाकर, प्रलोभन देकर ठगते हैं; उनके फंदेमें नहीं पड़े । भूत, प्रेत, डाकिनी, पिशाचिनी आदि किसीमें प्रवेश करते हैं, दुःख देते हैं—इस प्रकारकी धोखेकी बातोंमें न फँसे और न भूत-प्रेत आदिका या अनिष्टका झूठा बहम करके मनमें कभी भय ही लावे ।

भैरव, पीर, फकीर आदिके नामपर शास्त्रविरुद्ध मनौती आदि बोलकर अपने धर्म-कर्मको बर्बाद करनेकी मूर्खता भी कभी न करे ।

अपनेसे जो कुछ हो सके, दूसरोंका हित ही करे । किसीसे सेवा करानेकी इच्छा कभी न करे, न सेवा करावे ही । देवता या

मनुष्य—किसीसे किसी प्रकारकी भी कामना या इच्छा नहीं करे और न किसीमें आसक्त ही हो ।

भारी आपत्ति पड़नेपर भी भय, काम अथवा लोभके कारण धर्मसे विचलित न हो तथा सदा शूरता, वीरता, गम्भीरता, धीरता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर आत्मबल और सद्‌बुद्धि प्राप्त हो—इसीके लिये प्रयत्न करे ।

अपना समय निद्रा-आलस्य, भोग-प्रमाद, ताश-चौपड़, थियेटर-सिनेमा, खेल-तमाशे आदिमें व्यर्थ न बितावे तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंका सर्वथा त्याग कर दे ।

जिनसे तेज, क्षमा, धैर्य, शान्ति, सरलता, समता, भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, बल, बुद्धि, वीर्य आदि सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि हो तथा जिनसे सम्पूर्ण संसारका और अपना हित हो, ऐसे कामोंमें ही अपना समय लगावे ।

अपनी संतानको भी ऐसी ही शिक्षा दे, जिससे उनमें उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारोंका समावेश हो और वे नीति और धर्ममें निपुण होकर कुटुम्ब, समाज और देशकी सेवा करते हुए अपना तथा सबका कल्याण-साधन कर सकें ।

इस प्रकार निःस्वार्थभावसे आचरण करनेपर स्त्रियोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उन्हें परम शान्ति और परम आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

समता अमृत और विषमता विष है

राजपूतानेके किसी गाँवमें एक अत्यन्त गरीब वैश्य रहता था। दैवयोगसे वहाँ एक बार भयानक अकाल पड़ा। अन्नके अभावमें लोग तड़प-तड़पकर मरने लगे। गरीब वैश्यपर भी विपत्ति टूट पड़ी। कुछ दिन तो उसने जैसे-तैसे काम चलाया। आखिर परिवारके भरण-पोषणका कोई उपाय न देख, घरवालोंकी कुछ दिनोंके लिये किसी तरह व्यवस्था कर वह निकल पड़ा। उसका एक बचपनका धर्म-मित्र था। वह आसाममें व्यापार करता था। खूब सम्पन्न था। उसका बड़ा व्यापार चलता था। गरीब वैश्यको उसकी याद आ गयी और 'बिपति काल कर सतगुन नेहा' मित्रका यह लक्षण सोचकर वह किसी तरह आसाम पहुँचा। जिस स्थानमें मित्रका कारबार था, वहाँ जाकर उसने मित्रसे भेंट की। उसे पूरा भरोसा था कि मित्रके यहाँ सहज ही आदर होगा और दुःखके दिन अच्छी तरह कट जायँगे। मित्रने उसका स्वागत किया; पर उसके चेहरेपर प्रफुल्लताकी जगह कुछ झुँझलाहटकी-सी, कुछ बोझकी-सी रेखाएँ पड़ रही थीं। गरीब वैश्य तो दुखी था। उसने संक्षेपमें बड़े ही करुण शब्दोंमें अपना सारा किस्सा सुनाकर आश्रयकी भीख माँगी। कहा—'भाई साहेब! घरमें आपकी भाभी और बच्चे भूखों मर रहे

होंगे, उनके लिये आज ही कुछ खर्च भेजना आवश्यक है । साथ ही मेरे लिये भी ऐसे कामका प्रबन्ध होना चाहिये, जिसमें मेरे ये दुःखके दिन निकल जायँ और बच्चोंको प्रतिमास कुछ भेजा जा सके।'

धनी मित्रने लंबी साँस खींचकर कहा—'भाई साहेब ! बात तो ठीक है । मुझे इस समय आपकी कुछ सेवा करनी भी चाहिये, परंतु मेरे यहाँ न तो इतनी आमदनी है कि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ और न आजकल कोई काम ही है, जो आपको दे सकूँ। मूल पूँजीके ब्याजसे, मकानोंके किरायेसे और व्यापारकी आमदनीसे कुल मिलाकर चालीस-पचास हजार रुपये आते होंगे । आप जानते हैं, आजकल महँगी है, फिर अपनी इज्जतके अनुसार खर्च भी करना ही पड़ता है । परिवार है, मुनीम-गुमाश्ते हैं । मुश्किलसे काम चलता है । फिर बताइये, आपका और आपके परिवारका भरण-पोषण करनेकी मुझमें कहाँ शक्ति है ? मुझे खेद है, पर बाध्य होकर कहना ही पड़ता है कि मुझसे इस समय कुछ भी नहीं बन पड़ेगा । आप कोई दूसरा रास्ता सोचें ।'

गरीब वैश्यने उदास होकर कहा—'भाई साहेब ! मैं तो यहाँ किसीको जानता भी नहीं, केवल आपके ही भरोसे आया हूँ । फिर मेरा खर्च ही कौन-सा भारी है । पचास रुपये इस समय राजपूताने भेज दिये जायँ और फिर पचास-साठ रुपये मासिककी मजदूरीका काम मुझे मिल जाय तो काम चल जायगा । कुछ मेरे खर्चमें लग जायगा, बचेगा सो बाल-बच्चोंके लिये भेज दूँगा । जहाँ पचासों हजारकी आमदनी है, वहाँ इतना-सा खर्च आपको भारी नहीं मालूम होना चाहिये । फिर मैं तो काम करके मजदूरीके पैसे लेना चाहता

हूँ।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। मित्रके निराशाजनक वचनोंसे उसे बड़ा सन्ताप हो रहा था। धनी मित्रने उसके चेहरेकी ओर देखा, पर उसका हृदय नहीं पसीजा। उसने फिर कपट-विनयके साथ वही कहा—'भाई साहेब! आपका कहना तो यथार्थ है, पर मैं लाचार हूँ। आपको कोई दूसरा उपाय ही सोचना पड़ेगा। हाँ, दो-चार दिन जबतक आपके कामकी कोई व्यवस्था न हो, आप यहाँ ठहर जायँ। घरमें ही खायें-पीयें। अभी शौच-स्नान करें। भोजन तैयार हो गया होगा।' इतना कहकर धनी मित्र अपने काममें लग गया। गरीब वैश्य बेचारा मन-ही-मन जाने क्या-क्या विचार करता हुआ शौच-स्नानमें लगा।

धनी मित्रका तो रूखा और कंजूस स्वभाव था ही, उसकी पत्नी उससे भी बढ़कर थी। उसे कोई दूसरा सुहाता ही नहीं था। पति तो सभ्यतावश कहीं-कहीं कुछ सह भी लेता था, परंतु पत्नी तो पतिको भी फटकार देती थी। घरपर आये हुए बचपनके परिचित मित्रको सभ्यतावश भोजन करवाना ही होगा। उसने अंदर जाकर पत्नीसे कहा—'राजपूतानेसे मेरे एक पुराने धर्ममित्र आये हैं। उन्हें भोजन कराना है। जहाँतक हो सके, उनके लिये अच्छी चीजें बनाकर आदरपूर्वक खिलाना चाहिये। मित्र हैं, फिर अतिथि हैं।' परम्परासे अतिथिसत्कारकी बात सुनी हुई थी; पत्नी झुँझला न उठे, इसलिये उसने यह दलील भी सामने रख दी। किंतु उसपर इसका क्या प्रभाव पड़ता। उसने तड़ककर कहा—'भाड़में जायँ आपके ये मित्र और अतिथि; चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरी तो आँखें फूटने लगीं। आज मित्र, कल अतिथि, परसों व्यापारी—रोज एक-

न-एक आफत लगी ही रहती है । मैं तो तंग आ गयी इस गृहस्थीसे । मुझसे यह सब नहीं होगा, अपना दूसरा प्रबन्ध कीजिये ।' पतिने सकुचाकर चुपके-से कहा—'अरी ! जरा धीरे तो बोलो, वे बाहर ही खड़े हैं, सुन लेंगे तो उन्हें बड़ा दुःख होगा ।' उसने झल्लाकर कहा—'तो और भी अच्छा होगा, जल्दी बला टलेगी ।' पतिने उसकी कुछ बड़ाई करके किसी तरह मनाकर कहा—'देखो ! मैंने पहले ही उनसे कह दिया है कि मेरे पास काम नहीं है, आप दूसरा उपाय सोचिये; दो-चार दिनोंमें वे चले जायँगे । इतने दिन किसी तरह अपनी इज्जतके अनुसार उनको भोजन तो कराना ही चाहिये ।' पत्नीने बात मान ली और भोजन बनाया; परंतु मनमें कष्ट तो बना ही रहा । अस्तु,

भोजन तैयार होनेपर गरीब अतिथिको साथ लेकर धनी मित्र अंदर आया तो पत्नीने कहा—'पहले अपने मित्रको भोजन करा दीजिये, क्योंकि अतिथिको पहले भोजन कराना धर्म है, पीछे आप कर लीजियेगा ।' पतिने यह बात मान ली और अतिथिको अच्छी तरह भोजन कराया गया । भोजनमें चीनी डाली हुई बढ़िया खीर, पूरी, दही और कई तरहकी तरकारियाँ थीं; परंतु भोजन करानेवालोंके चेहरेपर कोई उल्लास या मिठास नहीं था । वहाँ प्रत्यक्ष रूखापन तथा विषाद था । माॡम होता था वे किसी आफतमें आ पड़े हैं और उन्हें बिना मन यह सब करना पड़ रहा है । गरीब अतिथिने चुपचाप भोजन तो कर लिया, परंतु उनकी मुखमुद्रा देखकर उसे सुख नहीं मिला । सुख तो प्रेममें ही समाया होता है । भोजन करनेके बाद वह लघुशङ्काके लिये बाहर गया, इधर घरकी मालकिनने

अपने पतिके लिये भोजन परोसा। इसमें बहुत-सी ऐसी चीजें थीं, जो अतिथिसे छिपाकर रक्खी गयी थीं। वह बेचारा लघुशङ्का करके अंदर हाथ धोने आया और इच्छा न रहनेपर भी सहज ही धनी मित्रकी भोजनकी थालीकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी। उसने देखा, बादामका हलुआ है। एक कटोरेमें खीरकी मलाई और दूसरेमें दहीकी मलाई है। बहुत बढ़िया खूब फूले हुए पतले-पतले फुल्के हैं, जिनपर ताजा मक्खन लगाया गया है। गोभी-परवलकी कई और तरकारियाँ तथा कई तरहके अचार रक्खे हैं। यह सब देखकर उसकी समझमें स्पष्ट यह बात आ गयी कि इसी विषमताके कारण मुझे इसके साथ भोजन नहीं कराया गया था। वैषम्यजनित सन्ताप और भी बढ़ गया और वह चुपचाप हाथ धोकर बाहर चला गया।

रात्रिका समय हुआ तो धनी मित्रने पत्नीसे पूछा—'अतिथिके सोनेका प्रबन्ध कहाँ करना चाहिये?' स्त्रीने झुँझलाकर कहा—'मेरे सिरपर, भला यह भी कोई पूछनेकी बात है? जहाँ सुविधा हो, वहीं कर दिया जाय। घरमें आकर तो वह सोनेसे रहा।' पतिने कहा—'अच्छी बात है। बाहर गद्दीमें वे सो जायँगे; पर वहाँ मच्छर बहुत ज्यादा हैं, बेचारेको नींद नहीं आवेगी। दो दिनके लिये मछहरी दे दो तो अच्छा हो।' उसने तड़ककर कहा—'मेरे पास तो एक मछहरी है; आप लगा लें, या उसके मूँड मार दें।' पत्नीके स्वभावको वह जानता था। अधिक बात बढ़ाना हितकर न समझकर चुपचाप बाहर चला आया और अतिथि मित्रसे कहने लगा—'भाई साहेब! गद्दी-तकिये लगे ही हैं; आप यहीं सो जाइये।

यहाँ सुविधा रहेगी।' उस बेचारेने विनय-विनम्र शब्दोंमें स्वीकार किया। सेठ अंदर चले गये और वह वहीं सो गया। गरमीकी मौसिम था; मच्छर तो थे ही, गद्दी-तकियोंमें खटमलोंकी भी कमी नहीं थी। लेटते ही कतार-की-कतार निकलकर उन्होंने उसपर आक्रमण आरम्भ किया। खटमलोंको चुन-चुनकर फेंकने और मच्छरोंके उड़ानेमें ही रात बीत गयी। बेचारा घड़ीभर भी सुखकी नींद नहीं सो सका।

दूसरे दिन सबेरे वह घरसे निकलकर बाजारकी ओर गया। चौराहेपर पहुँचते ही उसे अपने गाँवका एक परिचित मनुष्य दिखायी दिया। उसने भी इनको देख लिया। वह बहुत गरीब था, पर था बड़ा सहृदय। देखते ही दौड़कर पास आया और बड़े प्रेम तथा उल्लाससे पूछने लगा—'भाई साहेब! आप यहाँ कब आ गये? मुझे कोई खबर ही नहीं दी। आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा। खबर होती तो स्टेशन चला आता। यहाँ पहुँचकर भी आपने कोई संदेशा नहीं भेजा। बताइये आप ठहरे कहाँ हैं? चलिये, घरपर। मैं सामान लेता आऊँगा। मेरा बड़ा भाग्य है जो आपसे मिलना हो गया। विदेशोंमें भला घरके प्रेमी पुरुष कहाँ मिलते हैं?'

उसकी सच्चे प्रेमसे सनी हुई वाणी सुनकर गरीब बेचारेका हृदय द्रवित हो गया। उसे बड़ा आश्वासन मिला, मानो डूबतेको सहारा मिल गया। उसने अपने आनेका सारा कारण कह सुनाया और कहा कि 'सामानमें तो मेरे पास एक धोती-गमछा, एक सतरंजी और लोटा मात्र है। वह उन सेठजीके यहाँ रक्खा है।' उस गरीब भाईने कहा—'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं। यदि आप मुझे अपना मानते हैं तो आपको अपने घरपर आ जाना चाहिये।

घरमें आरामसे रहिये; जो कुछ रूखा-सूखा घरमें बनता है, आनन्दसे खाइये। मैं फुटकर चीजोंकी खरीद-बिक्रीका काम करता हूँ। दो रुपये रोज कमा लेता हूँ। अकेला हूँ। आप रहेंगे तो हमलोग दो हो जायँगे। दुगुना काम होगा तो आमदनी भी दो-ढाई गुनी होने लगेगी। मेहनत और सचाईका काम है। जितनी मेहनत, उतनी बरकत। पचास रुपये मासिक तो आप घर भेज ही देंगे। अधिकके लिये भी कोशिश की जायगी। आप घबरायें नहीं। भगवान् गरीबोंकी सुनेगा ही। पचास रुपये तो मेरे पास पहलेके रक्खे हैं, इन्हें तो आज ही घर भेज दें।' यों कहकर वह उसे अपने घर ले गया। छोटा-सा टीनसे छाया मिट्टीका घर था साफ-सुथरा। और उसमें बाहर छोटी-सी दूकान थी। जाते ही उसने पचास रुपये निकाले और उनका तुरंत मनीआर्डर कर दिया। उस समय बेचारे अकालपीड़ितको कितना सुख और आश्वासन मिला, यह कहा नहीं जा सकता। फिर वह गरीब दूकानदार सेठके यहाँ जाकर उसका सामान ले आया।

घर लौटनेपर उसने अपनी पत्नीसे कहा—'अपने देशके एक सज्जन आये हैं। अपने परिचित भी हैं। उनके लिये भोजन बनाओ।' साध्वी पत्नीने प्रसन्न होकर कहा—'बड़े भाग्य हैं हमारे जो आज अपने देशके सज्जन आये हैं। हमलोग भी धन्य हैं; जो भगवान्ने हमें ऐसा सुअवसर दिया।' उसने बड़े प्रेमसे रसोई तैयार की। उस समय चावल सस्ते थे। मोटे चावल बने, मामूली पत्तियोंकी तरकारी, रूखी जौ-चनाकी रोटियाँ और मट्ठा। घरवालीने दोनोंको बड़े आदरके साथ बिना किसी भेदके समानभावसे भोजन

कराया। बल्कि अतिथिको बार-बार बड़े प्रेमसे आग्रह करके वह परस रही थी। आज उसे भोजन करनेमें बड़ी तृप्ति मिली। बड़ा सुख मिला। प्रेमकी सूखी रोटीमें जो आनन्द है, प्रेमरहित मेवा-मिष्टान्नमें वह कदापि नहीं है। खा-पीकर दोनों दूकानका काम देखने लगे।

रातको अपने सम्मान्य अतिथिके सोनेके लिये उस गरीब दूकानदारने एक मूँजकी बुनी पुरानी चारपाई, जो उसने तीन रुपयेमें खरीदी थी, डाल दी। उसपर टाटके बोरे बिछा दिये। मच्छरोंसे बचानेके लिये उसकी स्त्रीने अपनी महीन मलमलकी पुरानी ओढ़नी चार बाँसकी पट्टियाँ खड़ी करके उनपर तान दी। अकालपीड़ित भाईको पहली रातकी नींद थी ही। चारपाईपर लेटते ही उसे गाढ़ी नींद आ गयी। रातभर वह बड़े सुखसे सोया। सारी थकावट दूर हो गयी।

तीन-चार दिनोंके बाद एक दिन रास्तेमें धनी मित्रके साथ अकालपीड़ित भाईकी भेंट हो गयी। धनी मित्रने सभ्यतासे पूछा—'क्यों, कहीं कामकी व्यवस्था हुई? कहाँ रहते हैं? खाने-पीनेको मिल रहा है न?' उसने कहा—'बहुत अच्छी व्यवस्था हो गयी है। मैं अपने देशके अमुक दूकानदार भाईके घर रहता हूँ, पति-पत्नी दोनों बड़े ही सज्जन हैं। दूकानमें मेरा आधा हिस्सा कर दिया है। पचास रुपये तो उसी दिन घर भिजवा दिये और भविष्यके लिये यह आश्वासन दिया है कि भोजनकी तो कोई बात ही नहीं, घरमें एक साथ करेंगे ही। कम-से-कम पचास रुपये प्रतिमास बाल-बच्चोंके लिये घर भेज दिये जायँगे। खाने-पीनेकी भी बड़ी अच्छी व्यवस्था है। उसके यहाँ अमृततुल्य भोजन करके मुझे बड़ी ही तृप्ति मिलती है।

उनका इतना ऊँचा प्रेमभरा समताका व्यवहार है कि मैं तो उसे जीवनभर नहीं भूल सकता।' उसकी इन बातोंको सुनकर मानो सेठके गर्वपर कुछ ठेस-सी लगी। पर सच्ची बात थी। उसे अपने बर्तावका पूरा पता था। बोलता भी क्या। एक बात सूझी, उसे बड़ा गर्व था कि हमारे घर बड़ा बढ़िया भोजन बनता है। बढ़िया सजा-सजाया मकान है; गद्दी-तकिये, झाड़-फानूस लगे हैं। उस गरीबके यहाँ ऐसी चीजें कहाँसे होंगी? अतएव उसने अपनी बात ऊँची रखने तथा उस गरीब दूकानदारकी निन्दा करनेकी इच्छासे कहा—'वहाँ आपको भोजन क्या मिला होगा। वही मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटी, घास-पातकी तरकारी और सोनेको कहीं खाली जमीन या बहुत हुआ तो कोई पुरानी चारपाई मिली होगी। उस कँगलेके यहाँ और रक्खा ही क्या है। यहाँके बढ़िया भोजन और सजे-सजाये हुए घरको छोड़कर आप वहाँ गये, अब तो मनमें पछताते होंगे।' उसने हँसकर कहा—'भाई साहेब! आप अपने घरमें बड़े धनी हैं। आपके यहाँ गद्दी-तकिये हैं, झाड़-फानूस लगे हैं। सजा-सजाया मकान है। मेरे लिये तो ये सब विषके समान हुए। बढ़िया भोजन भी बनता है। परंतु मुझे इससे क्या। आपके यहाँ मुझे न तो खानेका सुख मिला, न सोनेका ही। मैं तो खटमल, मच्छरोंसे तंग आ गया। रातभर नींद नहीं आयी। मेरे लिये तो वह मूँजकी चारपाई, टाटका बिछौना और पुरानी ओढ़नीकी मछहरी ही परम सुखप्रद है, जिनसे मैं रातको बड़े सुखसे सोता हूँ। भोजनकी तो मैं क्या कहूँ। वहाँ मुझे उन मोटे चावलों, रूखी रोटियों और पत्तीकी तरकारीमें जैसा सुख मिलता है,

वैसा कहीं नहीं मिला। आपका भोजन तो विषवत् था और उसका साक्षात् अमृतके सदृश है। आपलोगोंके मनमें बोझ-सा था। आप मेरे आनेको आफत मानते थे और मनमें विषमता भरी थी। महात्मा लोग कहा करते हैं कि 'विषमता ही विष है और समता ही अमृत है।' अतः आपके मेवा-मिष्टान्न भी विषमताके कारण विषतुल्य थे और उसके रूखे-सूखे भोजनमें समता होनेसे वह अमृतके तुल्य है। इतना ही नहीं, उसका बर्ताव भी अमृतके समान है। आपके पास लाखों रुपये हैं और लाखोंकी ही आमदनी है तथा आप मेरे बचपनके धर्ममित्र भी हैं; पर आपने मेरे भूखसे बिलबिलाते बच्चोंके लिये न तो कुछ भेजना स्वीकार किया और न मेरे लिये पचास-साठ रुपये वेतनकी नौकरी ही दी। और उस बेचारे गरीब दूकानदारने, जिससे मेरा केवल एक गाँवके होनेके नाते साधारण परिचयमात्र था, गरीब निर्धन होते हुए भी मुझे आश्रय दिया। मेरी सहायता की। पचास रुपये तुरंत घर भिजवा दिये। मुझे अपने काममें बराबरका हिस्सेदार बना दिया। बतलाइये, मैं उसके उपकारको कैसे भूल सकता हूँ? और उसने यह जो किया सो भी उपकारकी भावनासे नहीं। विशुद्ध प्रेमसे और कर्तव्यकी भावनासे। वह मेरे ऊपर अहसान नहीं करता, बल्कि मुझे सुख पहुँचाकर वह उलटे मेरा कृतज्ञ होता है और इसमें अपनेको धन्य मानकर सुखी होता है। उसकी धर्मपत्नीका भी ऐसा ही ऊँचा भाव है। उन दोनोंके चेहरोंपर इसीलिये प्रफुल्लता और उल्लास चमकते-दमकते रहते हैं।'

धनी मित्रने पूछा—'मेरे यहाँ आपको किस बातमें विषमता दिखलायी दी और उसके यहाँ समता कैसे थी?' इसपर उसने

कहा—'आपके यहाँ मुझे बहुत बढ़िया भोजन-पदार्थ मिले, इसमें कोई सन्देह नहीं।' परंतु मेरे लिये वे विषके तुल्य हो गये। आपको स्मरण होगा, मुझे अतिथि बतलाकर पहले अकेले भोजन कराया गया। भोजन करनेपर मैं लघुशङ्काके लिये बाहर गया। मैं हाथ धोनेके लिये लौटा तो मेरी दृष्टि आपके भोजन-पदार्थोंकी ओर चली गयी। मैंने देखा आपके लिये बादामका हलुआ, मक्खन, पतले-पतले फुलके, खीर, दहीकी मलाइयाँ, गोभी-परवल आदिकी तरकारियाँ और अचार आदि रक्खे हैं। ये सब चीजें मुझे नहीं परोसी गयी थीं। मुझे इनके खानेका शौक नहीं है, परंतु इस विषमताको देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं समझता हूँ आपको ये चीजें विशेष-रूपसे खिलानी थीं, इसीलिये आपकी धर्मपत्नीने 'अतिथिको पहले भोजन करानेका' बहाना करके आपको पीछे अलग जिमाना चाहा था। ऐसा भेद न करके मुझे भी आपके साथ ही भोजन कराया जाता तो क्या होता? कुछ पैसे ही तो अधिक खर्च होते। आपने भी इस बातपर कुछ भी विचार नहीं किया और पत्नीका प्रस्ताव मान लिया। धर्ममित्रके साथ ऐसा बर्ताव क्या कलङ्क नहीं है? इसी विषमताके कारण आपका भोजन विषवत् था।

'उधर उसका व्यवहार देखिये। वह बेचारा बड़ा गरीब है; पर उसकी पत्नीने मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटियाँ, पत्तियोंकी तरकारी और छाछ—जो कुछ घरमें था, हम दोनोंको एक साथ बैठाकर समान भावसे बड़े आदर-प्रेम तथा उल्लासके साथ भोजन कराया। रातको सोनेके लिये अपने सोनेकी एकमात्र चारपाई डाल दी। बिछानेके लिये टाट दे दी और मच्छरोंके उपद्रवसे बचनेके

लिये अपनी ओढ़नीकी मछहरी तान दी। उसके ऐसे निष्काम प्रेम और समताके व्यवहारने मुझपर जो प्रभाव डाला, उसे मैं ही जानता हूँ। मैं तो वहाँ इसीलिये अमृत-ही-अमृत पाता हूँ और उसके व्यवहारका स्मरण करके बार-बार प्रफुल्लित और हर्षसे गद्गद हो जाता हूँ।'

धनी मित्रने बहाना करके कहा—'मैं बीमार रहता हूँ। मुझे मन्दाग्नि हो रही है, इसीसे वैद्यने मुझे ये चीजें खानेको बता रक्खी हैं।' इसपर उसने कहा कि 'प्रथम तो मन्दाग्निकी बीमारीमें ये चीजें खानेको दी नहीं जातीं और यदि ऐसा हो भी तो मुझे भी वे चीजें परसी जातीं तो क्या हानि थी ?'

धनी मित्रके पास कोई उत्तर नहीं था। वह अत्यन्त लज्जित होकर अपनी व्यवहार-विषमता तथा प्रेमहीनताके लिये मन-ही-मन पछताने लगा और सिर नीचा करके वहाँसे चल दिया!

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इससे हमको यह सीखना चाहिये कि सबके साथ प्रेम और विनयसे युक्त त्याग तथा उदारताका बर्ताव करें। खान-पानादि व्यवहारमें पूर्ण समता रक्खें। इसका यह अर्थ नहीं कि विधर्मी और विजातीय पुरुषोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर उन-जैसा ही निषिद्ध आहार करें। भाव इतना ही है कि विधर्मी और विजातीय कोई भी क्यों न हो, सबको यथायोग्य शास्त्रानुकूल आदर-सत्कारपूर्वक, विनय और प्रेमपूर्वक बिना किसी भेद-भावके वही भोजन करावें जो अपने लिये बनाया गया हो और पहले उनको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करें। नीयत शुद्ध होनी चाहिये अर्थात् मनमें जरा भी वैषम्य नहीं होना चाहिये!

जीवन-सुधार

मनुष्यको अपना जीवन सदाचारमय बनाना चाहिये। यह मानव-जीवन बड़ा ही अमूल्य है। मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सब प्रकारसे उत्थान करे और पतनके मार्गमें तो कभी भूलकर भी पैर न रक्खे। भगवान् गीतामें कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(६।५)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

परंतु आजकल अधिकतर पतनकी ओर ही प्रवृत्ति होती जा रही है। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे हमारा उत्तरोत्तर पतन होता जा रहा है और वर्तमान कालमें तो बहुत ही पतन हो गया है। लोगोंमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी

और चोरबाजारी इतनी बढ़ गयी कि प्रतिशत एक व्यक्ति भी शायद ही इससे अछूता रहा हो।

परन्तु जो मनुष्य अन्यायसे धनोपार्जन करता है, वह न तो जीते-जी उस धनका भोग ही कर सकता है और न उसे पुण्य-दानमें ही लगा सकता है; क्योंकि पापसे पैदा किये हुए द्रव्यका पुण्यमें लगना असम्भव-सा है, वह तो अधिकांशमें पापमें ही लगता है। बबूलके वृक्षमें तो काँटे ही लगते हैं, उसमें आम कहाँ। अतः पापसे उपार्जित द्रव्यसे न इस लोकमें लाभ है और न परलोकमें ही। वह धन या तो मुकद्दमेबाजीमें लगकर नष्ट हो जाता है या किसी कारणसे सरकारके अधिकारमें चला जाता है अथवा चोर-डाकुओंके हाथोंमें पड़कर पूरा हो जाता है। यदि रहता भी है तो प्रायः उसका दुरुपयोग ही होता है। इसलिये अन्यायसे कभी पैसा पैदा नहीं करना चाहिये। न्यायोपार्जित द्रव्यसे खानेके लिये एक मुट्ठी चना ही मिले तो वह भी मेवा-मिष्टान्नोंसे बढ़कर है। यदि अन्यायसे मेवा-मिष्टान्न भी मिलें तो उन्हें विषके समान समझना चाहिये। शरीरका निर्वाह ही तो करना है। वह तो मेवा-मिष्टान्नसे भी होता है और चनोंसे भी हो सकता है। हम यदि चने-बाजरेकी रोटी खा लें तो क्या और मेवा-मिष्टान्न खा लें तो क्या; आखिर तो सब चीजोंकी एक ही गति होनी है। अतः मनुष्यको इन सब बातोंको विचारकर अन्यायका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये तथा अपना जीवन सब तरहसे सुधारकर पवित्र बनाना चाहिये।

समाजमें इस समय बहुत-सी कुरीतियाँ बढ़ी हुई हैं, उनका

भी सुधार करना चाहिये तथा जो फिजूलखर्ची बढ़ी हुई है, उसे घटानेकी कोशिश करनी चाहिये।

दहेजकी प्रथा तो बिल्कुल ही तोड़ देनी चाहिये; यदि बिल्कुल न टूट सके तो बहुत संक्षिप्त, केवल नाममात्रको रखनी चाहिये। दहेज लेना एक बहुत ही निन्दनीय कर्म है। दहेज न दे सकनेके कारण बहुत-से गरीब भाई दुखी और संतप्त हो रहे हैं। इसलिये बहुत-सी लड़कियाँ तो अपने माता-पिताके इस दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं और बहुत-से माता-पिता भी यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसके मरनेकी ही बाट देखते हैं तथा मरनेपर बाहरसे शोक प्रकट करते हुए भी भीतरसे प्रसन्न ही होते हैं। उनकी आत्महत्या और मृत्युके पापका भागी दहेज लेनेवाला ही होता है। दहेज लेनेवालेको कोई विशेष लाभ भी नहीं होता। क्योंकि जो दहेज लेता है, उसे भी कभी देना ही पड़ता है; वह तो दहेज लेकर केवल अपयश और पापका ही भागी बनता है। इसलिये दहेजको एक प्रतिग्रहके समान समझकर अथवा रक्तसे सना हुआ द्रव्य मानकर उसका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये।

सगाई, विवाह, द्विरागमन आदिके अवसरपर बुरे गीत गाना, हँसी-मजाक करना—ये सब बहुत ही हानिकारक कुरीतियाँ हैं। इनको भी बंद करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इनसे नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सब प्रकारका पतन होता है!

लड़का पैदा होनेके समय या दीपावलीपर लक्ष्मी-पूजनके

समय अथवा अन्य किसी समय भी चौपड़, ताश, शतरंज, जुआ आदि खेलना पापकी जड़ है तथा समाजको कलङ्क लगानेवाला काम है । इस प्रथाको भी उठा देना चाहिये ।

विवाहके अवसरपर जुआ, आतिशबाजी, नाटक-सिनेमा, कुरुचिपूर्ण खेल-तमाशे, कलाके नामपर युवती-नृत्य, बनोरी निकालना आदि सब प्रमाद हैं । इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा खातिरदारीमें विदेशी ढंगसे और अपवित्र वस्तुएँ आदि देना व्यर्थ खर्च करना है; इन सबको बंद कर देना चाहिये । परंतु आजकल तो प्रायः रोज ही लोग नाटक-सिनेमा, थियेटर, खेल-तमाशे, क्लब आदि प्रमादमें अपना समय और धन बर्बाद करते हैं । इस प्रकार प्रमादमें व्यर्थ खर्च करना बड़ी मूर्खता है । इस प्रमादसे समय और धनको बचाकर उसे दीन-दुखी, गरीब, अनाथ, शरणार्थी और विधवाओंकी सेवामें लगाना चाहिये, जिससे इस लोक और परलोकमें कल्याण हो ।

मिथ्या वहमका भी परित्याग करना चाहिये । डोरा-यन्त्र कराना, झाड़ा फुँकवाना, आखा दिखाना, पीर, फकीर, भैरव आदिके यहाँ जात-झडूला बोलना—ये सब धूर्तोंके चलाये हुए पाखण्ड हैं । समझदार स्त्री-पुरुषोंको इनके फंदेमें फँसकर अपने बुद्धि और विवेकको मिट्टीमें नहीं मिलाना चाहिये ।

मनुष्यको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये । शरीरमें वीर्य ही एक प्रधान सार वस्तु है, इसकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये । इसके नाशसे मनुष्यके बल, बुद्धि, आयु,

तेज और ओजका ह्रास होकर उसका यह लोक तथा परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं और इसके संरक्षणसे बल, बुद्धि, तेज एवं ओजकी वृद्धि होकर उसके दोनों लोक सुधर जाते हैं। इसलिये परस्त्रीके दर्शन, चिन्तन, स्पर्शका तो त्याग कर ही देना चाहिये; यदि किसी कार्यसे आवश्यक बात करनी पड़े तो नीची दृष्टि रखकर माता-बहिन समझते हुए ही सम्भाषण करना चाहिये। लड़के-लड़कियोंका स्पर्श तथा चुम्बन भी कभी नहीं करना चाहिये तथा ऐश-आराम-भोगकी वस्तुओंको, शृङ्गार-शौकीनीको इस विषयमें खतरनाक जानकर इनसे बहुत ही दूर रहना चाहिये।

इसी प्रकार सत्यके पालनपर भी खूब ध्यान देना चाहिये। आजकल लोग सत्यका महत्त्व भूल गये हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह सत्यका महत्त्व समझे और उसका दृढ़तासे पालन करे। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योग० २। ३६)

भाव यह है कि सत्यकी प्रतिष्ठा होनेपर मनुष्य जो कुछ कह देता है, वही सत्य हो जाता है। अर्थात् जो आदमी कभी झूठ नहीं बोलता, वह किसीको यदि कुछ शाप, वरदान या आशीर्वाद दे देता है तो वह सिद्ध हो जाता है। श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें इसके जगह-जगह उदाहरण मिलते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद्में कथा आती है कि शकलके पुत्र शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे कई इधर-उधरके प्रश्न किये। अन्तमें याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि 'अब मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ;

तू यदि उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जायगा।' शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक धड़से अलग हो गया (३ । ९ । २६)।

श्रीमद्भागवतमें आता है कि एक बार राजा परीक्षित्‌ने शमीक ऋषिके गलेमें मरा हुआ साँप डाल दिया; इससे कुपित होकर ऋषिकुमार शृङ्गीने राजाको शाप दे दिया कि 'आजसे सातवें दिन राजाको तक्षक सर्प डस जायगा।' उनका वह वचन सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ (प्रथम स्कन्ध अध्याय १८)।

महाभारतकी कथा है कि यमराजने सावित्रीको यह वरदान दिया कि तुम्हारे एक सौ पुत्र होंगे। उसके अनुसार सावित्रीके एक सौ पुत्र हुए (वनपर्व अध्याय २९७; २९९)। राजा शन्तनुने अपने पुत्र भीष्मको यह आशीर्वाद दिया कि 'तुमको मृत्यु नहीं मार सकेगी, तुम इच्छामृत्यु होओगे' और वास्तवमें ऐसा ही हुआ (आदिपर्व अध्याय १००; अनुशासनपर्व अध्याय १६७-१६८)।

इसी तरह शास्त्रोंमें अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसलिये मनुष्यको सत्यके पालनमें खूब दृढ़ रहना चाहिये। किंतु सत्य ऐसा होना चाहिये कि जिसमें न कपट हो और न हिंसा ही हो; वही असली सत्य है।

महाभारत, द्रोणपर्वके १९० वें अध्यायमें आया है कि एक बार द्रोणाचार्यने राजा युधिष्ठिरसे पूछा कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया या नहीं, इसके उत्तरमें युधिष्ठिरने कहा कि अश्वत्थामा मारा गया, पर हाथी मारा गया। इस वाक्यमें उन्होंने 'हाथी मारा

गया' ये शब्द धीरेसे कहे। इस दोषके कारण ऐसे सत्यवादी राजा युधिष्ठिरके भी ये वचन सत्य नहीं समझे गये।

इसी प्रकार महाभारत, कर्णपर्वके ६९ वें अध्यायमें यह कथा आती है कि एक बार कुछ मनुष्य चोर-डाकुओंके डरसे जंगलकी ओर भाग गये। उस रास्तेमें एक सत्यवादी मुनि निवास करते थे। थोड़ी ही देरमें जब चोर-डाकू वहाँ आये, तब उन्होंने उन मनुष्योंका पता न पाकर उन मुनिसे पूछा कि वे मनुष्य किधर गये हैं। मुनिने सत्य बात बतला दी कि वे इस सघन वनमें घुसे हैं। इससे चोर-डाकुओंने उसी रास्तेसे जाकर उन मनुष्योंको पकड़ लिया और मार डाला। इस हत्याका दोष उन मुनिको लगा।

इसलिये जिसमें न कपट हो और न हिंसा हो, वही असली सत्य है। ऐसे सत्यकी ही शास्त्रोंमें महिमा गायी है।

यह तो सत्य वचनकी बात हुई। फिर जिसका व्यवहार भी सत्य हो और भाव भी सत्य हो, उसकी तो बात ही क्या है। क्योंकि सद्व्यवहार और सद्भावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यज्ञ, दान, तप आदि जो उत्तम कर्म हैं और जो उत्तम भाव हैं तथा जो भगवदर्थ कर्म हैं, वे सब सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे 'सत्' कहे जाते हैं। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(१७। २६-२७)

" 'सत्' इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक 'सत्' ऐसे कहा जाता है ।"

इतना ही नहीं, वास्तवमें 'सत्' साक्षात् भगवान्का स्वरूप ही है । इसलिये भगवान्के नामोंमें 'सत्' भगवान्का एक नाम है । भगवान् कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

(गीता १७ । २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ।' श्रुति भी कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तैत्ति० २ । १ । १)

'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है ।'

इसलिये सत्यका सेवन भगवान्का सेवन है, सत्यकी उपासना भगवान्की उपासना है और सत्यका आश्रय भगवान्का आश्रय है । मनुष्यको चाहिये कि वह सत्यको अपना जीवन, प्राण और साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मनसा-वाचा-कर्मणा उसका पालन करे । आचरण भी सत् बनाना चाहिये । जिसको हम सदाचार

कहते हैं, उसीको उत्तम कर्म तथा सद्व्यवहार कहते हैं। वाणी भी सत्य ही होनी चाहिये। हिंसा और कपटसे रहित यथार्थ भाषण ही सत्य वाणी है। तथा भाव भी सत्य ही होना चाहिये। जिसको हम उत्तम नीयत कहते हैं, उसका नाम सद्भाव है। समता, सन्तोष, शान्ति, सरलता आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक दैवी-सम्पदाके सात्त्विक सद्गुण हैं, वे सभी सद्भाव हैं। ये परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण तत्परतासे धारण करनेयोग्य हैं। अतः हमको भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि चराचर जीव-मात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर अपने तन, मन, धनसे उनकी सेवा करे। इस प्रकार जो सेवा करता है, वह भगवान्‌का सच्चा भक्त है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि परमात्मा सर्वव्यापक हैं, सबमें विराज-मान हैं। इसलिये अपने आचरणोंके द्वारा सबकी सेवा करना भगवान्‌की सेवा है। अतः चराचर प्राणिमात्रको नारायणका स्वरूप समझकर श्रद्धा, भक्ति और आदरके साथ मन, वाणी और क्रियासे

तत्परतापूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये । मनसे सबका हित-चिन्तन करना मनके द्वारा सेवा करना है; जिससे सबका हित हो, ऐसा सत्य और प्रिय वचन बोलना वाणीके द्वारा सेवा करना है और शरीर-इन्द्रियद्वारा सेवा करना क्रियासे सेवा करना है। सदा मनमें यह भाव रखना चाहिये कि हमारा तन, धन, वाणी, मन—सब जगत्‌रूप जनार्दनकी सेवाके लिये है । इस भावसे जगज्जनार्दनकी सेवा करना ही उनकी अनन्य भक्ति है । तुलसीकृत रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीसे भेंट होते समय कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(किष्किन्धाकाण्ड)

'हे हनुमान् ! अनन्य भक्त वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्‌का रूप है ।'

भगवान् ही सबके उपादान तथा निमित्त कारण हैं,* इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है । मनुष्यको प्रत्येक क्रियामें भगवद्भाव रखना चाहिये । हवन करते समय यह समझना चाहिये कि मैं जो अग्निमें आहुति दे रहा हूँ, इसको स्वयं भगवान् ही भोग लगा रहे हैं । इसी प्रकार गौको घास खिलाते समय यह

* जैसे घड़ेका उपादानकारण मिट्टी और निमित्तकारण कुम्हार होता है, उसी प्रकार इस समस्त जगत्‌के एकमात्र भगवान् ही उपादान और निमित्त कारण हैं ।

समझना चाहिये कि भगवान् ही गौके रूपमें घास खा रहे हैं; वृक्षोंमें पानी देते समय समझना चाहिये कि भगवान् ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं; अतिथि-अभ्यागतको भोजन कराते समय यह समझना चाहिये कि भगवान् ही इस रूपमें आकर भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार स्थावर-जङ्गम यावन्मात्र प्राणियोंमें भगवद्बुद्धि करके उपर्युक्त विधिसे उनकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जो सबको अपना इष्टदेव समझकर सबके हितमें रत रहता है, वह भगवान्को ही प्राप्त होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२।४)

जो ऐसा समझता है, उससे किसीका किञ्चिन्मात्र भी कभी अहित तो हो ही नहीं सकता। भला बताइये, वह मनुष्य मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकारसे भी कभी किसीको जरा भी कष्ट दे सकता है ? कभी नहीं। क्योंकि उसकी तो सबमें भगवद्बुद्धि हो जाती है और इसके फलस्वरूप उसकी वह स्थिति हो जाती है, जो कि भगवान्ने गीतामें इस श्लोकसे व्यक्त की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसलिये मनुष्यको इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये

सब प्रकारसे स्वार्थका त्याग करके कटिबद्ध हो जाना चाहिये। वास्तवमें स्वार्थ ही मनुष्यको इससे वञ्चित रखनेवाला है। स्वार्थसे ही उपर्युक्त दोष आते हैं अर्थात् स्वार्थ ही समस्त दोषोंकी जड़ है। इसका नाश हो जानेपर स्वतः ही सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। अतः दूसरोंके साथ या स्वजनोंके साथ भी जो अपना स्वार्थका भाव है, उसे सर्वथा हटाकर सब प्रकारसे सबके हितमें रत रहना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया, पदार्थ और प्राणीके साथ किसी भी प्रकारका स्वार्थसिद्धिका भाव न रखकर सदा निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। निःस्वार्थ सेवा करनेवालेको ये दो वशीकरण मन्त्र सदा याद रखने चाहिये। एक तो यह कि दूसरोंके गुण गावे, अवगुण नहीं; और दूसरा यह कि दूसरेके हितकी सदा चेष्टा रक्खे। ऐसा आचरण करनेसे सब लोग उसके अनुकूल हो जाते हैं और उसका परमार्थ भी सिद्ध हो जाता है।

अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त बातोंपर ध्यान देना चाहिये और भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी कभी काम-क्रोध, लोभ-मोह, स्वार्थ या भयके वशीभूत होकर अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब सांसारिक पदार्थ एवं जीवन क्षणिक हैं और धर्म तथा धर्मके साथ जो सम्बन्ध है, वह नित्य है। बुद्धिमान् पुरुषको अनित्य वस्तुके लिये नित्य वस्तुका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। याद रखना चाहिये कि मरनेके बाद धन, ऐश्वर्य, कुटुम्बकी तो बात ही क्या है, आपका यह शरीर भी आपके साथ जानेका नहीं। जिन वस्तुओंके लिये आप नाना प्रकारके पाप

करते हैं, वे तो आपकी जीते-जी भी मदद नहीं कर सकतीं, फिर मरनेके बादकी तो बात ही क्या ! आपको विचार करना चाहिये कि यह मनुष्य-जीवन बहुत ही स्वल्प है, पर है बहुत मूल्यवान् । इसलिये मनुष्यजन्म पाकर भोग-विलास, ऐश-आराममें अपना जीवन वृथा नहीं गँवाना चाहिये; बल्कि मन, इन्द्रियोंका संयम करके परोपकार और ईश्वरभक्तिमें बिताना चाहिये, जिससे आत्माका कल्याण हो। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(९ । ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

ईश्वर हैं, ध्रुव हैं । वे चेतन हैं, जड नहीं । वे सत्य, धर्म और न्यायके पोषक हैं । जहाँ सत्य, धर्म, न्याय और नीति है, वहीं परमात्मा प्रत्यक्ष हैं । ऐसा दृढ़ निश्चय करके नीति, धर्म और सत्यका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये । और उस सर्वशक्तिमान् परमात्मापर निर्भर रहना चाहिये, जिस प्रकार कि एक छोटा बच्चा अपने माता-पितापर निर्भर रहता है । बच्चा अपने लिये कुछ भी चिन्ता-शोक नहीं करता, माता-पिता ही उसकी सारी सार-सँभाल रखते हैं और पालन करते हैं; इसी प्रकार वे परमात्मा हमारी रक्षा करते आये हैं, कर रहे हैं और करेंगे—ऐसा अटूट विश्वास रख-कर सर्वथा निश्चिन्त होकर उस ईश्वरके बलपर निर्भर रहना चाहिये । इसीमें हमारा सब प्रकारसे कल्याण है ।

गो-महिमा और गोरक्षाकी आवश्यकता

गोरक्षा हिंदूधर्मका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। प्रायः प्रत्येक हिंदू गौको माता कहकर पुकारता है और माताके समान ही उसका आदर करता है। जिस प्रकार कोई भी पुत्र अपनी माताके प्रति किये गये अत्याचारको सहन नहीं करेगा, उसी प्रकार एक आस्तिक और सच्चा हिंदू गोमाताके प्रति निर्दयताके व्यवहारको नहीं सहेगा; गोहिंसाकी तो वह कल्पना भी नहीं सह सकता। गौके प्राण बचानेके लिये वह अपने प्राणोंकी आहुति दे देगा, किन्तु उसका बाल भी बाँका न होने देगा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके पूर्वज महाराज दिलीपके चरित्रसे सभी लोग परिचित हैं। उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठकी बछिया नन्दिनीकी रक्षाके लिये सिंहको अपना शरीर अर्पण कर दिया, किंतु जीते-जी उसकी हिंसा न होने दी। पाण्डवशिरोमणि अर्जुनने गोरक्षाके लिये बारह वर्षोंका निर्वासन स्वीकार किया।

परन्तु हाय! वे दिन अब चले गये। हिंदू-जाति आज दुर्बल हो गयी है। हम अपनी स्वतन्त्रता, अपना

पुरुषत्व, अपनी धर्मप्राणता, ईश्वर और ईश्वरीय कानूनमें विश्वास, शास्त्रोंके प्रति आदरबुद्धि, विचार-स्वातन्त्र्य, अपनी संस्कृति एवं मर्यादाके प्रति आस्था—सब कुछ खो बैठे हैं। आज हम आपसकी फूट एवं कलहके कारण छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। हम अपनी संस्कृति एवं धर्मपर किये गये प्रहारों एवं आक्रमणोंको व्यर्थ करनेके लिये संघटित नहीं हो सकते। हम अपनी जीवनीशक्ति खो बैठे हैं। मूक पशुओंकी भाँति दूसरोंके द्वारा हाँके जा रहे हैं। राजनीतिक गुलामी ही नहीं, अपितु मानसिक गुलामीके भी शिकार हो रहे हैं। आज हम सभी बातोंपर पाश्चात्त्य दृष्टिकोणसे ही विचार करने लगे हैं। यही कारण है कि हमारी इस पवित्र भूमिमें प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें गाय और बैल काटे जाते हैं और हम इसके विरोधमें अँगुलीतक नहीं उठाते। आज हम दिलीप और अर्जुनके इतिहास केवल पढ़ते और सुनते हैं, उनसे हमारी नसोंमें जोश नहीं भरता। हमारी नपुंसकता सचमुच दयनीय है!

हम सरकारके मत्थे अपनी धार्मिक भावनाओंको कुचलनेका दोष मँढ़ते हैं, हम अपने मुसल्मान भाइयोंपर गायके प्रति निर्दयता-का अभियोग लगाते हैं, किंतु अपने दोष नहीं देखते। गौओंके प्रति हमारी आदरबुद्धि केवल कहनेभरके लिये रह गयी है। हम केवल वाणीसे ही उसकी पूजा करते हैं। हमीं तो अपनी गौओं और बैलोंको कसाइयोंके हाथ बेचते हैं। हमीं उनके साथ दुष्टता एवं क्रूरताका बर्ताव करते हैं—उन्हें भूखों मारते हैं, उनका सारा दूध दुह लेते हैं, बछड़ेका हिस्सा भी छीन लेते हैं, बैलोंपर बेहद बोझा लाद देते हैं, न चलनेपर उन्हें बुरी तरहसे पीटते हैं, गोचर-

भूमियोंका सफाया करते जा रहे हैं और फिर भी अपनेको गोरक्षक कहते हैं और विधर्मियोंको गोघातक कहकर कोसते हैं ! हमारी वैश्य जातिके लिये कृषि और वाणिज्यके साथ-साथ शास्त्रोंने गोरक्षाको भी प्रधान धर्म माना है, परंतु आज हमारे वैश्य भाइयोंने गोरक्षाको अनावश्यक मानकर छोड़ रक्खा है । हमारी गोशालाओंका बुरा हाल है और उनके द्रव्यका ठीक-ठीक उपयोग नहीं होता । उनमें परस्पर सहयोगका अभाव है । सारांश, सब कुछ विपरीत हो गया है !

दूसरी जातियाँ अपने गोधनकी वृद्धिमें बड़ी तेजीके साथ अग्रसर हो रही हैं । दूसरे देशोंमें क्षेत्रफलके हिसाबसे गौओंकी संख्या भारतकी अपेक्षा कहीं अधिक है और प्रतिमनुष्य दूधकी खपत भी अधिक है । वहाँकी गौएँ हमारी गौओंकी अपेक्षा दूध भी अधिक देती हैं । कारण यही है कि वे गौओंको भरपेट भोजन देते हैं, अधिक आरामसे रखते हैं, उनकी अधिक सँभाल करते हैं और उनके साथ अधिक प्रेम और कोमलताका बर्ताव करते हैं । अन्य देशोंमें गोचरभूमियोंका अनुपात भी खेतीके उपयोगमें आनेवाली भूमिकी तुलनामें कहीं अधिक है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हम अपनेको गोपूजक और गोरक्षक कहते हैं, वस्तुतः आज हम गोरक्षामें बहुत पिछड़े हुए हैं । गोजातिके प्रति हमारे इस अनादर एवं उपेक्षाका परिणाम भी प्रत्यक्ष ही है । अन्य देशोंकी अपेक्षा हम भारतीयोंकी औसत आयु बहुत ही कम है और अन्य देशोंकी तुलनामें हमारे यहाँके बच्चे बहुत अधिक संख्यामें मरते हैं । यही नहीं, अन्य लोगोंकी अपेक्षा हमलोगोंमें जीवनीशक्ति भी बहुत

कम है। कहना न होगा कि दूध और दूधसे बने हुए पदार्थोंकी कमी भी हमारी इस शोचनीय अवस्थाका एक मुख्य हेतु है। इससे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि किसी जातिके स्वास्थ्य एवं आयुमानके साथ गोधनका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। अस्तु,

हमारे शास्त्र कहते हैं कि गायसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। दूसरे शब्दोंमें धार्मिक, आर्थिक, सांसारिक एवं आध्यात्मिक—सभी दृष्टियोंसे गाय हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी है। पुराणोंमें लिखा है कि जगत्‌में सर्वप्रथम वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणोंकी सृष्टि हुई। वेदोंसे हमें अपने कर्तव्यकी शिक्षा मिलती है, वे हमारे ज्ञानके आदिस्रोत हैं। वे हमें देवताओंको प्रसन्न करनेकी विद्या—यज्ञानुष्ठानका पाठ पढ़ाते हैं। गीतामें भी कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(३ । १०–१६)

'प्रजापति ब्रह्माजीने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो । तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे । यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे । इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है । यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं । सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है । कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान । इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है । हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने

कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।'

ऊपरके वचनोंसे यह प्रकट होता है कि (१) यज्ञकी उत्पत्ति सृष्टिके प्रारम्भमें हुई और (२) यज्ञ हमारे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (परम कल्याण) दोनोंका साधन है । यज्ञसे हम जो कुछ चाहें प्राप्त कर सकते हैं । लौकिक सुख-समृद्धि तथा ऐहिक एवं पारलौकिक भोग हमें देवताओंसे प्राप्त होते हैं । देवता भगवान्की ही कलाएँ—भगवान्की ही दिव्य चेतन विभूतियाँ हैं, जो मनुष्यों एवं मनुष्योंसे निम्न स्तरके जीवोंकी लौकिक आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं—हमारे लिये समयानुसार घाम, चाँदनी, वर्षा आदिकी व्यवस्था करके हमारे वनस्पतिवर्गका और उनके द्वारा हमारे जीवनका पोषण करते हैं । वे ही हमें रहनेके लिये पृथ्वी, हमारी प्यास बुझानेके लिये जल, हमारे भोजनको पकाने तथा हमारा शीतसे त्राण करनेके लिये अग्नि, साँस लेनेके लिये वायु तथा इधर-उधर घूमनेके लिये अवकाश प्रदान करते हैं । सारांश, वे ही इस संसारचक्रकी व्यवस्था करते हैं, जीवोंके कर्मोंकी देख-रेख तथा उनके अनुसार शुभाशुभ फलभोगका विधान करते हैं तथा हमारे जीवन-मरणका नियमन करते हैं । इन भगवत्कलाओंको प्रसन्न रखने, इनका आशीर्वाद, सहानुभूति एवं सद्भाव प्राप्त करनेके लिये और आदान-प्रदानके सिद्धान्तको चालू रखनेके लिये—जो जगच्चक्रके परिचालनके लिये आवश्यक एवं अनिवार्य है—यज्ञानुष्ठानके द्वारा इनकी आराधना करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है । जबतक भारतमें यज्ञ-यागादिके द्वारा देवताओंकी आराधना होती

थी, तबतक यह देश सुखी एवं समृद्ध था, समयपर यथेष्ट मात्रामें वर्षा होती थी तथा बाढ़, भूकम्प, दुष्काल एवं महामारी आदि दैवी संकटोंसे यह प्रायः मुक्त था। जबसे यज्ञ-यागादिकी प्रथा लुप्तप्राय हो गयी, तभीसे यह देश अधिकाधिक दैवी प्रकोपोंका शिकार होने लगा है!

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस—दोनों सिद्ध होते हैं। संसार-चक्रका परिचालन करनेवाले भगवत्कलारूप देवताओंकी प्रसन्नताद्वारा वह हमारी सुख-समृद्धिका साधन बनता है और निष्कामभावसे केवल कर्तव्यबुद्धि-पूर्वक किये जानेपर वह भगवत्प्रीतिका सम्पादन कर भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षरूप जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्ति करा देता है। यही नहीं, यज्ञ-दान-तपरूप कर्मको भगवान्ने अवश्यकर्तव्य, अनिवार्य बताया है—'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (गीता १८।५) और यज्ञादिकी परम्पराका विच्छेद करनेवालेको अघायु (पापी) कहकर उसकी गर्हणा की है। इस यज्ञचक्रको चलानेके लिये ही वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणोंकी सृष्टि हुई है। वेदोंमें यज्ञानुष्ठानकी विधि बतायी गयी है—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गीता ३।१५) एवं ब्राह्मणोंके द्वारा वह विधि सम्पन्न होती है। अग्निके द्वारा आहुतियाँ देवताओंको पहुँचायी जाती हैं—'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति' और गौसे हमें देवताओंको अर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें गौको 'हविर्दुघा' (हवि देनेवाली) कहा गया है। गोघृत देवताओंका परम प्रिय हवि है और यज्ञके लिये भूमिको जोतकर तैयार करने एवं गेहूँ, चावल, जौ, तिल आदि

हविष्यान्न पैदा करनेके लिये गो-संतति—बैलोंकी परम आवश्यकता है। यही नहीं, यज्ञभूमिको परिष्कृत एवं शुद्ध करनेके लिये उसे गोमूत्रसे छिड़का जाता है और गोबरसे लीपा जाता है तथा गोबरके कंडोंसे यज्ञाग्निको प्रज्वलित किया जाता है। यज्ञानुष्ठानके पूर्व प्रत्येक यजमानको देहशुद्धिके लिये पञ्चगव्यका प्राशन करना होता है और यह गायके दूध, गायके दही, गायके घी, गोमूत्र एवं गायके ही गोबरसे तैयार किया जाता है—इसीलिये इसे 'पञ्चगव्य' कहते हैं। इसके अतिरिक्त गायका दूध और उससे तैयार होनेवाले पदार्थ सबसे स्वादिष्ट एवं पोषक आहार हैं। दूधमें पकाये हुए चावलको—जिसे आधुनिक भाषामें खीर कहते हैं—संस्कृतमें परमान्न (सर्वश्रेष्ठ भोजन) कहा गया है और घीको हमारे यहाँ सर्वश्रेष्ठ रसायन माना गया है—'आयुर्वै घृतम्'। इतना ही नहीं, घृतरहित अन्नको हमारे शास्त्रोंमें अपवित्र कहा गया है। घी और चीनीसे युक्त खीरका भोजन ब्राह्मणोंके लिये विशेष तृप्तिकारक होता है और देवताओंको आहुति पहुँचानेके लिये हमारे यहाँ दो ही मार्ग माने गये हैं—अग्नि और ब्राह्मणोंका मुख। बल्कि भगवान्‌ने तो कहा है कि—'मैं यज्ञमें यजमानद्वारा दी हुई घीसे चूती हुई आहुतियोंका अग्निरूप मुखसे भक्षण करता हुआ उतना तृप्त नहीं होता, जितना कि अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पण करके सदा संतुष्ट रहनेवाले निष्काम ब्राह्मणके मुखसे प्रत्येक ग्रास खाते समय होता हूँ'—

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन ।

यद् ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । १६ । ८)

तात्पर्य यह कि दोनों प्रकारसे देवताओंकी तृप्तिके लिये तथा सर्वोपरि भगवत्प्रीतिके लिये भी गौकी परमोपयोगिता सिद्ध होती है ।

भारत-जैसे कृषिप्रधान देशमें आर्थिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व स्पष्ट ही है । जिन लोगोंने हमारे ग्रामीण जीवनका विशेष मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, उन सबने एक स्वरसे हमारे जीवनके लिये गौकी परमावश्यकता बतायी है । गोधन ही हमारा प्रधान बल है । गोधनकी उपेक्षा करके हम जीवित नहीं रह सकते । अतः हमारे गोवंशकी संख्या एवं गुणोंकी दृष्टिसे जो भयानक ह्रास हो रहा है, उसका बहुत शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये और हमारी गौओंकी दशाको सुधारने, उनकी नस्लकी उन्नति करने और उनका दूध बढ़ाने तथा इस प्रकार देशके दुग्धोत्पादनमें वृद्धि करनेका भी पूरा प्रयत्न करना चाहिये । गायों, बछड़ों एवं बैलोंका वध रोकने तथा उनपर किये जानेवाले अत्याचारोंको बंद करनेके लिये कानून बनाना आवश्यक है और विधर्मियोंको भी गौकी परमोपयोगिता बतलाकर गोजातिके प्रति उनकी सहानुभूति एवं सद्भावका अर्जन करना चाहिये । जिस देशमें कभी दूध और दहीका पानीकी तरह बाहुल्य था, उस देशमें असली दूध मिलनेमें कठिनता हो रही है—यह कैसा आश्चर्य है !

आध्यात्मिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व कम नहीं है । गायके दर्शन एवं स्पर्शसे पवित्रता आती है, पापोंका नाश होता है, गायके

शरीरमें तैंतीस करोड़ देवताओंका निवास माना गया है। गायके खुरसे उड़नेवाली धूलि भी पवित्र मानी गयी है।

महाभारतमें कथा आती है। एक बार राजा नहुषने च्यवन ऋषिके बदलेमें अपना सारा राज्य देना भी स्वीकार कर लिया; किंतु च्यवनने कहा कि मेरा मूल्य नहीं आया। इसपर राजाने मुनि गविजके निर्णयानुसार ब्राह्मण और गायकी कीमत समान समझकर गायसे ऋषिका मूल्य आँक दिया। तब ऋषि बोले—'राजन्! अब मैं उठता हूँ, तुमने यथार्थमें मुझे मोल ले लिया। मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन करना-सुनना, गौओंका दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गयी है। ये सब कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याण देनेवाले हैं। गौएँ लक्ष्मीकी जड़ हैं, उनमें पापका लेश भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्यको अन्न एवं देवताओंको हविष्य देनेवाली हैं। स्वाहा और वषट्कार सदा गौओंमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। गौएँ ही यज्ञका संचालन करनेवाली और उसका मुख हैं। वे विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती और दुहनेपर अमृत ही देती हैं। वे अमृतका आधार होती हैं और सारा संसार उनके सामने मस्तक झुकाता है। इस पृथ्वीपर गौएँ अपने तेज और शरीरमें अग्निके समान हैं। वे महान् तेजकी राशि और समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाली हैं। गौओंका समुदाय जहाँ निर्भयतापूर्वक बैठकर साँस लेता है, उस स्थानकी श्री बढ़ जाती है और वहाँका सारा पाप नष्ट हो जाता है। गौएँ स्वर्गकी सीढ़ी हैं, वे स्वर्गमें भी पूजी जाती हैं। गौएँ समस्त कामनाओंको

पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं, उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। राजन्! यह मैंने गौका माहात्म्य बतलाया है, इसमें उनके गुणोंके एक अंशका दिग्दर्शन कराया गया है। गौओंके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता।'*

ब्रह्माजी भी इन्द्रसे कहते हैं—

'इन्द्र! गौओंको यज्ञका अङ्ग और साक्षात् यज्ञरूप ही बतलाया गया है। इनके बिना यज्ञ किसी तरह भी नहीं हो सकता।

---

* उत्तिष्ठाम्येव राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्॥
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥
अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः॥
तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि।
गावो हि सुमहत्तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् परं स्मृतम्॥
इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु॥
(अनुशासन० ५१। २६–३४)

इसके सिवा, ये अपने दूध और घीसे प्रजाका पालन-पोषण करती हैं तथा इनके पुत्र (बैल) भी खेतीके काम आते और तरह-तरहके अन्न एवं बीज पैदा करते हैं, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते और सब प्रकारसे हव्य-कव्यका भी काम चलता है; इन्हींसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। सुरेश्वर ! ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं और बैल भूख-प्यासका कष्ट सहकर अनेक प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं। इस प्रकार गोजाति अपने कर्मसे इस लोकमें ऋषियों तथा प्रजाओंका भी पालन करती रहती है। इन्द्र ! उसके व्यवहारमें शठता या माया नहीं होती, वह सदा पवित्र कर्ममें लगी रहती है।'*

इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे गाय हमारे लिये बड़े ही आदर और प्रेमकी वस्तु है, हमें सब प्रकारसे उसकी रक्षा एवं उन्नतिके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

---

* यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथञ्चन॥
धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः॥
पयो दधि घृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः॥
मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा।
वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च॥
(अनुशासन० ८३। १७—२१)

स्वधर्म-पालनकी आवश्यकता

जो मनुष्य ईश्वर-भक्ति और धर्मकी आड़में अधर्म करते हैं, उनको असलमें नास्तिकोंके भी जनक कहना चाहिये। वे नास्तिकों-से भी बढ़कर नास्तिक हैं; क्योंकि उन दम्भी, पाखण्डी मनुष्योंको दण्ड देनेके लिये ही भगवान् नास्तिकताको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार नास्तिकवादके उत्पन्न करनेमें हेतु होनेके कारण वे नास्तिकों-के जनक हैं। पता नहीं; ऐसे कितने ही धर्मध्वजी मनुष्य आज अपनेको अवतार या महात्मा बतलाकर अनाचार फैला रहे हैं। बहुत-से लोग तो स्त्रियोंको चेलियाँ बनाकर पहले तो उनसे अपने चरण पुजवाते हैं, उन्हें अपना चरणोदक देते हैं, अपनी जूठन खिलाते हैं और बादमें वे अपनेको कृष्णका रूप बतलाकर उन्हें गोपी बनाकर और व्यभिचारको धर्म बतलाकर उनके साथ दुराचार करते हैं और उसका फल वे दम्भी दुराचारपरायण लोग परम धामकी प्राप्ति बतलाते हैं! ऐसे धर्मके नामपर दुराचार करनेवाले पाखण्डी यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णको तथा भक्तिमती गोपियोंको कलङ्क लगाने-वाले हैं। असलमें भगवान् तथा भक्तोंपर तो कलङ्क क्या लगता है, ऐसा करके वे स्वयं अपना ही नाश करते हैं, वे स्वयं अपनेको ही

महान् घोर अधोगतिमें ले जाते हैं। ऐसी घटनाएँ आजकल बहुत जगह हो रही हैं।*

यह महान् अनर्थकी बात है। ईश्वर-भक्तिके नामपर इस प्रकार दुराचारका विस्तार करना बहुत बड़ा पाप है। इसलिये सब लोगोंको इसका घोर विरोध करना चाहिये। ऐसी बातें न होने पावें, इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। हमें धर्मके विषयमें खयाल करना चाहिये कि स्त्रीके लिये तो विवाहकी विधिको ही वैदिक संस्कार और पतिको ही गुरु बतलाया गया है, उसके लिये पतिगृहमें वास ही गुरुकुलवास है और गृहकार्य ही अग्निहोत्र है। मनुजी कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु० २। ६७)

---

* अभी एक पण्डितजीका पत्र मिला है, उसमें लिखे संवादका सार यह है—'यहाँ एक महापुरुष बने हुए हैं, सिद्धिप्राप्त कहते हैं, औषध देते हैं, गुरु बनते हैं, अपनेको······संन्यासी तथा······गद्दीके शिष्य बतलाते हैं। शराब-मांस उन्हें अत्यन्त प्रिय है। आप अपने चेले-चेलियोंको अपनी थालीमेंसे खिलाकर खाते हैं। चेलियोंसे सर्वस्व अर्पणकी बड़ी चाह है। विरोध करनेमें लोग इसलिये डरते हैं कि ये किसीका कोई अनिष्ट न कर दें। शिष्योंका धन और धर्म हरण कर रहे हैं।'

इस प्रकारके दुराचार धर्म और अध्यात्मके नामपर आज जगह-जगह हो रहे हैं और भोले नर-नारी अविवेकपूर्ण श्रद्धाको लेकर इनके जालमें फँस जाते हैं। ऐसे गुरुओंसे न कभी किसीका कल्याण हुआ है, न हो सकता है।

—सम्पादक

स्त्रियोंको तो पतिके सिवा अन्य पुरुषका स्पर्श करना भी पाप है। वाल्मीकीय रामायणमें कथा आती है कि जब श्रीहनुमान्‌जीने अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको अत्यन्त व्याकुल देखा, तब उन्होंने सीताजीसे कहा कि 'माता! आप मेरी पीठपर सवार हो जायँ। मैं आपको अभी यहाँसे ले चलता हूँ।' परंतु श्रीसीताजीने यह स्वीकार नहीं किया। वे बोलीं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥
(वा० रा० ५। ३७। ६२)

'वानरश्रेष्ठ हनुमान्! पतिभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर मैं भगवान् श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषके शरीरका स्वेच्छासे स्पर्श करना नहीं चाहती।'

यद्यपि सीताजी उस समय विपत्तिमें पड़ी हुई थीं; किंतु उन्होंने पतिके पास जानेके लिये भी पातिव्रत-धर्मकी रक्षाकी दृष्टिसे मातृभाव रखनेवाले हनुमान्-सरीखे सेवकका भी स्पर्श करना उचित नहीं समझा। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भारी विपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

इस समय कई दम्भी स्त्री-पुरुष अपनेको महात्मा और ईश्वरके अवतारके स्थानमें स्थापित करके चेले-चेलियोंसे अपने ही नामका कीर्तन और स्वरूपका ध्यान कराते हैं, अपने चित्रकी पूजा कराते हैं और अपने नाम-गुणोंकी कीर्ति अपने ही सम्मुख कराकर स्वयं उसे सुनते हैं। इस प्रकारका आचरण करनेवाले लोग सचमुच

नास्तिकवादके उत्पादक हैं। नास्तिकवादके कई हेतु हैं, जिनमें यह भी एक प्रधान हेतु है।

इसलिये सच्चे धर्माचार्य महानुभावोंको ऐसे धर्मध्वजी स्त्री-पुरुषोंका बहिष्कार करके स्वयं धर्मका पालन करते हुए संसारके भूले-भटके भाइयोंको सच्चा धर्म बतलाना चाहिये।

संसारमें जिनका जीवन धर्ममय है, उन्हींका जीवन धन्य है। धर्महीन जीवन पशु-जीवन है। एक कविने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्योंमें और पशुओंमें सभीमें समान हैं। मनुष्यमें अधिकता और विशेषता एक ही है कि उसमें धर्म है। जिस मनुष्यमें धर्म नहीं है, वह पशुके समान ही है।'

धर्म क्या है? ईश्वरका विधान, जो कि इस लोक और पर-लोकमें कल्याणकारक है, वही धर्म है। मनुजीने सर्वसाधारणके लिये संक्षेपमें सामान्य धर्मके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतर-

की पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

इसको मानवमात्रके लिये सामान्य धर्म बतलाया है। इसके पालनसे मनुष्यका इस लोक और परलोक—दोनोंमें कल्याण होता है।

आजकल जो लोग ईश्वर और धर्मका विरोध करते हैं, वे स्वयं ही अपने-आपका हनन कर रहे हैं। सब कुछ जाकर भी जिसका धर्म सुरक्षित है, उसीको इस लोकमें सुख और परलोकमें परम गति मिलती है; पर जिसका धर्म चला गया, उसका तो सभी कुछ चला गया। शास्त्रमें बतलाया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(मनु० ८। १५)

'विनाश किया हुआ ही धर्म मारता है, और रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है; इसलिये धर्मका विनाश न करे, जिससे कि वह विनष्ट हुआ धर्म हमें न मार दे।' अर्थात् धर्मका त्याग करनेवाले पुरुषका पतन हो जाता है—यही विनष्ट हुए धर्मसे मनुष्यका मारा जाना है।

अतएव मनुष्यको प्राण देकर भी धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है और जीवन अनित्य है! महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है ।'

इसलिये काम, भय, लोभ आदि किसी भी कारणसे धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि प्राण देने पड़ें तो प्रसन्नतापूर्वक दे देने चाहिये । धर्मके लिये प्राण देनेमें भी कल्याण ही है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

(गीता ३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याण-कारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।'

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये प्राणोंकी भी परवा नहीं की । उन्होंने धर्मभावका खयाल करके ही धर्मका त्याग नहीं किया और हँसते-हँसते प्राणोंकी आहुति दे डाली । इसीलिये उनकी इस लोकमें कीर्ति हुई और शास्त्रके हिसाबसे परलोकमें भी उनकी परम गति होनी चाहिये ।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रोंमें धर्मका स्वरूप बहुत विस्तारसे बतलाया गया है, उन ग्रन्थोंमें देखना चाहिये । मनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० २ । १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके आचरणसे अपना हित हो वह, इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है ।'

यहाँ 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' से 'जो अपनी आत्माके लिये हितकर हो'—ऐसा समझना चाहिये । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनमाना आचरण किया जाना धर्म है । मनमाने आचरणका तो स्वयं भगवान्‌ने ही निषेध किया है । भगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(गीता १६ । २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही ।'

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(गीता १६ । २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है ।'

धर्मके विषयमें जहाँ श्रुति और स्मृतिमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ श्रुति ही बलवती मानी जाती है, इसलिये श्रुतिके कथनानुसार ही पालन करना चाहिये। जहाँ एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिका विरोध हो, वहाँ वे दोनों ही मान्य हैं। और जहाँ श्रुति और सदाचारमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ (श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित) सदाचार ही प्रधान है। जैसे श्रुतिमें मांस-भक्षण आदि कई बातें आ जाती हैं, जो हमारी समझमें नहीं आतीं और हमें आत्माके लिये अहितकर प्रतीत होती हैं तथा सर्वसाधारण उनका निर्णय नहीं कर सकते। परंतु भगवत्प्राप्त पुरुषोंके द्वारा किये गये आचरणोंमें कहीं भी अहितकी आशङ्काके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। इसीलिये महाराज युधिष्ठिरने यह निर्णय दिया है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हैं, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय। धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है—धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, या जा रहा हो, वही मार्ग है; अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुसरण करना ही धर्म है।'

अतः महापुरुष जिस मार्गसे चलते हैं, वही मार्ग अनुसरणीय है। क्योंकि भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा कभी भगवान्‌की आज्ञारूप धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। इसमें प्रह्लादका उदाहरण प्रत्यक्ष है। भक्त प्रह्लादने अपने प्रिय पुत्रकी अवहेलना कर दी, परंतु धर्मका त्याग नहीं किया।

केशिनी नामकी कन्या थी, उससे प्रह्लाद-पुत्र विरोचन और अङ्गिरा-पुत्र सुधन्वा—दोनों ही विवाह करना चाहते थे। इसी बातको लेकर दोनोंमें विवाद हो गया। कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी।' इसपर वे दोनों ही अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि उनकी श्रेष्ठताका निर्णय न्याय तथा धर्मपरायण प्रह्लादजी करें। जो निकृष्ट हो, उसके प्राण हरण कर लिये जायँ। दोनोंने प्रह्लादकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी कहानी सुनायी और निर्णयके लिये प्रार्थना की। प्रह्लादने सारी बातें सुनकर पुत्र विरोचनकी अपेक्षा सुधन्वा ब्राह्मणको ही श्रेष्ठ समझा और विरोचनसे कहा—

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव॥

(महा० सभा० ६८। ८७)

'विरोचन! निश्चय ही सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है तथा इसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता भी तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।'

यह है सच्ची धर्मपरायणता और धर्मके लिये समस्त ममताओंका आदर्श त्याग ।

इस निर्णयको सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा—

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः ।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥

(महा० सभा० ६८ । ८८)

'प्रह्लादजी ! पुत्रस्नेहको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे (मैं इसके प्राण हरण नहीं करूँगा) ।'

राजा हरिश्चन्द्रने भारी-से-भारी विपत्ति सही, किंतु धर्मका त्याग नहीं किया । यहाँतक कि धर्मपालनके लिये उन्होंने अपनी पत्नीको बेंच दिया और स्वयं चाण्डालके यहाँ नौकरी कर ली । इसीके प्रभावसे वे स्त्री-पुत्रोंसहित उत्तम गतिको प्राप्त हुए ।

महाराज युधिष्ठिरपर ऐसी विपत्तियाँ कई बार आयीं; परंतु उन्होंने कभी धर्मका त्याग नहीं किया । जब द्रौपदी और चारों भाइयोंके गिर जानेपर महाराज युधिष्ठिर अकेले ही हिमालयकी ओर बढ़ रहे थे, तब एक कुत्ता उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था । उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर आये और उन्होंने युधिष्ठिरको रथपर चढ़नेके लिये अनुरोध किया । परंतु युधिष्ठिरने इन्द्रके बहुत आग्रह करनेपर भी अपने भक्त कुत्तेको छोड़कर अकेले स्वर्ग जाना नहीं चाहा । उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता ।' इसपर साक्षात् धर्म—जो कि कुत्तेके रूपमें थे—प्रकट हो गये । उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'तुमने

कुत्तेको अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका त्याग कर दिया। तुम्हारे इस त्यागकी बराबरी कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता।' ऐसा कह वे युधिष्ठिरको रथमें चढ़ाकर स्वर्ग गये। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरने स्वर्गकी भी परवा न करके अन्ततक धर्मका पालन किया।

जो लोग धर्म और ईश्वरको नहीं मानते, वे धर्म और ईश्वर क्या वस्तु है, इसीको नहीं समझते। उन्होंने न तो कभी इस विषयके शास्त्रोंका ही अध्ययन किया है और न इस विषयका तत्त्व समझनेकी ही कभी चेष्टा की है। उनका इस विषयके अन्तरमें प्रवेश न होनेके कारण ही वे इस महान् लाभसे वञ्चित हो रहे हैं।

ईश्वरकी आज्ञारूप जो धर्म है, उसका सकामभावसे पालन किया जाता है तो उससे इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है और यदि उसका निष्कामभावसे पालन किया जाता है तो उससे अपने आत्माका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(गीता ३। ११)

'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

अतएव हमें निष्कामभावसे धर्मका पालन करना चाहिये। निष्कामभावसे धर्मका पालन करनेवाला मनुष्य परम पदको प्राप्त हो जाता है।

ईश्वर और धर्ममें विश्वासकी आवश्यकता

जिसके द्वारा इस जीवनमें और आगे भी पवित्र सुख, शान्ति और समृद्धिमय सफलता प्राप्त हो और अन्तमें निरतिशय एवं दुःखलेशरहित परम कल्याणरूप आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो जाय, उसका नाम धर्म है।* विभिन्न कर्मानुसार जीव, जगत् एवं जीवोंके सुख-दुःख एवं उन्नति-अवनतिका निर्णय, निर्माण, नियमन-नियन्त्रण करनेवाली नित्य सत्य चेतन शक्तिका नाम ईश्वर है। त्रिकालज्ञ—सर्वज्ञ ऋषियोंने ईश्वरकी इच्छा और अभिप्रायको जानकर

---

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकदर्शन)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

(मीमांसादर्शन सूत्र-भाष्य)

'जिसके अनुष्ठानसे (लौकिक और पारमार्थिक) कल्याण हो, उसे धर्म कहते हैं।'

ईश्वरस्वरूप वेदोंके अनुकूल जो विधि-निषेधमय कानून बनाये हैं, उनका नाम है—शास्त्र। ईश्वरको मानकर शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य इस लोकमें पवित्र सुख, शान्ति एवं समृद्धिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें मनुष्य-जीवनके चरम फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। यह धर्मका फल है।

ईश्वर और धर्म—जगत्की सर्वाङ्गीण एवं स्थायी उन्नतिके ये ही दो परम आधार हैं। धर्म सदा ही ईश्वरके आश्रित है और जहाँ धर्म है, वहाँ ईश्वर है ही। इन दोनोंमें परस्पर नित्य सम्बन्ध है। ईश्वरका कानून ही धर्म है। और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है—सफलता है। 'यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः'। (महा० अनु० १६७।४१) ईश्वर और धर्मके प्रति जब मनुष्यकी अनास्था हो जाती है, तब धर्मका बन्धन ढीला हो जाता है और मनुष्यके आचरण मनमाने होने लगते हैं। मनमाने आचरण करनेवालेको न सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम गति ही मिलती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६।२३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

सिद्धि, सुख और परम गति धर्माचरणसे ही मिलते हैं।

जगत्में आज जो सर्वत्र असफलता और दुःख दिखायी दे रहे हैं, इसका एकमात्र कारण है—मनुष्यका धर्मसे च्युत हो जाना—ईश्वरको न मानकर उनके अनुकूल आचरण न करना। जगत्का यह दुःख तबतक बना रहेगा, जबतक मनुष्य ईश्वर और उनके कानूनको न मानकर मनमाना आचरण करता रहेगा। हम सभी सफलता चाहते हैं; परन्तु ईश्वर और धर्मसे विमुख होकर सफलता चाहना दुराशामात्र ही है।

गीता हमें बतलाती है कि सृष्टिके आदिमें जगत्पिता ब्रह्माजीने मनुष्यको यही आदेश दिया था कि 'तुम इन देवताओंकी स्वधर्मपालनरूप यज्ञद्वारा आराधना करो और तुम्हारी सेवासे प्रसन्न एवं परिपुष्ट होकर ये तुम्हारी पुष्टि, तुम्हारी उन्नति करें—'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः' (३।११)। ये देवता यदि हमारी सहायता न करें तो हम जगत्में जीवित ही नहीं रह सकते; और इनकी सहायता प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम भी बदलेमें उनकी पुष्टि करें। आज जगत्में विग्रह, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकम्प, अग्निकाण्ड एवं बाढ़ आदिके कारण जो भयङ्कर जन-संहार हो रहा है, उसका प्रधान कारण इन देवताओंका मनुष्यके द्वारा पुष्ट न किया जाना ही है। परन्तु आज भी जितना अपराध देवताओंका हम करते हैं, उतना देवता हमारा नहीं करते। सूर्य अब भी समयपर उगते और समयपर ही अस्त होते हैं। चन्द्रमा अब भी हमपर तथा हमारी ओषधियों एवं वनस्पतियोंपर सुधावृष्टि करते हैं, अग्नि अब भी हमें सदाकी भाँति ताप एवं प्रकाश देती है और हमारे अनेकों कार्य

सिद्ध करती है । अवश्य ही इनके कार्योंमें बहुत कुछ व्यतिक्रम होने लगा है, परन्तु इनके स्वभावमें परिवर्तन नहीं हुआ है। कहते हैं, इनके स्वभावमें परिवर्तन होगा, उस समय प्रलय हो जायगा । अतः जगत्‌में सुख-समृद्धिके विस्तारके लिये इन देवताओंका पूजन एवं पोषण होना आवश्यक है । लौकिक कार्योंमें देवताओंके यजन एवं आराधनसे शीघ्र सिद्धि मिलती है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥
(४ । १२)

'इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।'

यहाँ इस बातपर ध्यान देना चाहिये कि जहाँ एक ओर भगवान् मनमाने आचरणसे सिद्धिका अभाव बतलाते हैं, वहीं दूसरी ओर वे देवताओंके आराधनसे बहुत शीघ्र सिद्धि मिलनेकी बात कहते हैं । इससे लौकिक सिद्धिमें भी देवाराधनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता सिद्ध होती है ।

देवाराधनका पञ्चमहायज्ञ एक मुख्य अङ्ग है । इसमें देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों तथा अन्य जीवोंका यजन किया जाता है । बलिवैश्वदेव इसका प्रतीक है । इनमें देवताओंको अग्निहोत्र तथा पूजनके द्वारा, ऋषियोंको स्वाध्यायसे, पितरोंको तर्पणादिसे,

मनुष्योंको भोजन आदिके द्वारा और अन्य जीवोंको भी आहार आदिके द्वारा प्रसन्न करना होता है। आजकल पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान तो दूर रहा, अधिकांश लोग नियमपूर्वक सन्ध्यावन्दन भी नहीं करते। इसके विपरीत वे ऐसे कर्म करते हैं, जिनसे देवताओं-का पोषण, संवर्द्धन तो किनारे रहा, उल्टे उनकी शक्ति क्षीण होती चली जा रही है। ऐसी दशामें मनुष्यजाति आये दिन दैवी प्रकोपोंका शिकार बने—इसमें आश्चर्य ही क्या है। आजके मनुष्यका प्रायः दैवी साधनोंमें विश्वास नहीं रहा, अतएव वह केवल भौतिक साधनोंके करनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान बैठा है। आजकलका शिक्षित समाज यज्ञादिके अनुष्ठानपर यों कहकर आपत्ति किया करता है कि इस समय जब कि प्रजापर अन्नका महान् सङ्कट है, लोग अन्नके बिना भूखों मर रहे हैं, यज्ञादिके नामपर अन्नका अपव्यय करना—उसे अग्निमें होम देना कितना बड़ा अपराध है! वे लोग यह नहीं सोचते कि आखिर अन्न आता कहाँसे है? पृथ्वी माताके गर्भसे ही तो? अन्नके लिये पृथ्वीपर वर्षाका होना भी परमावश्यक है; परन्तु वर्षा इन्द्रकी कृपाके बिना नहीं हो सकती। ऐसी दशामें अन्नकी उपजके लिये अन्नका बोया जाना जैसे अपव्यय नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यज्ञादिमें देवताओंकी पुष्टिके लिये अन्न-घी आदिका उपयोग करना उनका दुरुपयोग नहीं कहा जा सकता, बल्कि प्रजाके हितके लिये वह परमावश्यक है। ठीक तरहसे यदि देवाराधन हो तो दैवी विपत्तियाँ आ ही नहीं सकतीं—अकाल, महामारी आदिका भय ही न रहे। जगत्में इतना अन्न उपजे कि वह जल्दी समाप्त ही न हो।

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें रामराज्यका इस प्रकार वर्णन किया है—

लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥
(उत्तर० २३)

इसका कारण भी गोस्वामीजीने वहीं लिख दिया है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
(उत्तर० २०)

आजकलके लोग इस वर्णनको काल्पनिक अथवा अत्युक्तिपूर्ण कह सकते हैं; परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जिन दैवी शक्तियोंके द्वारा जगच्चक्रका परिचालन होता है, उन शक्तियोंके प्रसन्न रहनेसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। फिर भगवान् रघुकुलचूड़ामणि श्रीरामचन्द्रजी तो साक्षात् परमेश्वर ही थे। सारी शक्तियोंके अनन्त निधि थे। उनके राज्यमें ऐसा हो तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है। धार्मिक लोगोंका ऐसा विश्वास ही

नहीं, अनुभव भी है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि लौकिक उपायोंसे उतना लाभ नहीं होता, जितना दैवी उपायोंसे सम्भव है। किसी वृक्षको हरा-भरा देखनेका एकमात्र उपाय है उसकी जड़को सींचना। वृक्षके मूलमें सींचा हुआ जल उसके तनेको ही नहीं, बल्कि उसकी शाखा-प्रशाखाओं एवं छोटी-छोटी टहनियों, पत्तियों, फूलों तथा फलोंतकको आप्यायित कर देता है, उनमें रस भर देता है। इसके विपरीत यदि वृक्षके मूलमें जल न देकर केवल उसके पत्तों, फलों एवं टहनियों आदिको ही सींचा जाय तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, वृक्ष हरा-भरा होनेके बदले जल्दी ही सूख जायगा और मर जायगा। जगत्में सुख-शान्तिके विस्तार एवं दैवी आपदाओंको टालनेके लिये भगवदाराधन और भगवान्‌के आज्ञानुसार देवाराधनादि कर्तव्यपालनको छोड़कर केवल बाहरी उपाय करना तो वृक्षकी जड़को न सींचकर केवल पत्तोंको सींचनेके समान ही है।

मानवका बाह्य भौतिक प्रयत्न आज कम नहीं है। लौकिक सुख तथा शरीरको आराम पहुँचानेके साधन जितने आज उपलब्ध हैं, उतने पहले कभी थे—यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि पारमार्थिक उन्नतिमें बाधक होनेके कारण उस समय भौतिक सुखका इतना आदर नहीं था। परन्तु यह मूलमें जल न देकर डाली-पत्तोंको सींचना है, इसलिये इनसे सफलता न होकर व्यर्थता ही मिलती है। सुख-शान्तिके लिये जितने बाह्य उपाय किये जाते हैं, उतना ही जगत्में दुःख और अशान्ति बढ़ती जा रही है!

यह बात नहीं है कि लोगोंको देवाराधनके लिये अवकाश नहीं है। समय तो है, परन्तु अधिकांश मनुष्योंका दैवी साधनोंमें

विश्वास ही उठ गया है। विश्वास होनेपर समय आसानीसे निकल सकता है। सिनेमा देखने, सभा-सोसाइटियोंमें जाकर व्याख्यान देने, क्लबोंमें जाकर अनुचित आमोद-प्रमोदमें तथा भोजोंमें सम्मिलित होनेके लिये आज लोग समय निकाल ही लेते हैं। प्राचीन कालमें ऐसी बात नहीं थी। बड़े-बड़े चक्रवर्ती नरेश भी देवाराधन तथा अन्य धार्मिक कृत्योंमें अपना समय लगाया करते थे। द्विजातिमात्रके लिये सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र आदि अनिवार्य माने जाते थे। महाभारतमें वर्णन आता है कि महाराज युधिष्ठिर जुएमें अपना सर्वस्व हारकर जब वनमें गये, उस समय अग्निहोत्रकी अग्नियाँ उनके साथ थीं। इतना ही नहीं, घोर युद्धके समय जब लड़ते-लड़ते सूर्यास्तका समय हो जाता था और किसी पक्षकी विजय नहीं होती थी, उस समय दोनों पक्षोंकी सम्मतिसे युद्ध बंद कर दिया जाता था और उभयपक्षके योद्धा सायं-सन्ध्योपासनाके लिये बैठ जाते थे। महाराज दिलीपकी कथा प्रसिद्ध है कि वे गुरुकी आज्ञासे अपनी राजोचित मानमर्यादाका परित्याग कर एक साधारण सेवककी भाँति वनमें जाकर अपने गुरुकी गायकी सेवा करते थे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्याका वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। वहाँ लिखा है कि वे प्रतिदिन पहर रात रहते उठ जाते थे और उठकर आचमन करके आत्मचिन्तन करने बैठ जाते थे। फिर विधिपूर्वक निमज्जन (जलमें गोता लगाकर स्नान) करके नवीन वस्त्र धारण कर सन्ध्या-वन्दन तथा अग्निहोत्र करते थे और फिर मौन होकर गायत्री-मन्त्रका जाप करते थे। इसके अनन्तर सूर्योपस्थान तथा

अपनी ही कलारूप देवता, ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करते थे, ब्राह्मणोंका पूजन करते थे और फिर वस्त्र, तिल तथा वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत १३०८४ गौओंका प्रतिदिन दान करते थे। इसके बाद वे गौ, ब्राह्मण, देवता, बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे। इस प्रकार उनका बहुत-सा समय नित्य धार्मिक कृत्योंमें बीतता था। (श्रीमद्भागवत १०, स्कन्ध ७० अध्याय देखिये)। भगवान् श्रीकृष्णके-जैसा कर्ममय जीवन तो किसका हो सकता है। फिर भी वे नियमितरूपसे दो पहरका काल धार्मिक कृत्योंमें बिताते थे। किसलिये? इसका उत्तर उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। गीतामें वे स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३। २२-२४)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ। क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं

कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं सङ्करताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।'

असलमें उस समय वृक्षके पत्तोंको न सींचकर मूल सींचनेकी भाँति भौतिक साधनोंकी अपेक्षा दैवी साधनोंपर अधिक आस्था थी । धार्मिक जनताकी बात जाने दीजिये—हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु तथा रावण-कुम्भकर्ण-जैसे महान् असुरोंका भी तप एवं यज्ञ-यागादिमें विश्वास था, चाहे उनका लक्ष्य कितना ही दुष्ट रहा हो । हिरण्यकशिपुने अपने अभूतपूर्व तपके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न किया था और रावणने अपने हाथों अपने सिरोंकी बलि देकर शङ्करजीका अमोघ वर प्राप्त किया था । यह बात दूसरी है कि देवाराधनके द्वारा प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग करके अधर्माचरणके द्वारा वे भगवान्‌के कोपभाजन बने और अन्तमें अपनी दुर्दम्य शक्ति, सर्वस्व एवं प्यारे प्राणोंसे भी हाथ धो बैठे । परन्तु आरम्भ श्रेष्ठ होनेके कारण वे भी भगवान्‌के हाथों मरकर अन्तमें परम कल्याणको ही प्राप्त हुए । उनके चरित्रसे हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार तपस्या एवं देवाराधनके द्वारा शक्तिसञ्चय होता है, उसी प्रकार धर्मविरुद्ध आचरणके द्वारा उस शक्तिको हम खो बैठते हैं ।

लौकिक साधनोंके द्वारा शक्ति-सञ्चय तो होता है, परन्तु वह अधिक दिन टिकता नहीं । जर्मनीने थोड़े ही दिनोंमें कितनी शक्ति अर्जन कर ली थी, पर आज वह देश पराधीन हो गया है । यूरोप आज कितना समृद्धिशाली माना जाता है और है भी, परन्तु वहाँ कितना हाहाकार मचा हुआ है—इसे वहाँके निवासी ही जानते हैं । अमेरिका इस समय सबसे अधिक

बलशाली तथा समृद्ध राष्ट्र माना जाता है; परन्तु वहाँ भी सुख-शान्ति नहीं है। बहुत से लोग अशान्तिमय जीवनसे दुखी होकर आत्मघात करते सुने जाते हैं। पारस्परिक राग-द्वेष एवं प्रतिहिंसाके भाव भी कम नहीं हैं; और तो क्या, पति-पत्नियोंके भी आपसमें बहुत संख्यामें मुकद्दमे होते रहते हैं। जापानने थोड़े ही वर्षोंमें इतनी उन्नति कर ली थी कि वह संसारकी बड़ी-बड़ी शक्तियोंमें गिना जाने लगा था। पर आज उसकी क्या दशा है—इसे सब लोग जानते हैं। इस प्रकार परिणाममें प्राप्त होनेवाली इस असफलताका कारण है—प्रयत्नकी अधर्ममूलकता। अधर्ममूलक कर्मसे आरम्भमें चाहे सफलता दीखे, पर परिणाममें असफलता ही हाथ लगती है। अधर्ममूलक प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं जाते, उनसे परलोकमें भी दुर्गति भोगनी पड़ती है। आसुरी सम्पदा और उससे होनेवाले अनिष्टकर परिणामोंका भगवान्‌ने गीताके सोलहवें अध्यायमें बड़ा ही सुन्दर एवं विशद वर्णन किया है। कहना न होगा कि आजका मानव स्पष्ट ही असुर-मानव होने जा रहा है और उसके कर्म प्रायः आज वैसे ही हैं, जैसे भगवान्‌ने आसुरी सम्पदावालोंके बताये हैं। फलतः इस लोकमें दुःख और अशान्ति तथा परलोकमें घोर नारकी यन्त्रणाएँ अनिवार्य हैं,—चाहे कोई इसे माने या न माने।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि धर्म और ईश्वर—ये दो ही सुख, सफलता एवं परम गतिके एकमात्र आधार हैं। परन्तु आजका अभिमानमत्त असुर-मानव इन्हींको अनावश्यक एवं त्याज्य मानने लगा है। कुछ ही वर्षों पूर्व रूसवासियोंने बहुमतसे ईश्वर

और धर्मका बहिष्कार करनेका दुःसाहस किया था। (सौभाग्यकी बात है कि पिछले युद्धकी विभीषिकाने उनकी आँखें खोल दीं और आज वे खुल्लमखुल्ला ईश्वर तथा धर्मका विरोध नहीं करते एवं वहाँके गिरजाघरोंमें फिरसे ईश्वरकी प्रार्थना होने लगी है !) पश्चिमके लोगोंकी देखा-देखी हम भारतवासी भी आज यह कहने लगे हैं कि धर्मसे ही हमारा पतन हुआ है, ईश्वरके प्रति विश्वासने ही हमें अधोगतिपर पहुँचाया है। इसीका परिणाम यह है कि आज हम पापसे नहीं डरते। ईश्वर और धर्ममें विश्वास करनेवाला एकान्तमें भी पाप करनेसे झिझकेगा, क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वतश्चक्षु हैं। किन्तु ईश्वर और धर्मको न माननेवाला पापसे नहीं डरेगा, केवल कानूनसे बचनेकी चेष्टा करेगा। यही कारण है कि आज लोग कानूनसे बचनेके नये-नये उपाय निकालकर नाना प्रकारके पाप करते हैं। ईश्वर और धर्मके प्रति अविश्वासके कारण ही आज प्रायः सभी क्षेत्रोंमें घूसखोरी बढ़ गयी है। चोरबाजार और जनताके संकटोंसे लाभ उठानेकी जघन्य मनोवृत्ति भी इसीके परिणाम हैं। सरकार घूसखोरी और चोरबाजारीको रोकनेके लिये नये महकमे खोलने जा रही है, परन्तु इस बुराईको रोकनेके लिये नियुक्त किये जानेवाले अधिकारी भी तो हमारे-ही-जैसे मनुष्य होंगे। वे घूसखोरी और चोरबाजारीको रोकने जाकर स्वयं इनके शिकार नहीं बन जायँगे—यह कौन कह सकता है। आज तो यह स्थिति है कि जनताके रक्षक कहलानेवाले भी जनताको दोनों हाथोंसे लूटने लगे हैं। इसका कारण यही है कि हमारे मनोंमें धर्म और ईश्वरका

भय नहीं रहा; इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं है। इसीलिये क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये किसी भी पाप-कर्ममें संकोच नहीं है। पकड़े न जायँ, फिर चाहे सो करें; कोई आपत्ति नहीं। और इसीलिये कानूनको बचाकर पाप करना आजकल बुद्धिमानीका चिह्न हो गया है। सर्वव्यापी भगवान् सब कुछ देखते हैं, हृदयके अंदरकी बात भी जानते हैं—यह धारणा प्रायः मिट गयी है।

एक कथा आती है कि एक बार किसी महात्माके पास दो शिष्य ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे गये। गुरुजीने दोनोंको एक-एक चिड़िया देकर कहा कि 'इसे किसी ऐसे स्थानमें ले जाकर मार डालो, जहाँ कोई न देखता हो।' पहला शिष्य गुरुजीकी आज्ञा मानकर तुरंत उसे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर मार लाया। दूसरे शिष्यने बहुत चेष्टा की; परन्तु उसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं मिला, जहाँ कोई न देखता हो। वह जहाँ भी गया, वहाँ कोई-न-कोई देखनेवाला था ही। कहीं कोई पशु बैठा था, तो कहीं कोई पक्षी। जहाँ कोई भी जीव नहीं मिला, वहाँ उसने देखा कि और नहीं तो वायु देवता तो वहाँ हैं ही; एकान्त वनमें भी उसने सोचा कि यहाँ वनदेवी तो अवश्य होंगी। वह कहीं भी जाता पृथ्वीमाता तो मौजूद ही रहती, सूर्य भगवान् तो हैं ही; कोई भी नहीं, वहाँ भी स्वयं वह और उसके अपने अंदरका अन्तर्यामी द्रष्टा तो था ही। अन्तमें वह निराश होकर लौट आया और जहाँ पहला शिष्य अपनी करतूतपर गर्वित था, वहाँ यह गुरुजीकी आज्ञाका पालन न कर सकनेके कारण विषण्णवदन होकर खेद प्रकट करने लगा। परीक्षा हो गयी। गुरुजीने समझ लिया कि दूसरा शिष्य ही ज्ञानका

वास्तविक अधिकारी है, क्योंकि वह भगवान्‌को सर्वत्र देखता था। गुरुजी समर्थ थे। उन्होंने पहले शिष्यद्वारा मारी हुई चिड़ियाको जिला दिया।

तात्पर्य यह है कि आजका मनुष्य पहले शिष्यकी भाँति प्रत्यक्षवादी हो गया है। अधर्मका फल प्रत्यक्ष तो दीखता नहीं। इसीलिये लोग झूठ बोलनेमें, झूठी गवाही देनेमें, झूठे आँकड़े बनानेमें नहीं हिचकते। कहीं पकड़े भी जाते हैं तो यही सोचते हैं कि 'मैंने अमुक जाल बनानेमें भूल कर दी, आगे और भी सावधान रहूँगा।' उस समय भी यह नहीं सोचते कि 'मैंने झूठ बोलकर पाप किया है, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।' आज तो हमारा यहाँतक पतन हो गया है कि ईश्वर और धर्मको माननेवालोंको आजका शिक्षित समाज पाखण्डी और मूर्ख मानने लगा है। यही नहीं, सभ्य-समाजमें लोग आज अपनेको ईश्वरवादी कहनेमें भी हिचकने लगे हैं। यह सत्य है कि आज अपनेको ईश्वरवादी और धार्मिक कहलानेवालोंमें पाखण्डी भी बहुत-से हैं और वे नास्तिकोंसे भी अधिक भयङ्कर और नास्तिकताके उत्पादक हैं; परन्तु ऐसे लोगोंसे ईश्वर और धर्मका अपलाप (बाध) नहीं हो सकता। सत्य तो सत्य ही रहेगा। उसका त्रिकालमें भी बाध नहीं हो सकता। अवश्य ही उसे न माननेवाला उसके लाभसे वञ्चित रहेगा और नष्ट हो जायगा।

जो कुछ सहृदय महानुभाव जनताका दुःख दूर करना, सर्वत्र सुख-शान्तिका प्रसार करना, अनाचार-अत्याचारको मिटाकर सबको समान भावसे लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति कराना और सबको आराम

पहुँचाना चाहते हैं, उनमें भी अधिकांश ऐसे हैं जो, इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये स्वयं केवल लौकिक उपायोंको ही काममें लाते हैं और उन्हींके लिये दूसरोंको भी उपदेश करते हैं। धर्म और ईश्वरमें, जो सुख-शान्तिके मूल हैं, विश्वास बढ़नेका साधन न तो वे करते हैं और न उसे करनेके लिये दूसरोंको ही उपदेश करते हैं। यही कारण है कि आज जगत्में सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है और मानवजाति दुःखाग्निकी ज्वालासे जल रही है !

धर्म और ईश्वर नित्य हैं, अटल हैं, महान् हैं। ऐसा समझकर हमें अपने कल्याणके लिये उनका आश्रय लेकर उनका प्रचार करना चाहिये। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' जो बुद्धिमान् एवं विचारशील हैं, उनका कर्तव्य है कि वे धर्मानुकूल आचरणके द्वारा धार्मिक भावोंका प्रचार करें। स्वयं धर्मानुकूल आचरण किये बिना कोई धर्मका प्रचार नहीं कर सकता। वास्तवमें तो ईश्वर और धर्मका प्रचार कोई कर ही क्या सकता है। ईश्वर सर्वसमर्थ हैं। उनकी शक्तिसे ही सब कुछ हो रहा है। कल्याणकामी सभी मनुष्योंको एक-न-एक दिन उन्हें मानना ही पड़ेगा। बिना माने जीवका निस्तार नहीं है; फिर भी प्रत्येक धार्मिक एवं ईश्वरवादी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह ईश्वरका आश्रय लेकर अपने आचरणद्वारा जगत्में ईश्वर और धर्मका प्रचार करे। स्वयं ईश्वर और धर्मकी ओर आगे बढ़े, तथा सबको बढ़ानेका प्रयत्न करे। यही जगत्की सबसे बड़ी सेवा है और इसीसे जगत्का वास्तविक कल्याण होगा।

ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता

ब्रह्मचर्यका पालन सभी दृष्टियोंसे परमावश्यक है। ब्रह्मचर्यसे बल, बुद्धि, तेज एवं आयुकी वृद्धि, आरोग्य-सिद्धि, लोक-परलोकके सुख, शान्ति—यहाँतक कि परमात्माकी प्राप्ति भी, जो जीवनका परम ध्येय एवं जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है, सम्भव है। शास्त्रोंने भी ब्रह्मचर्यकी महिमा खूब गायी है। श्रुति कहती है—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।' 'ब्रह्मचर्य एवं तपके द्वारा ही देवतालोग मृत्युपर भी विजय पा सके हैं।' कठोपनिषद्में ब्रह्मचर्यको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बताया गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ; 'ओम्' यही वह पद है।'

भगवद्गीतामें भी यही मन्त्र कुछ परिवर्तनके साथ इस प्रकार आया है—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥
(८ । ११)

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमात्माको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा ।'

उपर्युक्त दोनों ही मन्त्रोंमें ब्रह्मचर्यको स्पष्ट शब्दोंमें परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाया गया है । हमारी आदर्श वर्णाश्रम-व्यवस्थामें ब्रह्मकी प्राप्तिको लक्ष्य मानकर ही ब्रह्मचर्य-पालनका विधान किया गया है । सनकादि परमर्षि, देवर्षि नारद, भक्तराज हनुमान्, परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी तथा वीराग्रगण्य पितामह भीष्म आदि हमारे यहाँके आदर्श ब्रह्मचारी हैं । स्मृतिग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी महिमा कही गयी है ।

लौकिक एवं पारमार्थिक—सभी दृष्टियोंसे वीर्यरक्षा परमोपयोगी है । वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है । वीर्यकी रक्षासे लोक-परलोक सब कुछ सध सकता है और वीर्यहीन पुरुष संसारमें कुछ भी नहीं कर सकता । शरीरकी सात धातुओंमें वीर्य ही सर्वोपरि है । वीर्यसे ही शरीर बनता है और वीर्यसे ही उसकी रक्षा होती है । वीर्य ही जीवनका सार है । वीर्यका अपव्यय करनेवाला मनुष्य कभी स्वस्थ एवं सुखी नहीं रह सकता । वह नाना प्रकारके

रोगोंका शिकार बनकर अकालमें ही कालका ग्रास बन जाता है। वीर्यकी मात्रा कम हो जानेपर शरीरकी सारी क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं—मस्तिष्क कमजोर हो जाता है, स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, स्नायु निर्बल हो जाते हैं, रक्तका संचार कम हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति कम हो जाती है।

व्यायामके लिये भी ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। व्यायामशिक्षक व्यायामके साथ-साथ ब्रह्मचर्य तथा दुग्ध-सेवनपर अधिक जोर देते हैं। ब्रह्मचर्यके बिना तो व्यायाम कभी-कभी हानिकारक हो जाता है, जो लोग ब्रह्मचर्यपर ध्यान न देकर व्यायामको चालू रखते हैं, वे लोग कभी-कभी गठिया आदि भयङ्कर रोगोंके शिकार होते पाये जाते हैं। स्वास्थ्यरक्षा एवं आरोग्य-लाभके लिये भी ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। रोगीके रोग-निवारण तथा शीघ्र आरोग्यलाभके लिये वैद्यलोग ओषधि-सेवनके साथ-साथ पथ्य-भोजन तथा ब्रह्मचर्य-पालनपर विशेष जोर देते हैं।

योग-साधनमें भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। अष्टाङ्ग-योगका प्रथम अङ्ग पाँच प्रकारके यमोंका पालन है, और यमोंमें ब्रह्मचर्यका प्रमुख स्थान है। ब्रह्मचर्यके बिना मनकी एकाग्रता भी सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्यहीन पुरुषको आलस्य एवं विक्षेप अधिक सताते हैं। उसका मन अधिक चञ्चल होता है। ब्रह्मचर्यके बिना मनुष्यके न तो लौकिक कार्य सुचारुरूपसे सिद्ध होते हैं और न वह परमार्थमें ही अग्रसर हो सकता है। वह इतोभ्रष्ट-ततोभ्रष्ट होकर दुखी जीवन व्यतीत करता है और दुखी ही मरता है।

ज्ञानमार्गमें भी ब्रह्मचर्यको अत्यन्त आवश्यक माना गया है। छान्दोग्य-उपनिषद्‌में कथा आती है कि 'इन्द्रने प्रजापतिसे ज्ञानका उपदेश ग्रहण करनेके लिये एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था।' इसी प्रकार दधीचि ऋषिके पास जब अश्विनीकुमार ज्ञानोपदेशके लिये जाते हैं, तब उन्हें भी पहले दस वर्षतक ब्रह्मचर्य-पालनके लिये कहा जाता है। तान्त्रिक साधना एवं भक्ति-साधनामें भी ब्रह्मचर्यपर जोर दिया जाता है। सारांश यह कि जिस प्रकार लौकिक कार्योंमें सिद्धिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है, उसी प्रकार परमार्थ-साधनमें भी ब्रह्मचर्यकी परमोपयोगिता है।

अष्टविध मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। अष्टविध मैथुनका प्रसङ्ग विस्तारसे तत्त्व-चिन्तामणि भाग ५ में प्रकाशित हमारे 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक लेखमें आ चुका है। पूर्ण ब्रह्मचर्यके पालनके लिये उन सभी प्रकारके मैथुनोंका त्याग आवश्यक है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासियोंको तो इन सभी प्रकारके मैथुनोंसे बचना ही चाहिये, गृहस्थोंको भी अपनी विवाहिता पत्नीको छोड़कर अन्य किसी भी स्त्रीके साथ न तो एकान्तमें मिलना चाहिये, न उनसे बातचीत करनी चाहिये, न उनकी ओर देखना चाहिये और न उनका चिन्तन ही करना चाहिये। अपनी विवाहिता स्त्रीके साथ भी अधिक सङ्ग करना सभी दृष्टियोंसे हानिकर है। पर-स्त्रियोंकी चर्चासे भी मनुष्यको सदा दूर रहना चाहिये। पर-स्त्रीका स्पर्श तो सर्वथा त्याज्य है ही। ये सभी क्रियाएँ मैथुनके ही अन्तर्गत समझी जाती हैं। इन सब बातोंसे परहेज रखना चाहिये; क्योंकि मनुष्यका मन बड़ा चञ्चल होता है, वह किसी भी क्षण बिगड़ सकता है। शास्त्रोंने तो यहाँतक कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥
(मनु० २ । २१५)

'अपनी मा, बहिन अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न रहे। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं; वे विवेकी मनुष्यको भी पथभ्रष्ट कर देती हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या ।'

आजकल पाश्चात्त्य शिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावमें आकर हमलोग इन सारे बन्धनोंको क्रमशः शिथिल करते जा रहे हैं। आजकल स्त्री-पुरुषोंका परस्पर बेरोक-टोक मिलना, निःसंकोच संभाषण करना, गोष्ठियोंमें सम्मिलित होना, नाच-तमाशोंमें जाना, नाटक-सिनेमा देखना आदि निर्दोष माने जाने लगे हैं। हमारे स्कूलों एवं कालेजोंमें लड़कियों एवं लड़कोंकी सहशिक्षाका प्रचार जोरोंसे बढ़ रहा है। इसका परिणाम दोनोंके लिये ही हानिकारक सिद्ध हो रहा है। जिन लोगोंने इसपर गहरा विचार किया है, उन सभीने इसके अनिष्टकर परिणामोंको स्वीकार किया है। साहित्यकी गति भी क्रमशः कुरुचिकी ओर जा रही है। चल चित्रपटोंसे तो हमारे युवक-युवतियोंकी बड़ी हानि हो रही है। पर हमलोग आँख मूँदे हुए आधुनिकताके प्रवाहमें बहते चले जा रहे हैं। नैतिक हानि कोई विशेष हानि नहीं समझी जाती। स्त्रियोंमें सतीत्वका आदर्श क्रमशः लुप्त होता जा रहा है। व्यभिचार उतना हेय नहीं समझा जाता। विलासिता एवं अपनेको सजानेकी भावना क्रमशः प्रबल होती जा रही है। जीवन अधिकाधिक खर्चीला बन रहा है।

सबसे अधिक शोचनीय है—हमारे बालक-बालिकाओंमें गंदी

और अश्लील प्रवृत्तियोंका बढ़ना । नैतिक एवं धार्मिक शिक्षाके अभाव, देख-रेखकी कमी तथा शृङ्गारकी भावनाने उन्हें कई प्रकारकी गर्हित कुटेवोंका शिकार बना दिया है । खान-पानमें असंयम, कुरुचिपूर्ण साहित्य, नाटक, सिनेमा आदिमें बेरोकटोक जाना, आदर्श चरित्रवान् शिक्षकोंकी कमी तथा अनुशासनका अभाव—ये सभी इस अवाञ्छनीय स्थितिमें सहायक सिद्ध हुए हैं । फल यह हुआ है कि हमारे बालकोंमें बहुत-सी गंदी आदतें क्रमशः घर करती जा रही हैं । हमारे स्कूलों, कालेजों तथा उनसे सम्बद्ध छात्रावासोंकी बात तो जाने दीजिये, हमारी संस्कृत पाठशालाएँ तथा उनके छात्रावास—यहाँ-तक कि हमारे तथा-कथित ऋषिकुल और गुरुकुल भी इन बुराइयोंसे नहीं बच पाये हैं । आये दिन हमें इस प्रकारकी शिकायतें सुननेको मिलती हैं और इधर तो कई बालकों एवं नवयुवकोंने हमें स्वयं आकर अपने दोष बताये हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले अनिष्टकर परिणामोंको स्वीकार किया है ।

कहना न होगा कि इस प्रकारकी कुटेवोंसे हमारे बालकोंकी शारीरिक एवं नैतिक कितनी बड़ी हानि हो रही है । उनमेंसे कई सदाके लिये स्त्री-सुखसे सर्वथा वञ्चित हो जाते हैं—असमयमें ही नपुंसकताके शिकार हो जाते हैं तथा कुछ धातुक्षय, प्रमेह, यक्ष्मा आदि भयङ्कर रोगोंके चंगुलमें फँस जाते हैं । उनके स्नायु निर्बल हो जाते हैं; वे तेजोहीन, निरुत्साह एवं मन्दबुद्धि हो जाते हैं और कई तो जीवनसे भी निराश हो जाते हैं । उनमें सन्तानोत्पादनकी क्षमता नहीं रह जाती और यदि सन्तान होती भी है तो वह दुर्बल, क्षीणकाय, रोगग्रस्त एवं अल्पायु होती है । बालक ही हमारे

राष्ट्रकी नींव हैं, उनमें इस प्रकारकी हस्तमैथुन आदि बुराइयोंका आ जाना राष्ट्रके लिये बड़े खतरेकी चीज है । अतः हमें समय रहते चेत जाना चाहिये और शीघ्र-से-शीघ्र इस बढ़ते हुए रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये । यदि इसकी वृद्धिको समयपर नहीं रोका गया तो कभी यह इतना भयङ्कर रूप धारण कर सकता है कि फिर इसे सँभालना कठिन हो जायगा और हमारा राष्ट्र पतनके घोर गर्तमें गिर जायगा ।

इस बीमारीको दूर करनेके लिये संक्षेपतः निम्नलिखित उपायोंको काममें लाना चाहिये । सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि हमारे बालकोंको चरित्रवान् एवं आदर्श बनानेके लिये हम स्वयं चरित्रवान् एवं आदर्श बनें । बालकोंको चरित्रवान् अथवा चरित्रहीन बनानेमें उनके माता-पिता तथा शिक्षक ही प्रधान हेतु हैं । जबसे बालक गर्भमें आये, तभीसे माता-पिताको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि उसपर अच्छे संस्कार पड़ें, बुरे संस्कार न पड़ने पायें । संस्कारों-की प्रथा तो हमलोगोंमें क्रमशः उठती जा रही है । पहले हमलोगों-में गर्भाधान-जैसी क्रिया भी, जो आजकल प्रायः काम-वासनाकी पूर्तिके लिये ही होती है, धार्मिक उद्देश्यसे एवं वैदिक विधिसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक की जाती थी । गर्भाधानसे लेकर जन्मतक और जन्मसे लेकर विवाहपर्यन्त हमारे बालकोंके कई संस्कार होते थे, जिनसे उनकी बुद्धि एवं चरित्रपर बड़ा शुभ प्रभाव पड़ता था । उपनयन प्रायः पाँचसे बारह वर्षतककी अवस्थामें हो जाता था । उसके बाद कम-से-कम चौबीस वर्षकी अवस्थातक प्रत्येक द्विजाति बालकको ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुके घर रहकर वेदाध्ययन एवं अन्य शास्त्रोंका अभ्यास करना पड़ता

था। इस कालमें उन्हें स्त्रियोंके संसर्ग एवं चर्चासे सर्वथा दूर रक्खा जाता था; उनकी दिनचर्या ऐसी होती थी कि उसमें उन्हें धार्मिक कृत्य, गुरुसेवा एवं अध्ययनसे फुर्सत ही नहीं मिलती थी जिससे उन्हें कोई बुरी बात सोचनेका भी अवसर मिले। गुरुकुलोंका वातावरण अत्यन्त पवित्र होता था। गुरु भी परम आस्तिक, परम धार्मिक, आदर्श चरित्रवान् एवं तपस्वी होते थे। वे सर्वथा निःस्पृह एवं अर्थ-कामनाशून्य होते थे। उनका जीवन अत्यन्त सादा, तितिक्षापूर्ण एवं पवित्र होता था। वे शिष्योंद्वारा लायी हुई भिक्षापर ही निर्वाह करते थे और उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित होती थीं। वे बस्तीसे बहुत दूर जंगलोंमें रहते थे, जहाँ किसी प्रकारकी बुराई प्रवेश नहीं कर पाती थी।

बालकोंको कठोर, संयमपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। शृङ्गार अथवा शौकीनी तो उन्हें छूतक नहीं जाती थी। शरीर अथवा बालोंमें तेल लगाना, उबटन लगाना, सिले हुए वस्त्र पहनना, स्वादिष्ट भोजन करना—यहाँतक कि छाता एवं जूतातक रखना उनके लिये मना था। वे जंगलोंसे गुरुके लिये लकड़ियाँ तोड़कर लाते थे, गुरुके पशुओंकी सेवा—सँभाल करते थे, गुरुके लिये पानी भरते थे और उनके अन्य कार्योंको सँभालते थे। इस प्रकार उनके जीवनमें सद्गुण, सदाचार, संयम, श्रमसहिष्णुता, पवित्रता, सेवाभाव, बड़ोंका आज्ञापालन, विनय, तितिक्षा और उपासना आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते थे। वे शरीर और मनसे बलवान्, दृढ़संकल्प, निर्भय एवं चरित्र और आत्मबलसे सम्पन्न होकर निकलते थे। गुरुसेवा, सद्गुण, सदाचार और उपासनासे उनकी बुद्धि भी बड़ी प्रखर एवं

निर्मल हो जाती थी। वे गुरु-कृपासे अनायास ही बहुत थोड़े समयमें अनेक शास्त्रोंमें पारंगत हो जाते थे और उनकी विद्या-बुद्धि-विवेकका सारा जगत् लोहा मानता था। इस प्रकार हमारे बालक ओजस्वी एवं तेजस्वी होकर ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे और इसके बाद योग्य कन्यासे धर्मपूर्वक विवाह करके धर्मपूर्वक ही जीवन व्यतीत करते थे। बचपनसे ही संयम एवं सदाचारकी शिक्षा पा लेनेके कारण वे गृहस्थाश्रममें भी बड़े ही संयम एवं पवित्रतासे रहते थे। केवल पितृ-ऋणसे मुक्त होने तथा भगवान्‌के द्वारा प्रवर्तित सृष्टिचक्रको चलानेके उद्देश्यसे ही—काम-वासनाकी तृप्तिके लिये नहीं—ऋतुकालमें, वर्जित तिथियोंको छोड़कर अपनी विवाहिता पत्नीके साथ समागम करते थे और गर्भस्थितिके बाद पुनः ऋतुदर्शनके कालतक पत्नीसे अलग रहते थे।

समयके फेरसे परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी। आजकल तो आश्रम-व्यवस्थाके बिगड़ जानेसे समाजका सारा ढाँचा ही बदल गया है। न तो हमारा गृहस्थ-आश्रम ही आदर्श रह गया है और ब्रह्मचर्याश्रमका तो प्रायः लोप ही हो गया है। हमारा गृहस्थाश्रम आज विलासिता एवं असंयमका घर बन गया है। संस्कारोंकी प्रथा प्रायः उठ-सी गयी है। उपनयन भी कथनमात्र रह गया है। विवाहको धार्मिक बन्धन अथवा धार्मिक संस्कार माननेकी भावना भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। आये दिन हिंदू-जनतापर हमारे ही भाइयोंद्वारा धर्मविरोधी कानून लादनेकी चेष्टा की जाती है। प्रस्तावित हिंदू-कोड तो—यदि हमारे दुर्भाग्यवश वह पास हो जायगा—विवाहकी पवित्रताको, जो हिंदू-समाज-व्यवस्थाकी भित्ति है,

सर्वथा मटियामेट कर देगा। स्त्री-समागम सर्वथा कामबुद्धिसे किया जाता है, ऋतुकालका कोई विचार नहीं रह गया है, संयमके दर्शन भी दुर्लभ हो रहे हैं तथा गर्भस्थितिके बाद भी प्रसव-कालके अत्यन्त निकटतक स्त्री-समागम प्रायः जारी रहता है। मनोंमें पवित्रताकी भावना कम रह गयी है। व्यभिचार, अनाचार बढ़ रहे हैं, जिसके कारण स्त्री-पुरुष सबकी बुद्धि प्रायः मलिन हो रही है। शास्त्रकी मर्यादा अथवा धर्मके बन्धनका विचार कम रह गया है। खान-पानकी पवित्रता तथा संयम उठता-सा जा रहा है। पवित्र-अपवित्र सभी चीजें मुँहमें डाल ली जाती हैं। जूँठनका कोई विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। ऊँच-नीच, सदाचारी-दुराचारी, पवित्र-अपवित्र सब प्रकारके लोगोंके साथ एक ही मेजपर तथा एक ही बर्तनमें बर्फ, सोडा-वाटर आदि पीना और भोजन करना एवं खाते समय एक-दूसरेको स्पर्श करना तथा जूठे हाथोंसे खाद्य-सामग्रीका आदान-प्रदान तो आजकल सभ्यताकी निशानी माना जाने लगा है। अभक्ष्य-भक्षणसे भी ग्लानि उठती जा रही है। झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी बढ़ रही है। प्रायः किसी भी क्षेत्रमें घूसके बिना काम निकालना कठिन हो रहा है। हिंसाकी ओरसे उदासीनता बढ़ रही है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि हमारे विचार दूषित हो गये हैं, बुद्धि मलिन हो गयी है और धार्मिक भावना क्रमशः नष्ट होती जा रही है। ऐसी दशामें हमारे बालक यदि बिगड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इधर हमारे स्कूलों एवं कालेजोंका वातावरण भी दिनोंदिन बिगड़ता जा रहा है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही है। स्कूलोंके

प्रबन्धक तथा शिक्षक भी तो हमीं लोग हैं और उनमें शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालक हमारी ही संतान हैं। ऐसी दशामें उनका सुधार कैसे हो। पहलेकी भाँति आजकलके अधिकांश शिक्षकोंमें न तो त्याग और तितिक्षा है, न संयम और सदाचार है, न सादगी और पवित्रता है। धार्मिक भावना, आस्तिक बुद्धि एवं नैतिक बलका भी प्रायः अभाव देखा जाता है। छात्रोंके सामनेतक अध्यापक बीड़ी, सिगरेट पीनेमें नहीं हिचकते, नाटक-सिनेमाओंको उन्हें साथ लेकर जाते हैं तथा उनके साथ निःसंकोच हँसी-मजाक करते पाये जाते हैं। ऐसी दशामें बालकोंपर उनका अच्छा प्रभाव कैसे पड़े। इधर बालकोंमें हमारी देखा-देखी शृङ्गारकी भावना बचपनसे ही घर कर लेती है। हम स्वयं भी अपने बालकोंको अच्छे-से-अच्छा सजा हुआ देखना चाहते हैं। सादगी, संयम और तितिक्षासे उन्हें कोसों दूर रक्खा जाता है। नाटक-सिनेमा, क्लब आदिका भी उनपर अत्यन्त अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ रहा है।

इन सब बुराइयोंसे बचनेके लिये हमें सर्वप्रथम स्वयं संयमी एवं सदाचारी बनना होगा। गर्भाधानसे लेकर बच्चा पैदा होनेतक पिता-माता दोनोंको बड़े संयमसे रहना चाहिये। माताको विशेषरूपसे पवित्रताका ध्यान रखना चाहिये। गर्भिणी अवस्थामें स्त्रीके साथ समागम शारीरिक एवं नैतिक—सभी दृष्टियोंसे हानिकारक है। उसका गर्भस्थ शिशुपर बड़ा ही अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है। माताको जबतक बालक पेटमें रहे, बड़े ही संयम एवं पवित्रतासे रहना चाहिये। भोजन शुद्ध और सात्त्विक हो—इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। चित्तको सदा प्रसन्न एवं सुन्दर विचारोंसे

पूर्ण रखना चाहिये। गंदे विचार एवं गंदे वातावरणसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। अच्छे ग्रन्थोंका अध्ययन एवं श्रवण करना चाहिये. आदर्श महापुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़नी-सुननी चाहिये। प्रह्लादकी माता प्रह्लादकी गर्भावस्थामें देवर्षि नारदके आश्रममें तथा उन्हींकी देख-रेखमें रही थी। इसीका परिणाम यह था कि उसकी कोखसे प्रह्लाद-जैसा अनुपम भक्त पैदा हुआ। नेपोलियन बोनापार्टका युद्धक्षेत्रमें ही जन्म हुआ था। इन सब उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गर्भस्थ शिशुपर हम जैसा चाहें वैसा प्रभाव डाल सकते हैं।

बालकके जन्मके बाद भी हमें अपनी चेष्टाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। हमारे द्वारा ऐसी कोई भी क्रिया नहीं होनी चाहिये, जिसका बालकपर दूषित प्रभाव पड़े। अत्यन्त छोटे बालकोंके सामने भी हमें कभी किसी प्रकारकी अश्लील और गंदी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। इस बातका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हमारी कोई भी कामचेष्टा बालकोंकी जानकारीमें न हो। गंदे चित्र अथवा गंदा साहित्य कभी बालकोंके हाथमें न जाय—इस विषयमें पूरी सतर्कता रहनी चाहिये। उनके सामने ऐसी कोई चर्चा भी नहीं होनी चाहिये, जिससे उनमें कामभाव जाग्रत् हो अथवा कामविषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो। खेलमें भी उनके गुप्त इन्द्रियोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये। नौकरोंको भी इस विषयमें सावधान कर देना चाहिये। बल्कि जहाँतक हो सके, बालकोंकी देख-रेखका भार अपने ही ऊपर रखना चाहिये, उन्हें नौकरोंके हाथमें देकर सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये। आजकल

बड़े और शिक्षित घरानोंमें प्रायः बालकोंको विदेशी नर्सोंके हाथमें सौंप दिया जाता है, जिससे उनमें बचपनसे ही विदेशी भाव घर कर लेते हैं और वे मातृस्नेहसे वञ्चित कर दिये जाते हैं। इससे माताओंमें भी मातृत्वकी भावना जाती रहती है। जहाँतक हो सके, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बच्चोंमें श्रृङ्गारकी भावना जाग्रत् न हो। इसके लिये हमें स्वयं सजावटसे दूर रहना होगा। बालकोंको साफ-सुथरा अवश्य रखना चाहिये, परंतु सजानेकी भावना नहीं होनी चाहिये। सद्गुण-सदाचार ही हमारा वास्तविक श्रृङ्गार होना चाहिये। हमारी संतान गुणवान्, चरित्रवान् एवं बलवान् बने—इसीकी चेष्टा हमें करनी चाहिये। बालकोंको अधिक मिठाई, खटाई तथा मिर्च आदि उत्तेजक पदार्थोंसे भी दूर रखना चाहिये। मांसाहार तो शारीरिक एवं धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे हानिकारक और अप्राकृत है ही; लहसुन, प्याज, चाय, काफी, तम्बाकू, पान, बीड़ी, सिगरेट आदिका सेवन भी हानिकारक है। परंतु अपनी संतानको इन सबसे अलग रखनेके लिये हमें भी इन सबका त्याग करना होगा। बालकोंका जीवन पवित्र बने—इसके लिये हमें बड़े-से-बड़े त्यागके लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये। बालकोंका जीवन नियमित बने—इसकी भी हमें पूरी चेष्टा करनी चाहिये। उनमें प्रारम्भसे ही सूर्योदयसे पूर्व उठने, उठते ही शौचसे निवृत्त होने तथा सर्दीसे बचते हुए यथासम्भव बारहों महीने ताजे जलसे स्नान करनेकी आदत डालनी चाहिये। लघुशङ्काके बाद मूत्रेन्द्रियको ठंडे जलसे धोनेका अभ्यास भी डालना सभी दृष्टियोंसे अच्छा है। बालकोंको कब्जकी शिकायत न हो—इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। कब्जसे मूत्रेन्द्रियमें उत्तेजना आती है और उससे बालक

कई प्रकारकी कुटेवोंके शिकार बन जाते हैं, बालकोंका भोजन सदा शुद्ध एवं सात्त्विक होना चाहिये; उसमें परिस्थितिके अनुसार दूधकी मात्रा अधिक होनी चाहिये तथा अन्न एवं जलकी मात्रा नियमित होनी चाहिये। उन्हें भोजन आदि समयपर ही दिया जाना चाहिये और दावतों आदिमें तथा खेल-तमाशों एवं ब्याह-शादी आदिमें यथासम्भव नहीं भेजना चाहिये; क्योंकि ऐसे अवसरोंपर हमलोगोंके यहाँ प्रायः सभी प्रकारके असंयम बरते जाते हैं, जिनका कोमलमति बालकोंपर बड़ा ही अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है।

बालकोंकी दिनचर्यापर तथा वे किस समय कहाँ जाते और किन-किनसे मिलते हैं तथा किस-किसके सम्पर्कमें आते हैं—इसपर भी पूरा नियन्त्रण एवं देख-रेख रहनी चाहिये। बालकोंको स्वतन्त्र छोड़ना उनका अनिष्ट करना—उन्हें सर्वथा उच्छृङ्खल बना देना है। उन्हें सदा-सर्वदा अपनी दृष्टिमें रखना चाहिये और किसी भी प्रकारका अनिष्ट प्रभाव उनपर न पड़े, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। वे किस प्रकार उठते-बैठते हैं, किस समय किस प्रकार चलते हैं, किस प्रकार क्या खाते-पीते हैं, किस प्रकार सोते हैं—इन सभी बातोंपर हमें पूरी दृष्टि रखनी चाहिये। जबतक उनकी बुद्धि परिपक्व न हो जाय, जबतक उन्हें अपने हिताहितका ज्ञान न हो जाय, जबतक उनका विवाह न हो जाय, बल्कि उसके बाद भी उनके चरित्रपर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये, और उनमें किसी प्रकारका दोष दीखनेपर उन्हें तुरंत सतर्क कर देना चाहिये, जिसमें वह दोष बढ़ने न पाये। स्कूलों एवं कालेजोंके संचालकों एवं प्रबन्धकों-को, विशेषकर अध्यापकों एवं छात्रावासके अध्यक्षोंको भी माता-

पिताकी भाँति ही अपनी जिम्मेवारीको पूरी तरहसे समझते हुए इस विषयमें पूरी सतर्कता रखनी चाहिये और स्वयं भी आदर्श जीवन बितानेकी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे बालकोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। स्कूलों, कालेजों एवं विद्यालयोंमें जहाँतक सम्भव हो, चरित्रवान् व्यक्ति ही अध्यापक आदिके पदोंपर रक्खे जायँ, केवल उनकी शिक्षासम्बन्धी योग्यतापर ही संतोष न कर लिया जाय। विशेषकर मुख्याध्यापक तथा छात्रावासोंके अध्यक्ष तो चरित्रवान् होने ही चाहिये। शिक्षकोंको भी, जहाँतक हो सके, सादा जीवन व्यतीत करना चाहिये और स्वाद-शौकीनीसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। पान, तम्बाकू, बीड़ी आदिका भूलकर भी व्यवहार नहीं करना चाहिये और चाय, काफी आदिसे भी परहेज रखना चाहिये। ऋषिकुल, आश्रमों, स्कूलों तथा कालेजोंमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाका भी अवश्य प्रबन्ध होना चाहिये और हमारे बालक बुद्धिमान् एवं विद्वान् होनेके साथ-साथ ओजस्वी, तेजस्वी, सच्चरित्र, परम आस्तिक एवं धर्मभीरु भी बनें, इसकी पूरी चेष्टा होनी चाहिये। इन सब बातोंपर यदि सामूहिकरूपसे ध्यान दिया जाकर पूरी तत्परताके साथ इनका पालन करनेकी चेष्टा की जाय तो आशा है, हमारे बालकोंका बहुत अंशोंमें सुधार हो सकता है और वे आगे चलकर हमारे राष्ट्र एवं समाजकी नौकाके सुनिपुण कर्णधार बनकर भारतका मुख उज्ज्वल कर सकते हैं। भगवान् सदा हमारे साथ हैं, उन्हें सहायक मानकर यदि इस दिशामें समुचित प्रयत्न किया जायगा तो सफलता निश्चित है। अतः हम सबको मिलकर इस दिशामें संघटित प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

छः प्रकारकी महत्त्वपूर्ण चार-चार बातें

चार प्रकारके मनुष्य

संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और नीच।

१. उत्तम मनुष्य वे हैं, जो अपने साथ बुराई करनेवालोंके प्रति भी बुराई न करके सदा भलाई ही करते हैं। ये मनुष्य प्रथम श्रेणीके हैं।

२. दूसरी श्रेणीके मध्यम मनुष्य वे हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ न तो भलाई करते हैं और न बुराई ही। उनका निश्चय होता है कि हमारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है या हो रहा है, इसमें प्रारब्ध ही कारण है। किसीका कोई दोष नहीं। वे तो बेचारे केवल निमित्तमात्र हैं।

३. तीसरी श्रेणीके वे कनिष्ठ मनुष्य हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ बुराई करते हैं और उनसे बदला लेनेका प्रयत्न करते हैं।

इन प्रतिहिंसापरायण लोगोंमें भी चार प्रकार होते हैं। प्रथम, जो बुराई करनेवालेके साथ बदलेमें तुरंत उतनी ही या उससे न्यूनाधिक बुराई करके बदला ले लेते हैं। द्वितीय, जो अनिष्ट करनेवालेके साथ स्वयं अनिष्ट न करके अदालतमें दावा कर देते हैं। तृतीय, जो अदालतमें न जाकर पञ्चोंके द्वारा दण्ड दिलवाते हैं और चतुर्थ, पञ्चोंसे कुछ भी न कहकर अनिष्ट करनेवालेको समुचित दण्ड मिले, इसके लिये परमात्मासे प्रार्थना करते हैं। ये चारों ही कनिष्ठ श्रेणीके मनुष्य होते हैं।

४. चतुर्थ श्रेणीके नीच मनुष्य वे हैं; जो भलाई करनेवालोंके साथ भी बुराई ही किया करते हैं। ऐसे लोगोंके द्वारा किसीका भला होना सम्भव नहीं।

उपर्युक्त चारों श्रेणियोंके मनुष्योंके साथ अपना भला चाहनेवाले पुरुषको सदा सद्व्यवहार ही करना चाहिये।

चार याद रखने और भूलनेकी बातें

चार बातोंमें दो सदा याद रखनेकी हैं और दो सर्वथा भुला देनेकी।

याद रखनेयोग्य बातोंमें पहली बात है—(१) 'किसीके द्वारा अपने प्रति किया गया कोई भी उपकार।' दूसरेका उपकार याद रखनेसे उसके प्रति मनमें पवित्र कृतज्ञताके भाव आते हैं, नम्रता आती है, उसके हितके विचार और कर्म होते हैं, जिससे हम उसके ऋणसे मुक्त हो जाते हैं और परिणाममें हमारा हित एवं कल्याण होता है। दूसरी याद रखनेयोग्य बात है—(२) 'अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें पश्चात्ताप होता है, दुबारा वैसी भूल न करनेके लिये प्रेरणा मिलती है और उस व्यक्तिको सुख पहुँचानेवाले हितकारक विचार और कार्य करके उससे और परमात्मासे क्षमा प्राप्त करनेका प्रयत्न होता है। यही इसका प्रायश्चित्त है, इससे पापका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भूलने योग्य दो बातोंमें पहली बात है–(१) 'अपने द्वारा किया गया किसीका उपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें अभिमान उत्पन्न होता है, 'मैं उपकारक हूँ' और 'वह उपकार प्राप्त करनेवाला है।' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठबुद्धि और उसमें हीनबुद्धि होती है, जिससे उसके तिरस्कारकी आशङ्का रहती है; और यदि कभी उसके

आचरणमें कृतज्ञता नहीं दीखती तो अपने मनमें दुःख और उसके प्रति रोष भी हो सकता है। साथ ही उपकारकी स्मृति यदि प्रमादवश कहीं उसे लोगोंमें कहलवा देती है तो उस उपकारका पुण्य नष्ट हो जाता है। अतएव अभिमानसे बचने और पुण्यकी रक्षा करनेके लिये उसे भुला देना चाहिये। दूसरी भुला देने योग्य बात है—(२) 'दूसरेके द्वारा किया गया अपना अपकार।' इसे याद रखनेसे मनमें द्वेष, वैर और प्रतिहिंसाकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं और उनके कारण अनिष्टाचरण और पाप होनेकी सम्भावना रहती है। द्वेष और वैरके कारणसे चित्तमें सदा जलन रहती है और कदाचित् वैरजनित कोई क्रिया हो जाय तो नयी-नयी जलन पैदा करनेवाले परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये इसे भी भुला देना चाहिये।

चार प्रकारकी मुक्ति

चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य—भगवान्‌के दिव्यलोकमें रहना; सामीप्य—भगवान्‌के समीप रहना; सारूप्य—भगवान्‌के रूपके समान रूपका प्राप्त करना और सायुज्य—भगवान्‌के रूपमें मिल जाना।

चार प्रकारके मुक्त पुरुष

मुक्त पुरुष भी चार प्रकारके होते हैं—

१. जो मुक्ति ग्रहण करते हैं और संसारका काम भी करते हैं। उनके सांसारिक कामका अभिप्राय है—भूले-भटके लोगोंको अपने विशुद्ध आचरणोंका आदर्श सामने रखकर और भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मार्गपर लगा देना।

२. जो मुक्तिके अधिकारी होकर भी मुक्ति नहीं लेते और

भक्ति ही चाहते हैं। साथ ही लोगोंको भगवद्भक्तिमें लगानेका काम भी करते रहते हैं।

३. जो न तो मुक्ति ग्रहण करते हैं और न उपदेशादि कार्य ही करते हैं। निरन्तर एकान्त भावराज्यमें रहकर अपने प्रियतम भगवान्‌की प्रेमभावसे अनन्य भक्ति ही करते रहते हैं। 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।'

४. जो मुक्त होकर नित्य उपरत अवस्थामें स्थित रहते हैं; किसीके उद्धारादिकी कोई चेष्टा नहीं करते।

चार प्रकारके स्त्री-पुरुष

संसारमें साधारण स्त्री-पुरुष भी चार श्रेणीके होते हैं। प्रथम वे, जो यहाँ भी आनन्दमें हैं और परलोकमें भी आनन्दमें रहेंगे। दूसरे वे, जिन्हें यहाँ भी दुःख है और परलोकमें भी दुःख ही भोगना पड़ेगा। तीसरे वे, जिन्हें यहाँ तो सुख है; परंतु परलोकमें दुःख मिलेगा और चौथे वे, जिन्हें यहाँ दुःख है; किंतु जो परलोकमें सुखके भागी होंगे। इनकी विशेष व्याख्या यों समझनी चाहिये।

१—मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके परलोक और ईश्वरमें विश्वास करते हुए जो लोग प्रेमपूर्वक भजन, ध्यान और सत्सङ्ग करते हैं, वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोकमें भी परम सुख प्राप्त करते हैं। यहाँ तो उन्हें भजन, ध्यान और सत्सङ्गसे प्रसन्नता एवं शान्ति मिलती है और देहत्यागके बाद भजनके फलस्वरूप वे परमगतिको पाकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त करते हैं।

२—राग-द्वेषयुक्त, काम-क्रोध-लोभ आदिके चंगुलमें फँसे हुए कलहपरायण लोग, जो निरन्तर परस्पर वैर-विद्वेष, लड़ाई-झगड़े,

गाली-गलौज, मार-पीट और मुकदमेबाजी आदिमें स्वभावसे ही लगे रहते हैं। ऐसे लोग यहाँ भी दुःखी रहते हैं और परलोकमें भी दुःखको ही प्राप्त होंगे; क्योंकि यहाँ दिन-रात वैर-विरोधके कारण उन्हें जलते ही बीतता है और देह-त्यागके बाद वे इन पापोंके फलस्वरूप दुर्गतिको पाकर नाना प्रकारकी विविध योनिगत पीड़ाओं और नारकीय यन्त्रणाओंको भोगते हैं।

३—जिन्हें प्रारब्धके फलस्वरूप यहाँ नाना प्रकारके भोग-सुख प्राप्त हैं; परंतु जो भोगासक्तिमें फँसकर सर्वदा कामोपभोगकी प्राप्तिके लिये झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदिमें लगे रहते हैं, वे यहाँ तो प्रारब्धजनित सुख भोगते हैं; परंतु परलोकमें उनकी दुर्गति होगी और वे महान् दुःखको प्राप्त करेंगे।

४—जो यहाँ निष्कामभावसे यज्ञ-दान, जप-ध्यान, तीर्थ-पर्व, व्रत-उपवास, सेवा-संयम और त्याग-तप आदिमें लगे रहकर कष्ट सहते हैं और लोक-दृष्टिमें दुखी माने जाते हैं; परंतु इन साधनों और तपस्याओंके फलस्वरूप देहत्यागके बाद वे परम गतिको पाकर सदाके लिये परम शान्ति और परम आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करेंगे।

चार प्रकारके भक्त

भक्त भी चार प्रकारके होते हैं। प्रथम, जो स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि भोगपदार्थोंके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे ध्रुव आदि। ये अर्थार्थी भक्त हैं। द्वितीय, जो भोगपदार्थोंके लिये तो भजन नहीं करते परंतु लौकिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे द्रौपदी, गजेन्द्र आदि। ये आर्त भक्त हैं। तृतीय, वे जिज्ञासु भक्त हैं, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी भगवान्‌से

कुछ नहीं चाहते, केवल भगवत्तत्त्व जाननेके लिये निरन्तर भजन, ध्यान, सत्सङ्ग करते रहते हैं—जैसे उद्धव आदि। और चतुर्थ, वे निष्काम भक्त हैं, जो मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते—जैसे प्रह्लाद आदि।

प्रह्लादमें निष्कामभाव चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रकट होकर जब प्रह्लादसे बार-बार बड़े ही वात्सल्य-भावसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादजी बोले—'भगवन्! मेरे मनमें कुछ भी इच्छा प्रतीत नहीं होती, पर जब आप बार-बार कह रहे हैं तब पता चलता है कि मेरे मनमें कोई छिपी इच्छा होगी। अतएव हे दयामय! आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये कि यदि कोई छिपी वासना हो तो उसका सर्वथा नाश हो जाय।' यही निष्काम भक्ति है।

श्रीभगवान्ने गीता अध्याय ७ श्लोक १६ में उपर्युक्त चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन सबमें ज्ञानी भगवान्को अति प्रिय है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त छः तरहके चार-चार प्रकारोंको समझकर यदि लोग इससे लाभ उठावेंगे तो मैं अपने प्रति उनकी कृपा समझूँगा।

पारमार्थिक दृष्टिसे मनुष्योंकी विभिन्न श्रेणियाँ

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(४ । ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है । ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनसे ऐसा प्रतीत होता है कि विवेक एवं श्रद्धासे रहित संशयी पुरुष ही परमार्थके मार्गमें सबसे नीचे हैं; क्योंकि उपर्युक्त श्लोकके अनुसार वे परमार्थके मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उसपर चल ही नहीं पाते । जो मार्गपर ही नहीं हैं, उनके लक्ष्य स्थानतक पहुँचनेकी तो सम्भावना ही कैसे हो सकती है । ऐसे पुरुषोंके लिये भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है कि उनकी इस लोकमें

भी उन्नति नहीं होती, फिर परलोककी तो बात ही क्या है; और वे सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित रहते हैं ।

जिसमें हरेक विषयको स्वतन्त्ररूपसे सोचने और उसका विवेचन करनेकी सामर्थ्य है, और जिसकी वेद-शास्त्र एवं महापुरुषोंके वचनोंमें श्रद्धा है, वह तो इनकी सहायतासे अर्जुनकी भाँति अपने संशयका सर्वथा नाश करके कर्तव्यपरायण हो सकता है और अन्तमें कृतकृत्य होकर मनुष्यजन्मको सफल बना सकता है। तथा जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी श्रद्धालु होनेपर अपनी श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधनपरायण हो सकता है और उन महापुरुषोंकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३। २५), किन्तु इसके विपरीत जो विवेक एवं श्रद्धा—दोनोंसे शून्य हैं तथा साथ-साथ संशयग्रस्त भी हैं, उनका उद्धार होना कठिन है; क्योंकि ऐसे लोगोंका संशय कौन दूर करे । और जबतक उनकी बुद्धिमें संशय विद्यमान है, तबतक वे लौकिक अथवा पारमार्थिक किसी भी साधनमें तत्परतापूर्वक नहीं लग सकते। उन्हें पद-पदपर शङ्का बनी रहती है, वे किसी एक अडिग निश्चयपर नहीं पहुँच सकते । इसीलिये भगवान्ने ऐसे लोगोंके लिये कहा है कि उनका न तो यह लोक बनता है, न परलोक और वे सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित रहते हैं । अज्ञताके कारण वे वेद-शास्त्र एवं महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक समझ नहीं पाते और जो कुछ उनकी समझमें आता है, उसमें विश्वास न होनेके कारण वे उसे काममें नहीं ला सकते । इस प्रकार न तो

अपने कर्तव्यका निश्चय कर पाते हैं और न उसका पालन ही कर सकते हैं। अतः वे अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठते हैं और उससे हो सकनेवाले परम लाभसे सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं।

ऐसे संशयात्मा पुरुषोंकी अपेक्षा भी वे पुरुष नीचे हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार आदि पापोंमें लगे हुए हैं। बुद्धिहीन अश्रद्धालु संशयी पुरुष भले ही इस लोक एवं परलोकसे तथा भोग-सुखोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं; किन्तु यदि वे पापमें प्रवृत्त नहीं होते तो कम-से-कम नरकमें तो नहीं जाते। अज्ञ पुरुष जैसे धर्मा-धर्मके विचारसे शून्य होते हैं, उसी प्रकार पाप करनेकी कलासे भी अपरिचित रहते हैं, और श्रद्धालु होनेपर तो श्रद्धा उन्हें पापसे बचाती रहती है। इसी प्रकार जो श्रद्धारहित होनेपर भी विवेक-सम्पन्न हैं, वे भी विवेक-बलसे पापोंसे बचे रहते हैं। विवेकहीन अश्रद्धालु संशयात्मा भी जिस प्रकार धर्मके विषयमें संदेहयुक्त रहते हैं, उसी प्रकार पापमें भी उनकी निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु जिनका निश्चय पापपूर्ण है, जो बुद्धिमान् होकर भी अपनी बुद्धिका नये-नये पापोंके बटोरनेमें ही प्रयोग करते हैं तथा जिनकी पापोंमें ही श्रद्धा है अर्थात् जिनकी यह धारणा है कि पाप किये बिना संसारके व्यवहार चल ही नहीं सकते, पापी मनुष्य ही संसार-में फलते-फूलते हैं तथा पापसे ही धन और सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं, ऐसे पापनिश्चयी पुरुषोंको तो बार-बार नरकोंकी ही प्राप्ति होती है। काम, क्रोध और लोभ ही पापके मूल हैं और इन तीनोंको भगवान्ने नरकके द्वार बताया है (गीता १६। २१)। इन तीनों तमोद्वारोंसे भलीभाँति मुक्त होनेपर ही मनुष्य कल्याण-

मार्गमें अग्रसर होकर परमगति प्राप्त कर सकते हैं (गीता १६। २२)। फिर जो रात-दिन पापोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, वे तो कल्याण-मार्गमें प्रवृत्त ही कैसे हो सकते हैं। ऐसे पापाचारी एवं पापपरायण पुरुषोंके लिये तो भगवान् सदा कालरूप होकर दण्ड धारण किये रहते हैं और उन्हें बार-बार आसुरी योनियोंमें डालते हैं और बार-बार आसुरी योनियोंमें गिरकर वे अन्तमें अत्यन्त अधोगतिको प्राप्त होते हैं (गीता १६। १९-२०)।

पापियोंमें भी सबसे बड़े पापी नास्तिक—अर्थात् वेद-शास्त्र, धर्म, ईश्वर, पाप-पुण्य, परलोक एवं पुनर्जन्म आदिको न मानकर उनका विरोध करनेवाले हैं। पापियोंका भी यदि वे नास्तिक नहीं हैं तो कभी-न-कभी भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी, संतोंकी अहैतुकी दयासे उद्धार हो सकता है। भगवान् तो पापहारी एवं पतितपावन प्रसिद्ध ही हैं। अबतक उनके तथा उनके जनोंके हाथों न जाने कितने अनगिनत पापियोंका उद्धार हो चुका है। बड़े-से-बड़ा पापी भी यदि भगवान्‌के शरण हो जाता है तो तत्काल उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।' भगवान्‌के शरण हो जानेपर जीवके एक-दो जन्मोंके नहीं, करोड़ों जन्मोंके पाप उसी क्षण वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके सामने आते ही अन्धकार-राशि नष्ट हो जाती है अथवा अग्निका स्पर्श पाते ही रूईका बड़े-से-बड़ा ढेर तुरंत भस्म हो जाता है। ऐसे पापियोंके लिये गीतामें भगवान्‌की समाश्वासन-वाणी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
(९ । ३०–३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है (अर्थात् मेरी शरणमें चला आता है) तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है ।'

यही नहीं, ज्ञानके प्रकरणमें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(गीता ४ । ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निस्सन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।'

उपर्युक्त वचनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महान्-से-महान् पापीका भी उद्धार सम्भव है ।

परन्तु ईश्वरविरोधी नास्तिकोंका उद्धार होना बहुत ही कठिन है । जो उद्धार चाहते ही नहीं, बल्कि जिनका उद्धारमें विश्वास ही नहीं है, उनका उद्धार कैसे हो; क्योंकि वे तो एक प्रकारसे

परमात्माके राज्यके विद्रोही हैं । इस बातको समझनेके लिये आगेकी पंक्तियोंपर ध्यान देना चाहिये । जो सरकारी कानूनको नहीं मानते अर्थात् चोरी, डकैती आदि करते हैं, वे राज्यके द्वारा दण्डनीय होते हैं । परन्तु चोर-डाकुओंसे भी अधिक सरकारके अप्रिय वे हैं, जो विद्रोही हैं—सरकारको हटाना चाहते हैं । बस, इसी तरह भगवान्‌के दरबारमें भी पापीकी अपेक्षा भी अधिक नीच वे हैं, जो ईश्वरको तथा धर्मको मटियामेट कर देना चाहते हैं । वास्तवमें न तो ईश्वरकी सत्ता किसीके मिटाये मिट सकती है और न ईश्वरका कानून ही । यदि ईश्वर मिटें तो ईश्वरका कानून मिटे, क्योंकि वह कानून तो ईश्वरके साथ ही है । ईश्वरका कानून कहें या धर्म कहें, दोनों एक ही वस्तु है । यहाँ धर्मसे हमारा तात्पर्य ईश्वरके चलाये धर्मसे है । अतः यह निश्चय है कि ईश्वर और उसका चलाया हुआ धर्म—दोनों कभी मिट नहीं सकते; क्योंकि वे सनातन हैं।

ईश्वरका चलाया हुआ धर्म ईश्वरसे अभिन्न है—इस बातको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वीकार किया है, वे कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(१४ । २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ ।'

शाश्वत धर्म ही सनातन धर्म है । सच्चिदानन्दघन ब्रह्म, अमृत

और ऐकान्तिक—अक्षय सुख तो एक ही वस्तु हैं। यद्यपि धर्मका सम्बन्ध आचरणसे होनेके कारण, वह इनसे कुछ विलक्षण है, फिर भी उसे भगवान्ने अपने ही आश्रयपर टिका हुआ—अपना ही स्वरूप बतलाया है। धर्म ईश्वरकी ही कला अथवा शक्ति है और शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न होती है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर ऊपर यह कहा गया है कि ईश्वर और ईश्वरका बनाया हुआ कानून अथवा धर्म साथ-साथ रहते हैं, और इसीलिये यह कहा गया है कि ईश्वर और धर्मका कभी विनाश नहीं हो सकता, चाहे उनकी मान्यता भले ही कम हो जाय।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वरको गाली दे कि 'तेरा सत्यानाश हो' तो क्या इस प्रकारकी गालियाँ सुनकर आस्तिकोंको नाराज नहीं होना चाहिये ? यहाँ विचार करने-का विषय यह है कि क्या इस प्रकार कहनेसे ईश्वरका विनाश हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं। यदि कोई हमारे पिताको गाली दे कि 'तुम्हारा खोज मिट जाय', तो क्या इससे उनका विनाश हो जाता है ? मृत्यु तो दूर रही, इससे उनका बाल भी बाँका नहीं होता। हाँ, यह बात हमें अप्रिय अवश्य लगती है। बस, इसी प्रकार ईश्वरको गाली देनेसे, ईश्वरका बहिष्कार करनेसे उसकी सत्ता नहीं मिटती, उसका बहिष्कार नहीं होता। हाँ, यह बात हमें खटकती अवश्य है। संसारभरके मनुष्य एकत्र होकर सर्वसम्मतिसे चाहे ईश्वरको असिद्ध कर दें, परन्तु उनके ऐसा करनेसे क्या ईश्वर असिद्ध हो सकते हैं ? वे तो उनकी इस चेष्टाको देखकर मन-ही-मन हँसेंगे और सोचेंगे कि ये लोग कितने नादान हैं जो मुझे

अन्यथा सिद्ध करनेके प्रयत्नमें भी नहीं चूकते । ऐसे लोग यह नहीं समझते कि उनका अपना अस्तित्व किसके आधारपर है । अस्तु,

अब हमें यह देखना है कि चोरी, हिंसा और व्यभिचार आदि दुष्कर्मोंमें लगे हुए महान् पापियोंसे भी ईश्वरविरोधी नास्तिक कैसे नीचे हैं । बात यह है कि जो ईश्वरको और उसके कानूनको, पाप-पुण्यको तथा पुनर्जन्म एवं परलोक आदिको नहीं मानेगा, वह पापसे कभी बच नहीं सकता, उससे चोरी आदि पाप अपने-आप होंगे । यदि इसपर कोई यह कहे कि हम ऐसे मनुष्योंको जानते हैं, जो ईश्वरको तो नहीं मानते परन्तु पाप नहीं करते, तो हम उनसे यह कहेंगे कि उनकी यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है । उन्हें यह सोचना चाहिये कि यदि ईश्वर, धर्म और परलोक आदि कुछ भी नहीं हैं तो पुण्य और पापकी परिभाषा ही क्या रह जायगी ? फिर सद्गुण और सदाचार किस आधारपर टिकेंगे ? तथा मनुष्य दुर्गुण और दुराचारसे किस कारण बचा रह सकेगा ? पाप-पुण्यका दण्ड—पारितोषिक तो तभी सिद्ध होगा, जब ईश्वरका बनाया कानून माना जायगा । चाहे आज कोई भले ही पापसे बचा हुआ हो, पर कल वह अवश्य पाप करनेपर उतारू हो जायगा; क्योंकि पापसे रोकनेवाली किसी सत्ताको वह मानता ही नहीं । जो लोग इस प्रकार ईश्वर और धर्मकी सत्ताको मिटानेपर तुले हुए हैं, आगे चलकर वे ही पापके प्रचारमें सहायक होंगे । इसीलिये पाप करनेवालोंकी अपेक्षा भी वे अधिक नीच हैं । जैसे गीता पढ़नेवालोंकी अपेक्षा उसका प्रचार करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पाप करनेवालोंकी अपेक्षा पापका प्रचार करनेवाले अधिक पापी हैं ।

ऐसे पुरुषोंसे भी गये-गुजरे वे हैं, जो धर्माचरणसे कोसों दूर रहकर भी धार्मिकोंका बाना धारण किये रहते हैं। 'मुँहमें राम, बगलमें छुरी'—यह उक्ति इन लोगोंपर पूर्णतया चरितार्थ होती है। ईश्वरविरोधी नास्तिक तो अपनी नास्तिकताकी डोंडी पीटता है, खुल्लमखुल्ला नास्तिकताका प्रचार करता है, अतएव उसके धोखेमें कोई नहीं आ सकता। परन्तु ये धर्मध्वजी तो अपने-आपको धर्मात्मा प्रकट करके धर्मकी ओटमें पाप करते हैं और इस प्रकार जगत्‌को धोखा देते हैं। अतएव ये उनकी अपेक्षा भी अधिक खतरनाक होते हैं। इनके आचरणोंको देखकर लोगोंकी धर्मके प्रति आस्था हट जाती है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'दूधका जला हुआ छाछको भी फूँक-फूँककर पीता है।' ऐसे लोगोंसे धोखा खाये हुए लोग सच्चे धार्मिकोंसे भी घृणा करने लगते हैं। ऐसे लोग ही जगत्‌में नास्तिकता-का प्रचार कराते हैं। भगवान्‌ने गीतामें आसुरी सम्पत्तिके लक्षण बतलाते हुए सबसे पहले दम्भको ही गिनाया है (देखिये १६। ४)। शास्त्रोंमें लिखा है कि ऐसे पुरुषोंसे बात भी नहीं करनी चाहिये। उनका दर्शन भी हानिकर बताया गया है। जैसे उच्चकोटि-के महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श और सम्भाषणसे महान् लाभ होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषोंके संसर्गसे बड़ी हानि होती है। ऐसे पुरुषोंसे रास्तेमें यदि भेंट हो जाय तो उधरसे दृष्टि हटा लेनी चाहिये। इस प्रकार परमार्थके मार्गमें दम्भ सबसे बड़ा बाधक है और दाम्भिक अथवा धर्मध्वजी ही पारमार्थिक दृष्टिसे सबसे निम्नकोटिका माना जाना चाहिये।

यहाँतक उन लोगोंका वर्णन किया गया, जो परमार्थमार्गके

विरोधी हैं और आत्मकल्याणसे कोसों दूर हैं। अब क्रमशः उन लोगोंके सम्बन्धमें विचार करना है, जो कल्याणके मार्गपर आरूढ़ हैं। इनमें सबसे निम्नकोटिके पुरुष वे हैं जो सकामी अर्थात् देवताओंकी उपासना एवं अन्य सभी कर्म सकामभावसे करनेवाले हैं। ये लोग यद्यपि अश्रद्धालुओं तथा यक्ष-राक्षसों एवं भूत-प्रेतादिकी पूजा करनेवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं—क्योंकि इनकी सकाम कर्म तथा देवताओंमें तो श्रद्धा है ही एवं कर्म और उपासनाके सिद्धान्तको तो ये लोग मानते ही हैं; फिर भी आत्मकल्याणकी ओरसे तो ये भी उदासीन-से ही होते हैं। ये लोग स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं और उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं मानते (गीता २। ४२-४३) परन्तु इनको मिलनेवाली वस्तु अनित्य ही होती है (गीता ७। २३)। स्वर्गादिलोक मर्त्यलोककी अपेक्षा दिव्य तथा अधिक स्थायी होनेपर भी हैं विनाशी ही। वहाँ निरतिशय सुख नहीं है और वहाँ पहुँचे हुए जीवोंको भी अवधि समाप्त हो जानेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आना पड़ता है (गीता ८। १६; ९। २१)। इस प्रकार इन सकामी पुरुषोंको जन्म-मृत्युके चक्करसे छुटकारा नहीं मिलता और इनके दुःखोंका कभी अन्त नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर ऐसे लोगोंको कृपण—दीन (गीता २। ४९), अज्ञानी एवं अल्पबुद्धि (गीता ७। २०, २३) कहकर इनकी गर्हणा की है। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही सही, ऐसे लोगोंके द्वारा निरन्तर शुभकर्म बनते रहनेसे क्रमशः इनका अन्तःकरण शुद्ध होकर ये निष्काम धर्मकी ओर अथवा भगवान्‌की ओर लग जाते हैं और इस प्रकार इन्हें कल्याणका मार्ग मिल जाता

है। इसीलिये ये अश्रद्धालुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इनकी श्रद्धा राजस होनेके कारण इन्हें सकाम कर्मोंमें ही लगाये रखती है।

सकाम-कर्मियोंकी अपेक्षा लौकिक सिद्धि प्राप्त किये हुए योगी श्रेष्ठ हैं। ये लोग लक्ष्यके कुछ समीप पहुँचकर भी सिद्धियोंके प्रलोभनमें फँसकर लक्ष्यकी ओरसे बेपरवाह हो जाते हैं और अपनेको पूर्ण मान बैठते हैं। फिर भी जब कभी ये सिद्धियोंकी असारता एवं विघ्नरूपताको हृदयङ्गम कर उनसे ऊपर उठनेकी चेष्टा करते हैं, तभी ये बहुत शीघ्र लक्ष्यको पा लेते हैं। इसीलिये सकाम-कर्मियोंकी अपेक्षा इन्हें श्रेष्ठ माना गया है। इनकी अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं, जो लौकिक अथवा पारलौकिक सुख-भोगके लिये अथवा योगसिद्धियोंके लिये सम्पूर्ण यज्ञों एवं तपोंके भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌को भजते हैं। भगवान् उचित समझनेपर उनकी भोगकामना भी पूर्ण करते हैं और इस प्रकार उनके अन्तःकरणको कामनाशून्य बनाकर शीघ्र ही उन्हें अपनी अनन्य भक्ति भी प्रदान करते हैं तथा उन्हें सदाके लिये कृतार्थ कर देते हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (७।२३) (मेरे भक्त अन्तमें मुझको प्राप्त होते हैं) ऐसे सकाम भक्तोंको गीतामें अर्थार्थी भक्त कहा गया है।

अर्थार्थी भक्तोंकी अपेक्षा भगवान्‌के आर्त्त भक्त श्रेष्ठ हैं, जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामनाकी पूर्ति तो भगवान्‌से नहीं चाहते; किन्तु किसी प्रकारका असाधारण कष्ट आनेपर उनका धैर्य छूट जाता है और वे उस संकटसे छूटनेके लिये व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे कोई निरीह, निर्बल

शिशु किसी प्रकारका भय उपस्थित होनेपर माताको ही पुकारता है और बरबस उसीकी गोदकी ओर ताकता है। ग्राहसे पीड़ित गजराजकी पुकार और भरी सभामें वस्त्रहीन की जाती हुई राजरानी सती-साध्वी द्रौपदीका करुण आह्वान आर्त भक्तके ही उदाहरण हैं। आर्त भक्तोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो बाहरी किसी शत्रु अथवा कष्टसे भयभीत नहीं होते; किन्तु काम-क्रोधादि भीतरी शत्रुओंसे घबराकर उनसे त्राण पानेके लिये ही भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं।

आर्त भक्तोंकी अपेक्षा भी भगवान्‌के जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्‌को किसी कामनाके लिये अथवा कष्ट-निवारणके लिये न भजकर उनका तत्त्व जाननेके लिये ही उन्हें भजते हैं। इन तीनों प्रकारके भक्तोंको भगवान्‌ने 'उदार'—श्रेष्ठ बतलाया है (गीता ७। १८)। भगवान् ऐसे भक्तोंके भी ऋणी बन जाते हैं। भगवान्‌ने द्रौपदीके सम्बन्धमें कहा था कि 'द्रौपदीने जो असहाय होकर दूर बैठे हुए मुझ द्वारकावासीको 'गोविन्द' इस प्रकार पुकारा था, उसकी वह पुकार मुझे भूलती नहीं; उसका वह ऋण मुझपर बढ़ता ही जा रहा है।'* ऐसी दशामें भगवान्‌का अपने उन भक्तोंको 'उदार' कहना उचित ही है। किसीकी आर्त पुकारसे द्रवित होकर उसका उस विपत्तिसे त्राण कर देनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री न मानकर उसका ऋण अपने ऊपर अक्षुण्ण मानना उदारताकी पराकाष्ठा है। ऐसे उदारशिरोमणि भगवान्‌पर विश्वास करके जो उन्हें भजना आरम्भ करते हैं क्या उनकी यह उदारता नहीं कहलायेगी? अस्तु,

---

* ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥
(महाभारत उद्योग० ५९। २२)

जिज्ञासु भक्त यद्यपि अर्थार्थी एवं आर्त भक्तोंकी अपेक्षा अवश्य ऊँचे हैं; क्योंकि वे किसी लौकिक अथवा पारलौकिक अर्थकी सिद्धिके लिये अथवा किसी सांसारिक कष्टसे पीड़ित होकर भगवान्‌की शरणमें नहीं जाते, अपितु तत्त्वज्ञानरूपी परमार्थकी प्राप्तिके लिये अथवा जन्म-मृत्युरूपी महान् व्याधिसे छुटकारा पानेके लिये ही उनको भजते हैं। तत्त्वज्ञान अथवा मोक्षकी कामना अत्यन्त शुभ कामना होनेके कारण निष्कामता-जैसी ही है; परन्तु जो भगवान्‌से मोक्ष भी न चाहकर केवल उन्हींको चाहते हैं, ऐसे निष्काम भक्त तो जिज्ञासु भक्तोंसे भी ऊँचे हैं। ये भगवान् अथवा भगवत्प्रेमके सिवा अन्य किसी वस्तुको नहीं चाहते, श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(११।१४।१४)

'मुझे आत्मसमर्पण कर देनेवाला भक्त मुझे छोड़कर अन्य किसी वस्तुको नहीं चाहता—उसे न तो ब्रह्माका पद चाहिये, न इन्द्रासन; उसे न तो चक्रवर्ती सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी बनना चाहता है। और तो क्या, वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों तथा मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसे निष्कामी अथवा भगवत्कामी भक्तसे भी वे भक्त श्रेष्ठ हैं,

जो अपना कर्तव्य समझकर भगवान्से प्रेम करते हैं, उनसे चाहते कुछ भी नहीं। भगवान्के विधानसे जो कुछ होता है, उसे देखते रहते हैं; भगवान्से किसी प्रकारकी याचना अथवा प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं समझते। भगवान्की महिमा तथा उनके नाम, गुण, लीला एवं प्रभाव आदिको गाते-सुनते रहते हैं और साधनके लिये ही निरन्तर साधन-भजन करते रहते हैं, भजनके बिना वे रह ही नहीं सकते। सच्चे निष्कामी भक्त इन्हींको मानना चाहिये। इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो भगवान्को प्राप्त कर चुके हैं। इन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी अपेक्षा भी वे श्रेष्ठ हैं, जिन्हें भगवान्ने धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति आदिके प्रचारका तथा अपनी प्राप्ति करानेका भी विशेष अधिकार दे दिया है। इनसे भी वे श्रेष्ठ हैं, जिन्हें भगवान्ने अपना पूर्ण अधिकार दे दिया है। इनसे भी श्रेष्ठ वे कारक पुरुष हैं, जो परम धामसे भगवान्के भेजे हुए आते हैं और भगवान्की ही भाँति अपना लीला-कार्य पूरा करके पुनः भगवान्के पास चले जाते हैं।

कारक पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ भगवान्के वे लीला-परिकर हैं, जो सदा भगवान्के निकट उनकी सेवामें रहते हैं, भगवान् जब अवतार लेकर इस धराधाममें पधारते हैं, तब ये भी उनके साथ ही उनकी प्रकट लीलाओंमें सहयोग देनेके लिये अवतीर्ण होते हैं और जब भगवान् अपनी अवतार-लीला संवरण करके पुनः अपने धाममें पधार जाते हैं, तब ये भी उनके साथ ही परमधामको लौट जाते हैं। ये भगवान्से कभी अलग नहीं होते। इनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान् हैं, जिनसे बड़ा और कोई नहीं है। संसारमें जितने भी

बड़े कहलानेवाले हैं, वे सब भगवान्‌की ही शक्ति पाकर बड़े होते हैं। बड़प्पनकी चरम सीमा भगवान् ही हैं—'सा काष्ठा सा परा गतिः।' अतः सबको कपट छोड़कर उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये और उन्हींका भजन-ध्यान करके उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनकी महिमा समझनेके लिये एवं उनके भजन-ध्यानकी पुष्टिके लिये भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका यथाशक्ति निरन्तर सङ्ग करना चाहिये। यही मनुष्य-जीवनका चरम फल है।

इस प्रकार दाम्भिकसे लेकर भगवान्‌तक सारी सीढ़ियोंका क्रमशः वर्णन किया गया कि कौन किसकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं कौन किसकी अपेक्षा नीचा है। इस भेदमें जो निरन्तर अभेद देखते हैं, संसारमें वे ही श्रेष्ठ महापुरुष हैं। गीतामें भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६।९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इस बातकी प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये कि उसका सबमें समभाव हो जाय। इसपर यदि कोई यह प्रश्न करे कि फिर नाना प्रकारके ऊँचे-नीचे दर्जे किसके लिये हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ये सब श्रेणियाँ उन जिज्ञासुओंके लिये कही गयी हैं, जो इन्हें पढ़-सुनकर श्रेयोमार्गपर ही आरूढ होनेके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं। अन्तमें पाठकोंके

लाभार्थ सीढ़ियोंके क्रमका उल्लेख करके विराम लिया जाता है। सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

(१) धर्मध्वजी।

(२) ईश्वरविरोधी नास्तिक।

(३) पापी।

(४) संशयात्मा।

(५) सकामकर्मी।

(६) लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त किये हुए योगी।

(७) अर्थार्थी भक्त।

(८) आर्त भक्त।

(९) काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय पानेके लिये भगवान्‌को भजनेवाले आर्त भक्त।

(१०) जिज्ञासु भक्त।

(११) प्रेमी भक्त।

(१२) केवल अपना कर्तव्य मानकर ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाले निष्कामी भक्त।

(१३) भगवत्प्राप्त महापुरुष।

(१४) विशेष अधिकार प्राप्त किये हुए महापुरुष।

(१५) पूर्ण अधिकारप्राप्त महापुरुष।

(१६) कारक महापुरुष।

(१७) भगवान्‌के सदा समीप रहनेवाले उनके लीला-परिकर।

(१८) स्वयं भगवान्।

निष्कामता

रामू और गोपाल दोनों एक ही गाँव रामपुराके रहनेवाले थे । दोनों ही कहार थे । गोपाल इच्छानगरी-नरेशके प्रधान मन्त्री-के पेशकारके घर जूँठे बर्तन माँजने, झाड़ू लगाने आदिका काम करता था । रामूसे उम्रमें बड़ा था, पर सम्बन्धके नाते भाई था । रामूका पिता गाँवमें प्रतिष्ठित माना जाता था । रामू कहारके घर पैदा हुआ था पर वह बड़ा ही बुद्धिमान् था और उसमें सात्त्विक गुणोंकी स्वाभाविक ही बहुतायत देखी जाती थी । रामूके हृदयमें भगवद्भक्ति, विनय, संतोष और निष्कामता आदि गुणोंका भी विकास हो गया था । उसका चेहरा भी राजकुमारका-सा सुन्दर था । गाँवके सभी लोग उससे प्यार करते थे । और उसने पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही गाँवके वयोवृद्ध पं० रमाकान्तजीसे, जो बड़े संयमी,

सदाचारी तथा भगवद्भक्त विद्वान् थे और नगरकी ऊँची अध्यापकी-को छोड़कर निःस्वार्थभावसे गाँवके लड़कोंको पढ़ाते थे, अच्छे विद्याभ्यासके साथ ही बहुत-से सद्गुण भी प्राप्त कर लिये थे।

रामूका गाँव रामपुरा इच्छानगरी राजधानीसे थोड़ी ही दूरपर था। एक दिन तड़के ही रामू नहा-धोकर घरसे चल दिया और पौ फटते-फटते इच्छानगरी जा पहुँचा। उसने खोजते-खोजते गोपालके घर पहुँचकर सहसा गोपालके चरण पकड़ लिये। गोपाल उस समय बिछौनेसे उठा ही था। रामूको इस तरह देखकर चकित हो गया और आह्लाद तथा आश्चर्यसे उसके चेहरेकी ओर देखने लगा।

'भैया! तुम धन्य हो,' रामूने पैर पकड़े हुए ही कहा। 'अरे भैया! तुम आये, बड़ा अच्छा किया। गाँवमें सब कुशल तो है? पर तुमने मेरे पैर क्यों पकड़ लिये? तुम तो वैसे मेरे भाई हो।' गोपाल पीछे हटते हुए एक साँसमें कह गया।

'भैया! तुम्हारी महिमा मैं क्या कहूँ; बस, तुम धन्य हो।' रामूने गद्गद वाणीसे फिर कहा।

'भैया! वैसे तो मैं तुम्हारे घरका आदमी हूँ। और मेरा काम देखो, तो मैं महाराजा साहबके दीवानके पेशकारके जूँठे बर्तन माँजनेवाला नीचे दर्जेका नौकर हूँ; मैं धन्य कैसे हो गया?' गोपालने जिज्ञासासे कहा।

'भैया! इसीलिये तो तुम धन्य हो! तुम जानते हो, हमारे महाराजा उच्च कोटिके महापुरुष हैं; वे अनन्यभक्त, ज्ञानी और

योगी महात्मा हैं ।' रामूने गोपालके पैरोंसे चिपके हुए ही कहा ।

'पर इससे क्या हुआ । इन सद्गुणोंसे सम्पन्न तो महाराजा हैं न ?' पैर छुड़ाते हुए गोपालने कहा—'मुझमें तो कोई गुण नहीं है ।'

रामूने आदर और प्रेमभरे शब्दोंमें कहा—'भाई ! ऐसे महापुरुष महाराजाके दीवानके पेशकारकी नौकरी मिलना क्या कोई साधारण बात है ? मुझे तो ऐसी नौकरी मिल जाय तो मैं अपने जीवनको सफल समझूँ । बल्कि तुम्हारी ही सेवाका अवसर मिल जाय तो भी मेरा जीवन धन्य हो सकता है ।' यों कहकर वह गोपालके मुँहकी ओर देखने लगा ।

गोपालपर रामूके शब्दोंका बड़ा प्रभाव पड़ा । गोपालने कहा—'भैया ! पेशकार साहेबको तो आदमीकी जरूरत ही थी । वे मुझसे कह रहे थे । तुम आ गये और तुम चाहते भी हो । अतः आज ही मैं तुम्हें काम दिलवा दूँगा ।'

× × × ×

रामू पेशकारके यहाँ बड़ी लगनसे काम करने लगा था । महीना पूरा होनेपर गोपालके हाथ भेजे हुए वेतनको जब उसने नहीं लिया, तब पेशकारने उसे बुलाकर कहा—

'तुम अत्यन्त उत्साह, श्रद्धा, प्रेम तथा तत्परतासे दिन-रात काम करते हो । काम भी पहले नौकरसे दुगुने कर लेते हो । इतना काम तो कोई नौकर करता ही नहीं । फिर भी गत मासमें तुमने वेतन नहीं लिया । इससे मैं बहुत लज्जित हूँ । मैं समझता

हूँ, तुम्हें दस रुपये मासिक बहुत कम हैं । तो अब तुम जितना कहो, उतने ही रुपये प्रतिमासके लिये निर्धारित कर दूँ ।'

रामूकी प्रसन्नताकी सीमा न थी । उसे शुद्ध सात्त्विक एवं दिव्यगुणसम्पन्न नरपतिके दीवानके पेशकारके पास रहनेका स्थान जो मिल गया था । और इसी कारण वह अहंता-ममता तथा आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसमन्वित हृदयको लेकर निष्काम भावसे सेवा कर रहा था । पेशकार उससे अत्यन्त संतुष्ट हो गया था । रामूने पेशकारकी बात सुनकर अत्यन्त विनयसे उत्तर दिया—'मेरे रुपये न लेनेका यह कारण नहीं था कि वेतन कम है ।'

पेशकार चकित था । उसे रामूकी बातपर सहसा विश्वास नहीं हुआ । उसने पूछा—'तो फिर इतना अथक श्रम किसलिये करते हो ?'

'आप अच्छी तरह जानते हैं, हमारे महाराजा उच्चकोटिके महापुरुष हैं । वे योगी, ज्ञानी, ईश्वरभक्त और साक्षात् महात्मा हैं । आप उनके दीवानके पेशकार हैं । यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपकी चाकरीका अवसर प्राप्त हुआ है । तनख्वाह इससे बढ़कर और क्या होगी ?' रामूने नतमस्तक होकर उत्तर दिया ।

'राजा साहेब तो तुम जैसा कहते हो वैसे ही हैं, पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ । मुझमें वे कोई भी गुण नहीं हैं, जो उनमें विद्यमान हैं । मेरी चाकरीसे तुम्हें क्या लाभ है ?' पेशकारने उत्सुकतासे प्रश्न किया ।

'आप हैं तो उन्हींके दीवानके पेशकार। मेरे भाग्यमें आप-जैसे पुरुषोंकी सेवा कहाँ? भगवान्‌की बात तो दूर रही, उनके आश्रित भक्तोंके दासानुदासोंके दासानुदासकी सेवा प्राप्त कर लेना भी बहुत बड़ा सौभाग्य है। क्योंकि उनके सम्पर्कसे कभी-न-कभी भगवदनुरागी महापुरुषोंके दर्शन प्राप्त हो सकते हैं। इसी तरह आपकी सेवा करते-करते मुझे कभी दीवानजीके भी दर्शन हो जायँगे, जो उन भगवद्भक्त राजाके निकटतम सम्पर्कमें रहा करते हैं,'—रामूने सरलतासे मनकी सच्ची बात कह दी।

'दीवानके दर्शनकी कौन बात है? उनका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ।' पेशकार रामूकी पवित्र भावनापर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने कहा—'दीवानजी प्रातःकाल साढ़े आठ बजे न्यायालयमें आते हैं और मैं वहाँ आठ बजे चला जाता हूँ; तुम नौ बजेतक एक गिलास चाय और जल लेकर वहाँ आ जाना।.... और वेतनके लिये जितने रुपये कहो, तुम्हारे घर भेज दूँ।'

'मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है। घरका काम चल जाता है। मुझे तो श्रीदीवानजीके दर्शनसे ही सब कुछ मिल जायगा।' रामूने अनुनय-विनयसे रुपये लेना अस्वीकार कर दिया।

पेशकार रामूकी ओर देख रहे थे। वे उसके स्वभावकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे।

× × ×

गद्दीपर मसनदके सहारे बैठे हुए दीवानने दरवाजेकी ओर देखा। एक सुन्दर अनजान नौजवान हाथमें गिलास लिये बड़ी

मुग्धदृष्टिसे एकटक उनकी ओर देख रहा था, जैसे कोई भगवान्‌का दर्शन कर रहा हो । दीवानने कई बार देखा, उसकी पलक झपती ही नहीं थी । वह अतृप्त नेत्रोंसे दीवानकी ओर देख ही रहा था ।

'यह कौन है और यहाँ क्यों खड़ा है ?' दीवानने पेशकारसे पूछा ।

'श्रीमान् ! यह आपका नौकर है । आज मैं चाय पीकर नहीं आ सका था तो यह यहीं लेकर आ गया ।' पेशकारने जवाब दिया ।

'अच्छा पहले चाय पी लो'—दीवानने कहा ।

पेशकारने चाय पीयी और फिर काममें जुट गये । पर दीवानपर रामूकी परम मुग्ध और आकर्षक प्रेमभरी दृष्टिका प्रभाव पड़ चुका था । वे रह-रहकर बरबस रामूकी ओर देख लेते थे । रामूने चायके बर्तन माँज-धोकर वहाँ झाड़ू लगा दिया । फिर दीवानजीके जूते साफ करनेमें जुट गया । साथ ही वह रह-रहकर दीवानकी ओर उसी श्रद्धा और प्रेमभरी दृष्टिसे देख भी लेता था ।

'यह लड़का तो बड़े प्रेम और उत्साहसे बिना कहे ही काम करता है । और सो भी कितनी फुर्ती और सफाईके साथ । क्या देते हो इसे ?' दीवानने पेशकारसे पूछा ।

'श्रीमान् !·······यह काम तो बहुत और बहुत सुन्दर ढंगसे करता है । पर लेता कुछ भी नहीं ।'

आश्चर्यचकित होकर दीवानने रामूको तुरंत पास बुला लिया

और वे पूछ बैठे 'तुम बिना कुछ लिये ही बड़े प्रेमसे काम करते हो, इसका कारण बता सकोगे ?'

'सरकार ! सिर्फ आपके दर्शनके लिये । आज मैं धन्य हूँ'—रामूने दबी जबानसे कह दिया ।

'मुझमें ऐसी कौन-सी बात है भैया ?' दीवानने आकर्षित होकर रामूसे पूछा ।

'दीवानजी ! आप तो जानते ही हैं कि हमारे महाराजा साहेब बहुत उच्च कोटिके महापुरुष हैं । वे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्मा हैं । आप ऐसे पवित्रात्मा नरेशके दीवान हैं । आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन होना कोई साधारण बात है ? जिनके बड़े भाग्य होते हैं, उन्हें ही आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन मिलता है ।' रामूने बड़े प्रेम और विनयसे कहा ।

'जब तुम्हारी ऐसी भावना है, तब तुम हमारे ही पास रह सकते हो'—दीवानपर प्रेमका जादू चल गया था ।

रामू आश्चर्यचकित था । अत्यन्त मुदित होकर उसने कहा—'आपके चरणोंका सामीप्य पाकर मैं अपनेको परम सौभाग्यशाली समझूँगा ।'

'भाई ! इसे तो मैं अपने पास रखना चाहता हूँ'—दीवानने पेशकारकी ओर मुँह फेरकर कहा ।

'आप प्रसन्नतापूर्वक रख लें'—पेशकारने स्वीकृति दे दी ।

× × ×

'मेरे पास काम करते तुम्हें बहुत दिन बीत गये और जिस

प्रेम तथा उत्साहसे तुम काम करते हो, वैसे साधारण नौकर तो कर ही नहीं सकते; परंतु आजतक तुमने कुछ भी लिया नहीं, इससे मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। वेतन न सही, पर पारितोषिकके रूपमें तुम कुछ अवश्य स्वीकार कर लो। दो-चार सौ जितने कहो, मैं तुम्हारे घर भिजवा दूँ'—दीवानने बड़े स्नेहसे कहा।

'घरवालोंका काम चल जाता है सरकार! रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।' रामूने श्रद्धालु भक्तकी भाँति उत्तर दिया।

'रुपये नहीं भेजते तो और कोई चीज़ भेज दो। मैं तुम्हारी सेवाका बहुत आभार मानता हूँ। कुछ तुम्हारा प्रत्युपकार करना चाहता हूँ'—अनुरोधपूर्वक दीवानजीने कहा।

'ऐसा कहकर आप मुझे लज्जित न करें। आपकी सेवा ही सबसे बढ़कर मेरा उपकार है; क्योंकि आप एक महान् पुरुषके दीवान और देशके परम सेवक हैं। मेरे लिये तो आपके दर्शन भी दुर्लभ थे। आपने मुझे सेवाका सौभाग्य देकर सदाके लिये ऋणी बना लिया है। आपकी सेवा करते-करते कभी मेरा परम सौभाग्य होगा तो आपकी कृपासे महाराजके भी दर्शन हो जायँगे'—रामूने मनकी बात व्यक्त कर दी।

'राजा साहेबके दर्शनोंकी क्या बात है। वह तो तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ। मैं दरबारमें बारह बजे जाता हूँ और राजासाहेब वहाँ एक बजे आते हैं। कल मंगलवारका व्रत है। तुम जानते हो मैं उस दिन बिना खाये ही जाया करता हूँ और मेरे लिये फलाहार वहीं पहुँचाया जाता है। तुम दो बजे फलाहार लेकर वहाँ आ जाना। पर कुछ रुपये अवश्य घरपर भिजवा दो'—दीवानने आग्रह किया।

'मैं आपका चिरऋणी हूँ, सरकार ! मुझे रुपया नहीं चाहिये ।'—रामूका मस्तक श्रद्धासे नत हो गया था ।

× × ×

राजाकी दृष्टि आनन्दसमुद्रमें निमग्न रामूपर पड़ गयी थी। उन्होंने उसमें विलक्षण आनन्दका अनुभव किया । वह एकटक राजा साहेबकी ओर देख रहा है और हर्षोत्फुल्ल हो रहा है । इसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था । दीवानसे उन्होंने पूछा—'यह कौन है और यहाँ किस लिये खड़ा है ?'

'श्रीमान् ! यह आपका सेवक है । आज मंगलवार है, इससे फलाहार लाया है ।' दीवान बोले ।

'अच्छा तुम पहले फलाहार कर लो ।' राजाने आज्ञा दी ।

दीवानने अलग जाकर फलाहार किया और फिर लौटकर अपने कार्यमें लग गये । रामू जूँठे बर्तन साफ करके दीवान और महाराजके जूते साफ करने लगा । साथ ही वह महाराजकी ओर देख-देखकर आनन्दातिरेकसे विह्वल होता जा रहा था । वह मन्त्रमुग्धकी भाँति हो गया था । उसकी इस दशाका अनुभव राजाने भी किया ।

'यह लड़का बड़ा उत्साही माळूम होता है । इसे वेतन क्या दिया जाता है ?' राजाने दीवानसे प्रश्न किया ।

'सरकार ! काम तो यह बड़ी ही तत्परता तथा प्रेमोत्साहसे करता है, परंतु वेतन आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लेता'—दीवानने जवाब दिया ।

महाराजको बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने रामूको बुलाकर

पूछा—'तुम बिना कुछ लिये ही इतने प्रेम और उत्साहसे काम करते हो, इसका क्या कारण है ?'

'सरकार ! बिना कुछ लिये ही कैसे ? इन्हींकी तो कृपा है जो मैं आज सरकार-जैसे अप्रतिम महापुरुषके दर्शन कर कृतकार्य हो गया । मेरा अहोभाग्य है जो मैं आज सरकारके दर्शन कर रहा हूँ'—रामू गद्गद हो गया था ।

'तुम अपनेको कृतकार्य मानते हो, ऐसी कौन-सी बात है ?'

'सरकार महापुरुष हैं । सरकार-जैसे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्माके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं और बड़े ही भाग्यसे होते हैं । आज सरकारके दर्शन करके मैं परम धन्य हो गया हूँ । मेरा जन्म आज सफल हो गया । सरकारकी कृपासे मैं आज सचमुच कृतार्थ हो गया'—रामूने महाराजके चरण पकड़ लिये ।

'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ सदा रह सकते हो'—नरपति प्रभावित हो चुके थे ।

'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात है । इससे बढ़कर मेरे लिये और हो ही क्या सकता है ।'—रामूका मस्तक नरपति-के चरणोंपर था ।

'इस बच्चेको मेरे पास रहने दो'—राजाने दीवानसे कह दिया । उनके हृदयमें स्नेह उमड़ने लगा था । दीवानने सिर झुका लिया ।

× × ×

'मैं तुम्हारी सेवासे बहुत संतुष्ट हूँ; परंतु तुम न रुपये लेते हो और न कुछ घरपर ही भिजवाते हो । मैं तुम्हारा आभारी हूँ ।

तुम्हारी जो कुछ इच्छा हो कहो; मैं तुम्हारा कुछ भी अभीष्ट हो, पूरा करना चाहता हूँ।' राजा बोले।

'महाराज ! जब सरकार इस नगण्य दासपर संतुष्ट हैं तब मैं सब कुछ पा गया। मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।' रामूने उत्तरमें कहा।

'मैं तुम्हारा आभार मानता हूँ। मेरे संतोषके लिये तुम्हें कुछ-न-कुछ लेना ही होगा'—नरेशने पुनः आग्रहपूर्वक कहा।

'ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें। मुझे तो सरकारकी सेवाके सामने समस्त भौतिक वस्तुएँ अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये। इसपर भी यदि आप आग्रह करते हैं तो फिर मैं जो माँगूँ, आपको वही देना होगा।' रामूने मधुर शब्दोंमें कहा।

'निश्चय ही तुम जो माँगोगे, मैं दे दूँगा'—नरेशने निश्चित कर लिया था—इसके माँगनेपर समस्त राज्य भी प्रसन्नतापूर्वक दे दूँगा।

'मैं सदा-सर्वदा सरकारके चरणोंके साथ रह सकूँ। मुझे सरकार कभी एक क्षणके लिये भी अपनेसे अलग न करें'—श्रद्धाविगलित हृदयसे रामू महाराजके चरणोंमें लोट गया।

'इसमें कौन-सी बात है। तुम तो अधिक-से-अधिक मेरे साथ रहते ही हो। कुछ और माँगो।'

'बस, मैं यही चाहता हूँ।'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम प्रसन्नतापूर्वक मेरे साथ रहो।'

× × ×

'रात्रिमें शयनकक्षमें मेरे पीछे कैसे ?'

'महाराज ! नित्य समीप रहनेकी आज्ञा मिल चुकी है।' हाथ जोड़े रामूने तुरंत जवाब दे दिया।

'आओ'—महाराजने कहा।

'तुम्हारे कोई पुत्र नहीं था। अब इसको तुम्हारी सेवाके लिये पुत्ररूपसे लाया हूँ'—राजाने महारानीसे कहा।

'बहुत अच्छा'—रानीने रामूकी ओर देखा। और उसके मनोहर मुखमण्डलको देखकर उसके नेत्रोंसे स्नेहाश्रुओंकी बूँदें टपक पड़ीं। वात्सल्य उमड़ आया। रामू मन्त्रमुग्ध शिशुकी भाँति महारानीकी ओर देख रहा था।

× × ×

'अबतक तो यह काम-काज देख रहा था; पर अब सब कागजातपर आजसे यही सही किया करेगा और इसकी सही मेरी सही समझी जायगी'—राजाने दीवानसे कह दिया। वे रामूकी सेवासे अत्यन्त संतुष्ट थे। रामू तीक्ष्णबुद्धि था, और था महाराजका अनन्य सेवक एवं उनके गुणोंको अपनेमें सहज ही धारण करनेवाला। अतः थोड़े ही दिनोंमें उसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। रामू पढ़ा-लिखा तो था ही।

दीवानने आज्ञा शिरोधार्य कर ली। कागजोंपर सही रामूकी होने लगी।

कुछ दिन बाद !

'मेरे कोई संतान नहीं है। मैं तुम्हें युवराजके पदपर बैठाना

चाहता हूँ'—नरेशने रामूसे कहा । वे उसे पुत्रकी भाँति प्यार करने लग गये थे ।

'सरकार मुझे लज्जित न करें । मैं सरकारकी चरण-सेवा नहीं त्याग सकता । इतने बड़े लाभकी तुलनामें राज्य-सुख तुच्छ है'—रामूने सेवापरायण पुत्रकी भाँति उत्तर दिया ।

राजाने उसकी बात मान ली और आज्ञा देकर उससे राज-कार्य कराने लगे ।

× × ×

'मैं तो आपका सेवक हूँ । यह सब आपहीकी कृपासे प्राप्त है'—दीवानके चरण पकड़कर रामूने कहा ।

'अरे, आप महाराजके प्रतिनिधि हैं । आप सिंहासनके अधिकारी हैं । मुझे लज्जित न करें'—घबराये हुए दीवान किसी प्रकार रामूको सिंहासनपर बैठानेमें सफल हो सके । दीवान दरबारमें आये थे ।

'मैं तो आपके चरणोंका चाकर हूँ । यह सब आपकी ही कृपासे मुझे प्राप्त हुआ है ।' रामू पेशकारके पैर पकड़ कहने लगा और उसे सिंहासनपर बैठानेके लिये अपनी ओर खींचने लगा ।

बेचारा पेशकार किसी कामसे आ गया था । बड़ी कठिनाईसे रामूको सिंहासनपर बैठाकर अपने स्थानपर बैठा ।

'भैया ! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह सिंहासन प्राप्त हुआ है, चलो सिंहासनपर बैठो'—सिंहासनसे उतरकर दौड़ते हुए पेशकार-के पुराने नौकरके पास जाकर रामूने विनयपूर्वक कहा ।

'पेशकार साहब और दीवान साहबके सामने मैं ऊँचे आसनपर कभी नहीं बैठ सकता । आप मुझे लज्जित न कीजिये'—कहकर पेशकारका नौकर वहीं पृथ्वीपर बैठ रहा । वह किसी कामसे आ गया था । रामूमें अहंकारका लेश भी नहीं था ।

× × ×

'विनयके तुम मूर्तिमान् स्वरूप हो । अहंता-ममता तो तुम्हें स्पर्श भी नहीं कर सकी है । अत्यन्त छोटे कर्मचारीसे लेकर ऊँचे पदाधिकारीतक सभी तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हैं । तुममें शासन ग्रहण करनेकी अपूर्व योग्यता और क्षमता भी दीखती है । अतएव तुम मेरी बात मानकर राजपद स्वीकार करो । अब मैं एकान्तवास करना चाहता हूँ'—राजाने रामूके सामने प्रस्ताव रक्खा ।

'सरकार सदा-सर्वदा अपने चरणोंके समीप रखनेका मुझे वरदान दे चुके हैं, फिर एक क्षण भी मुझे अलग कैसे कर सकेंगे ? मुझे राजपदकी बिल्कुल इच्छा नहीं है । सरकार ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें और मैं सरकारसे एक क्षण भी अलग नहीं रह सकूँगा । मैं राजपद स्वीकार करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ, इसके लिये प्रेमपूर्वक क्षमा चाहता हूँ'—रामूने विनय, प्रेम और दृढ़ताके स्वरोंमें अपना निर्णय नरेशको सुना दिया ।

'मेरे साथ रहकर राज्यका शासनपद ग्रहण करो'—महाराजको विवश होकर अपनी इच्छा परिवर्तित करनी पड़ी ।

'रामू अब राजाके साथ रहकर राज्यका काम सँभालता था ।'

× × ×

रामू कहारकी यह कल्पित कहानी दृष्टान्तरूपसे कही गयी है । इसे परमार्थ-विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषको यहाँ रामू कहार समझना चाहिये । भगवान्‌के दासका दासानुदास पेशकारके यहाँ रहनेवाला नौकर गोपालको समझना चाहिये । भगवान्‌का दासानुदास उस पेशकारको समझना चाहिये और दीवानको भगवान्‌का दास तथा इच्छानगरीके महाराज साहबको साक्षात् भगवान् समझना चाहिये । महाराज साहबके भक्ति, ज्ञान, योग आदिको भगवान्‌के गुण तथा प्रभाव समझने चाहिये । राजाकी रानीको ईश्वरकी शक्ति भगवती देवी समझना चाहिये । रामू कहारका वेतनसे लेकर राजपदतक कुछ भी स्वीकार न करना निष्कामभावसंयुक्त स्वार्थका त्याग तथा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उत्साहसे काम करनेको उसका साधन समझना चाहिये । उसके श्रद्धा, भक्ति, विनयपूर्वक अहंकाररहित बर्तावको ही आदर्श शिष्टाचार समझना चाहिये । राजपदको मुक्ति और राजाके नित्य समीप रहनेको ही उच्चकोटिका विशुद्ध प्रेम समझना चाहिये ।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अहंकार, ममता, आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर श्रद्धा-भक्ति और विनयपूर्वक निष्काम भावसे भगवान्‌के दासानुदासके सङ्ग और सेवा करते हुए भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये तथा मुक्तिकी भी इच्छा न रखकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के नित्य समीप रहकर भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सेवा करनेका आग्रह रखना चाहिये ।

अर्थ और रहस्यका भेद

(श्रीमद्भगवद्गीताके एक श्लोकका रहस्य)

एक बहुत ही संतोषी, सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे, किंतु थे वे निर्धन। उनकी पत्नी बड़ी पतिव्रता, विदुषी, तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न और जीवन्मुक्त थी। उस देशके राजा भी तत्त्वज्ञानी, जीवन्मुक्त महात्मा थे। ब्राह्मणपत्नीने एक दिन विचार किया—मेरे पतिदेव संतोषी, सदाचारी और विद्वान् हैं, इसलिये वे मुक्तिके अधिकारी तो हैं ही, इनकी यदि हमारे जीवन्मुक्त राजासे भेंट हो जाय तो ये भी शीघ्र तत्त्वज्ञानी—जीवन्मुक्त हो सकते हैं। यह सोचकर उसने पतिसे प्रार्थना की—'पतिदेव! आजकल अपने शरीरनिर्वाहके लिये बड़ी ही तंगी हो गयी है और आयका कोई भी रास्ता नहीं दीखता। सुना जाता है, यहाँके राजा बड़े सदाचारी, जीवन्मुक्त महात्मा हैं तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेवाले एवं परम उदार हैं, आप उनसे एक बार मिल लें तो वे आपका उचित सत्कार कर सकते हैं और शास्त्रविधिके अनुसार यदि राजा बिना याचना किये ही कुछ दें तो वह ब्राह्मणके लिये अमृतके समान है। यह आप जानते ही हैं।'

पण्डितजीने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है; परंतु मैं जबतक किसीका कोई उपकार न कर दूँ, तबतक अयाचक वृत्तिसे भी—बिना माँगे उससे दान लेकर जीवन-निर्वाह करना निन्दास्पद समझता हूँ; अतएव मैं ऐसा नहीं करूँगा, चाहे मुझे भूखों ही रहना पड़े।'

ब्राह्मणपत्नी बोली—'आप विद्वान् हैं, राजाको यथोचित उपदेश देकर उनका उपकार कर सकते हैं।'

यह बात पण्डितजीको कुछ रुची, पर उनका मन राजाके पास जानेका नहीं होता था। अन्तमें पत्नीके बहुत कहनेपर वे राजी हो गये और राजसभामें चले गये। पण्डितजीके सद्गुण और सदाचरणोंकी ख्याति देशभरमें फैली हुई थी। राजाने पण्डितजीका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम-प्रश्नोत्तरके अनन्तर राजाने बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ मँगाकर पण्डितजीको भेंट कीं। पण्डितजीने अस्वीकार करते हुए कहा—'राजन्! आप बड़े उदार हैं, यह मैं जानता हूँ। परंतु मेरा एक नियम है, मैं किसीका उपकार किये बिना उससे अयाचितरूपमें भी धन नहीं लेता। आप मुझे कोई काम सौंपें और उससे मैं आपका संतोष करा सकूँ, तो उसके बाद आप यदि कुछ दें तो वह लिया जा सकता है।' राजाने कहा—'पण्डितजी! बहुत अच्छा। आप सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं। मैं आपसे गीताका रहस्य सुनना चाहता हूँ। मुझे आप कृपापूर्वक गीताके बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकका भावसहित स्पष्ट अर्थ समझाइये।'

पण्डितजीने पहले श्लोक पढ़ा, फिर उसका शब्दार्थ बतलाया—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

'जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

तदनन्तर वे श्लोकका भावार्थ इस प्रकार बतलाने लगे—

जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो; जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ 'दक्षता' है; जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है।

जो गवाही देते समय और न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता; अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पण्डितजीके उपर्युक्त भावार्थ बतला चुकनेपर राजाने नम्रतासे कहा—'महाराजजी ! आपने बड़ा सुन्दर अर्थ किया । आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त और शास्त्रसंगत है । तथापि मेरा ऐसा अनुमान है कि श्लोकका बहुत सुन्दर अर्थ करनेपर भी आप अभी इसके रहस्यसे अनभिज्ञ हैं ।' पण्डितजी झुँझलाकर बोले—'रहस्य न जानता होता तो भावसहित अर्थ कैसे बतला सकता । मुझे गीताकी बावन टीकाएँ कण्ठस्थ हैं । इसके अतिरिक्त कोई विशेष रहस्य हो और उसे आप जानते हों तो आप ही बतलाइये ।'

राजाने इसका उत्तर न देकर बड़ी विनम्र वाणीमें कहा—'पण्डितजी ! मुझे आपकी शास्त्रसम्मत सुन्दर व्याख्यासे बड़ा सन्तोष हुआ है; मैं आपका बहुत आभारी हूँ । अतः मेरी दी हुई भेंट आप कृपया स्वीकार कीजिये ।'

पण्डितजीने कहा—'राजन् ! जब आप मेरे लिये यह कहते हैं कि मैं रहस्यसे अनभिज्ञ हूँ, तब सन्तोषकी बात कहाँ रही ? यह तो कहनेभरका सन्तोष है । मैं, जबतक आपको वास्तवमें सन्तोष न हो जाय, तबतक आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता ।' राजाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पण्डितजीने भेंट स्वीकार नहीं की और वे घर लौट आये । उधर राजाने एक विश्वासपात्र गुप्तचरको बुलाकर कहा—'ये ब्राह्मणदेवता बड़े त्यागी, सदाचारी और स्वाभिमानी विद्वान् हैं । तुम इनके पीछे जाकर देखो, घरपर इनका कैसा-क्या व्यवहार और वार्तालाप होता है और फिर उसकी सूचना मुझे दो ।' राजाका आदेश पाकर गुप्तचर उनके पीछे हो लिया और उनका सब व्यवहार-वार्तालाप देखता रहा ।

पण्डितजीने घर लौटकर पत्नीके पूछनेपर राजसभाकी सारी कथा आद्योपान्त उसे सुना दी। पत्नीने विनय और प्रेमसे कहा—'स्वामिन्! राजाने जो कुछ कहा वह तो उचित ही मालूम होता है। आपको नाराज नहीं होना चाहिये था।

पण्डितजी—(कुछ क्रोधावेशमें आकर तथा व्यथित-से होकर) वाह! तुम भी राजाकी ही बातका समर्थन करती हो!

पत्नी—नाथ! आप ही तो कहा करते हैं कि न्याययुक्त बातका समर्थन करना चाहिये।

पण्डितजी—(कुछ और भी उत्तेजनासे, तुरंत उसे दबाते हुए) क्या राजाका यह कहना न्याययुक्त है कि मेरी व्याख्या तो सुन्दर है पर मैं इसके रहस्यको नहीं समझता?

पत्नी—नाथ! आप क्षमा करें। राजाकी बात तो बहुत ही ठीक है। किसी श्लोककी व्याख्या करना सहज है, पर उसका यथार्थ रहस्य जानना बहुत ही दुर्लभ है।

पण्डितजी—कैसे?

पत्नी—जैसे ग्रामोफोनपर जो चूड़ी चढ़ा दी जाती है, वह वही गाना गा देता है पर उसके रहस्यको वह थोड़े ही समझता है।

पण्डितजी—तो क्या मैं ग्रामोफोनकी तरह हूँ?

पत्नी—जो पुरुष दूसरोंको उपदेश-आदेश तो बड़ा सुन्दर करता हो, किंतु स्वयं उसमें वे बातें चरितार्थ न होती हों तो आप ही बतलाइये, ग्रामोफोनमें और उसमें क्या अन्तर है? राजाके पूछनेपर आपने श्लोककी जो व्याख्या की, क्या वे सारी बातें आपमें चरितार्थ होती हैं?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? कौन-सी बात मुझमें नहीं है ?

पत्नी—आप शान्तिसे मेरा निवेदन सुनिये। मेरी प्रार्थना है—आप उस श्लोकके प्रत्येक पदका अर्थ पुनः मुझे बतलाइये। 'अनपेक्ष'का क्या भाव है ?

पण्डितजी—जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप ऐसे हैं ?

पण्डितजी—क्यों नहीं ? मुझे तो कोई भी इच्छा, स्पृहा और कामना नहीं है। मैं तो तुम्हारे ही अनुरोध करनेपर राजाके पास गया था। और राजाके अनुनय-विनय करनेपर भी मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया।

पत्नी—बहुत अच्छा ! सत्य है, आप मेरे ही आग्रहसे गये थे। यह आपकी मुझपर दया है। अच्छा, 'शुचि'का क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो; जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

पत्नी—क्या आप बाहर-भीतरसे इस प्रकार शुद्ध हैं ? क्या आपके दर्शन, भाषण, स्पर्श-वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है ? क्या आपके अन्तःकरणमें कोई विकार नहीं होता ? क्या आपका बाहरका व्यवहार उद्वेगरहित, न्याययुक्त और पवित्र है ?

यदि ऐसा है तो फिर आपके मनमें क्रोध तथा उद्वेग क्यों हुआ और राजासे आपने अहङ्कारके वचन क्यों कहे ?

पण्डितजी—(विनम्र होकर) ठीक है, इस गुणकी तो मुझमें कमी है।

पत्नी—अच्छा, 'दक्ष' का आपने क्या भाव बतलाया ?

पण्डितजी—जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ दक्षता है, जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है।

पत्नी—तो क्या आप जिस महान् कार्यके लिये संसारमें आये थे, उसे पूरा कर चुके ? क्या आपने परमपदको प्राप्त कर लिया ? नहीं तो, फिर राजाका कहना उचित ही है।

पण्डितजी—तुम्हारा कथन सत्य है। मुझमें यह गुण भी नहीं है।

पत्नी—'उदासीन' पदका क्या अभिप्राय है ?

पण्डितजी—जो गवाही देते समय, न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप पक्षपातरहित हैं ? क्या आपने राजाके सम्मुख अपने पक्षका समर्थन नहीं किया ? क्या आपने राजाके इस कथन-पर कि आप श्लोकके रहस्यको नहीं समझते, गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया ? नहीं तो, फिर राजाका कहना कैसे उचित नहीं है ?

पण्डितजी—(सरल और शुद्ध हृदयसे अपनी कमीको विनम्र भावसे स्वीकार करते हुए) तुम सच्च कहती हो। सचमुच तुमने

आज मेरी आँखें खोल दीं । पक्षपातरहित होनेका तो मुझमें बड़ा अभाव है । कहीं वाद-विवाद होता है तो मैं अपने पक्षको दुर्बल जानकर भी अपने पक्षके दुराग्रहको नहीं छोड़ता ।

पत्नी—अच्छा 'गतव्यथ' का आप क्या अर्थ करते हैं ?

पण्डितजी—किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुःखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है ।

पत्नी—क्या आपके चित्तमें कोई व्यथा नहीं होती ? यदि नहीं होती तो फिर राजाके वचनोंपर और मेरे समर्थन करनेपर आपको इतना उद्वेग और व्यथा क्यों होनी चाहिये ?

पण्डितजी—तुम्हारा कहना सत्य है । यह भाव मुझमें बिल्कुल नहीं है । मनके विपरीत होनेपर प्रत्येक पदपर केवल व्यथा ही नहीं; भय, उद्वेग, ईर्ष्या, शोक आदि विकार भी मुझमें दिखायी पड़ते हैं ।

पत्नी—अच्छा, 'सर्वारम्भपरित्यागी' से आप क्या समझते हैं ?

पण्डितजी—जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता, अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं ।

पत्नी—बहुत सुन्दर व्याख्या है, परंतु बतलाइये क्या आपने

बाहर और भीतरसे सब कर्मोंका त्याग कर दिया ? और क्या आपके अन्तःकरणमें कोई सांसारिक संकल्प नहीं होता ? यदि नहीं, तो फिर आपको इतना अहङ्कार क्यों होना चाहिये ? बाहरसे तो आप सब कर्म करते ही हैं।

पण्डितजी—सत्य है, यह बात तो मुझमें बिल्कुल ही नहीं घटती। मैं अपनी सारी त्रुटियोंको समझ गया। सचमुच मैं अबतक अर्थ ही करता था। रहस्यसे अनभिज्ञ था। अब कुछ-कुछ समझमें आ रहा है। अतः तुम अनुमति दो, अब मैं बाहर और भीतरसे सब कुछ त्यागकर सच्चा संन्यासी बनने जाता हूँ। यों कह पण्डितजी सब कुछ छोड़कर घरसे चलने लगे।

पत्नीने प्रार्थना की—महाराजजी ! मैं भी आपके साथ ही आपका अनुगमन करना चाहती हूँ।

पण्डितजी—मैं अपने साथ किसी झंझटको नहीं रखना चाहता। फिर स्त्रीको तो रक्खूँ ही कैसे।

पत्नी—नाथ ! मुझे आप झंझट न समझिये। मैं आपके साधनमें कोई विघ्न नहीं करूँगी। मैंने जो आपको राजाके पास भेजा था, सो धनके लिये नहीं। धनको तो मैंने एक निमित्त बनाया था। मेरा उद्देश्य तो यही था कि आप जीवनके मुख्य लक्ष्यको प्राप्त कर लें। राजा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष हैं। आप धर्मज्ञ, सदाचारी, त्यागी, संतोषी विद्वान् तो हैं ही, तत्त्वज्ञ राजाके सङ्ग-प्रभावसे आपको परमात्माकी प्राप्ति भी हो जायगी—इसी लक्ष्यसे मैंने आपको वहाँ भेजा था। अब यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आपके साथ चलना चाहती हूँ।

पण्डितजी—(कृतज्ञताके साथ) मैं अब इस बातको समझ गया। सचमुच तुमसे कोई हानि नहीं होगी। तुम्हीं तो मेरा सच्चा उपकार करनेवाली परम सुहृद् हो। वस्तुतः सच्चे सुहृद् वही हैं जो अपने प्रिय सम्बन्धीकी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। चलो, तुम तो वहाँ भी परमात्माकी प्राप्तिमें मेरी सहायता ही करोगी।

तदनन्तर वे दोनों सब कुछ त्यागकर घरसे निकल गये।

इधर, गुप्तचरने जो उन दोनोंकी परस्पर बातचीत सुनी और जो घटना देखी, वह सब राजाके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह दी। राजाने अपने राज्य, कोष आदि सब तो पहले ही अपने पुत्रको सँभला दिये थे, अब गुप्तचरकी बात सुनकर वे भी राज्य छोड़कर चल दिये। उन्हें रास्तेमें सम्मुख आते हुए ब्राह्मणदम्पति मिले। राजाने बड़े उल्लासके साथ उनसे कहा—'पण्डितजी महाराज! अब आप गीताके उस श्लोकका रहस्य समझे।'

पण्डितजीने नम्रताभरे शब्दोंमें उत्तर दिया—अभी समझा नहीं, समझनेके लिये जा रहा हूँ।

राजा भी उनके साथ ही चल पड़े। तीनों एक एकान्त पवित्र देशमें जाकर निवास करने लगे। राजा और ब्राह्मणपत्नी तो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा थे ही। उनके सङ्गके प्रभावसे पण्डितजी भी परमात्माको प्राप्त हो गये।

[यह कहानी गीताके बारहवें अध्यायके १६ वें श्लोकका निवृत्तिपरक अर्थ करके बतलायी गयी है। इसका जो प्रवृत्तिपरक अर्थ होता है, वह इससे भिन्न है।]

अमृत-कण

१–मनुष्य-जीवनका समय बहुत मूल्यवान् है। यह बार-बार नहीं मिल सकता। इसलिये इसे उत्तरोत्तर भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।

२–मृत्यु किसीको सूचना देकर नहीं आती, अचानक ही आ जाती है। यदि भगवान्के स्मरणके बिना ही मृत्यु हो गयी तो यह जन्म व्यर्थ ही गया। मृत्यु कब आ जाय इसका कोई भरोसा नहीं। अतः भगवान्के स्मरणका काम कभी भूलनेका नहीं।

३–मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ और किस काममें मुझे समय बिताना चाहिये। बुद्धिसे विचार कर वास्तवमें जिसमें अपना परम हित हो, वही काम करना चाहिये।

४–यदि अपने आत्माका उद्धार करना हो तो सब सात-पाँच-को छोड़कर हर समय भगवान्का भजन करे।

५–भगवान्को छोड़कर और कहीं भी मनको न लगाये, जो भगवान्को छोड़कर अन्य किसीका भक्त नहीं, वही अनन्यभक्त है।

६–अपनी बुद्धिसे विचार करे कि क्या करना अच्छा है और क्या करना बुरा। जो बुरा हो, उसका त्याग कर दे और जो अच्छा हो, उसके पालनमें तत्पर हो जाय।

७–भगवान्का भजन-साधन करनेमें यदि शरीर सूखने लगे; मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं।

८–जब शरीरके लिये संग्रह किये हुए संसारके पदार्थ साथ नहीं जा सकते तब उनके लिये अपना अमूल्य समय लगाना व्यर्थ है। जगतमें जितने मनुष्य हैं, प्रायः किसीको भी अपने पूर्वजन्मका ज्ञान

नहीं है । इसी प्रकार इस वर्तमान घरको छोड़कर चले जायँगे तब इसे भी भूल जायँगे । फिर इतना परिवार और धन किसलिये इकट्ठा किया ? यह हमारे क्या काम आयेगा ? जब आगे यह किसी भी काम नहीं आयेगा तब हमें चाहिये कि इस लौकिक सम्पत्तिका मोह छोड़कर दैवी सम्पत्तिका भंडार भरें। अपने हृदयसे दुर्गुण-दुराचारोंको हटाकर सद्गुण-सदाचारोंको भर लें ।

९—साधन न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है, इसको हटाना चाहिये ।

१०—ईश्वरने हमको जो कुछ भी तन, मन, धन, कुटुम्ब, विद्या, बल, बुद्धि, विवेक आदि दिया है, उसे ईश्वरकी सेवामें ही लगा देना चाहिये । जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री प्रत्येक कार्यमें पतिकी प्रसन्नताका ध्यान रखती है, इसी प्रकार हम जो भी कार्य करें, पहले विचार लें कि इससे भगवान् प्रसन्न हैं या नहीं । वही कार्य करे, जिससे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त हो ।

११—जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार नचाता है, वैसे ही वह नाचती है । उसी प्रकार भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलें । जैसे वे करावें, वैसे ही करें ।

१२—भगवान्की भक्तिमें किसी भी जाति और वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है, आवश्यकता है केवल विशुद्ध प्रेमकी ।

१३—हर समय भगवान्को याद रखते हुए ही समस्त कार्य करे । भगवत्-स्मृतिरूप सूर्यके सामने अन्धकार नहीं रह सकता । भगवत्-स्मृतिसे सब दोष स्वतः ही दूर हो जाते हैं ।

१४—अपने ऊपर भगवान्की और महापुरुषोंकी विशेष दया

समझकर यह अनुभव करे कि हमारी दिनोंदिन उन्नति हो रही है। सद्गुणोंका विकास, आसुरी सम्पत्तिका नाश और दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि हो रही है एवं साधन प्रत्यक्ष बढ़ रहा है।

१५—श्रीबलरामजीको गायों-बछड़ों और ग्वाल-बालों—सभीमें भगवान् ही दीखते थे, वैसे ही समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को देखे और इस प्रकार देख-देखकर मुग्ध होता रहे।

१६—भगवान्‌का सारा विधान जीवोंके वास्तविक कल्याणके लिये ही होता है।

१७—कलियुगमें भगवान् थोड़े ही साधनसे मिल जाते हैं। हमलोगोंको यह मौका मिल गया है, अब इसे छोड़ना नहीं चाहिये।

१८—अपने प्रतिकूल जो भी घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझे; उसमें घबराये नहीं, बल्कि परम आनन्दका अनुभव करे। विपत्ति जो भी आती है, भगवान्‌की भेजी हुई आती है! अतः उसे प्यारेका प्रसाद समझे और आनन्दमें मग्न हो जाय। विपत्तिमें भगवान्‌को देखे, क्योंकि विपत्तिमें भगवान्‌का छिपा हुआ प्यारभरा हाथ रहता है।

१९—मनुष्यकी मान्यता फलती है। जो जैसा मानता है, उसे वैसा ही फल होता है। अतः अच्छी-से-अच्छी भावना करनी चाहिये। भावनामें कृपणता क्यों?

२०—मान्यता करनेसे उसके अनुरूप ही अनुभव हो जाता है, अनुभव होनेके बाद वैसी ही स्थिति हो जाती है।

२१—नित्यकर्म, साधन, भजन—सभीमें ऊँचे-से-ऊँचा भाव करना चाहिये।

२२—हर समय अपनेपर भगवान्‌की कृपा समझे। कृपा समझनेमें सहायक हैं—सत्सङ्ग और स्वाध्याय। अभिप्राय यह है कि भगवत्-सम्बन्धी बातोंका श्रवण, मनन, पठन, कथन और आलोचन करे।

२३—भगवद्विषयक ये बारह बातें विशेष मनन करने योग्य हैं—१ नाम, २ रूप, ३ लीला, ४ धाम, ५ तत्त्व, ६ रहस्य, ७ गुण, ८ प्रभाव, ९ श्रद्धा, १० प्रेम, ११ शान्ति और १२ आनन्द।

२४—चार बातें बड़ी अच्छी हैं—१—भगवान्‌के नामका जप, २—स्वरूपका ध्यान, ३—सत्संग (सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रों-का मनन), ४—सेवा। यह साधनकी चतुःसूत्री है। हमको तो अपने ६० वर्षके जीवनमें ये चार बातें सबके साररूपमें मिलीं।

२५—वैराग्य, निष्कामभाव, सत्यभाषण और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार आचरण—इन चार बातोंके लिये भी मेरा विशेष अनुरोध है। परमार्थ-मार्गपर चलनेवालोंको इनके पालनपर विशेष जोर देना चाहिये।

२६—चार चीजोंको विषतुल्य समझकर बिल्कुल त्याग दे—१—पाप, २—भोग, ३—प्रमाद और ४ आलस्य।

२७—साधनमें पाँच बड़ी प्रबल घाटियाँ हैं—१—कञ्चन, २—कामिनी, ३—शरीरका आराम, ४—मान और ५—यश (कीर्ति)।

२८—दूसरेका गुण ही देखे, अवगुण कभी न देखे। मनुष्यको गुणग्राही होना चाहिये।

२९—एक तो होती है सेवा और दूसरी है परम सेवा। सेवा तो यह कि दूसरोंके लौकिक हितके लिये, शारीरिक सुख पहुँचानेके लिये अपना तन, मन, धन लगा देना। किसी पीड़ित मनुष्यको

अन्न, जल, वस्त्र, औषध अपनी योग्यताके अनुसार दे देना, यह उसकी भौतिक सेवा है। परम सेवा वह है कि किसीको भगवान्‌के मार्गमें लगाना तथा जो मनुष्य भगवान्‌के मार्गमें लगे हैं, उनके लिये, उनके साधनमें सहायक आवश्यकीय वस्तुओंकी पूर्ति करना, साधनकी अन्य सुविधाएँ प्रदान करना तथा उन्हें सत्संगमें लगाना—इस प्रकार भगवच्चर्चा आदिके द्वारा साधनकी उन्नतिमें हेतु बनना; और कोई मर रहा हो; उसे गीता, रामायण, भगवन्नाम आदि सुनाना। यह पारमार्थिक सेवा है। यही परम सेवा है। लाख आदमियोंकी भौतिक सेवासे एक आदमीकी परम सेवा बढ़कर है।

३०–भगवान्‌से माँगना ही हो तो यह माँगे कि सारे जीवोंका कल्याण हो जाय, सब सुखी हो जायँ। इस प्रकार सकाम भावसे की गयी प्रार्थना भी निष्कामके ही तुल्य है।

३१–वक्ता और श्रोता दोनों ही पात्र हों तो असर अधिक होता है। दोनोंमेंसे एक पात्र हो तो कम असर होता है और दोनों ही अपात्र हों तो नहींके बराबर असर होता है।

३२–महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया बिना प्रयोजन नहीं होती। उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये–कल्याणके लिये ही होती हैं। वे किसीसे काम लेते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही, अपने लिये नहीं।

३३–महान् पुरुष कभी अपनेको महान् नहीं मानते। श्रेष्ठ पुरुष कभी अपनी बड़ाई नहीं चाहते।

३४–जो महात्मा परमात्मामें मिल जाते हैं, वे परमात्मस्वरूप

ही हो जाते हैं । परमात्माकी पूजा ही उनकी पूजा है ।

३५—महात्मा पुरुषोंके दर्शनसे, उनसे वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, उनका स्मरण करनेसे भी अन्तःकरण पवित्र हो जाता है ।

३६—भगवान्‌का यह नियम है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—जो मुझे जैसे भजते हैं, वैसे ही मैं उनको भजता हूँ । परंतु महात्माओंका यह नियम नहीं है । उनका नियम इससे भिन्न है कि 'जो हमें नहीं भी भजते, उन्हें भी हम भजते हैं ।'

३७—जैसे आगमें घास डाला जाय तो आग हो जाती है, और घासमें आग डाली जाय तो आग हो जाती है । इसी तरह महात्माके पास अज्ञानी जाय तो वह भी महात्मा हो जाता है और अज्ञानियोंके पास महात्मा चला जाय तो भी वह अज्ञानी मनुष्य महात्मा हो जाता है; क्योंकि महात्माओंके पास ज्ञानाग्नि है, उससे अज्ञान नष्ट हो जाता है ।

३८—महात्माओंका ज्ञान अमोघ—अव्यर्थ है । उनका सङ्ग, दर्शन, भाषण, स्मरण सभी महान् फलदायक होते हैं ।

३९—एक दीपकसे जब लाखों दीपक जल सकते हैं तब संसारमें एक महात्माके मौजूद रहते सब महात्मा क्यों नहीं बन सकते ।

४०—महात्माका यथार्थ तत्त्व जाननेसे मनुष्य महात्मा ही हो जाता है, जिस प्रकार परमात्माका तत्त्व जाननेसे परमात्मा हो जाता है ।

४१—महात्माका तत्त्व तब जाना जाता है, जब मनुष्य उनके आज्ञानुसार आचरण करता है ।

अमृत-धारा

'अमृत' कहते हैं मृत्युके अभावको। मृत्यु ही जीवके लिये सबसे बड़ा भय है। आत्मा तो सदा अमर है। उसका न कभी जन्म होता है और न मृत्यु। गीता कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

परन्तु अनादि अविद्याके वशीभूत हुआ जीव अपने वास्तविक स्वरूपको भूल बैठा है और इस पाञ्चभौतिक शरीरमें ही—जो प्रकृतिका कार्य होनेके कारण परिणामी और नश्वर है—इसकी 'अहं'बुद्धि हो रही है। यही कारण है कि यद्यपि उपर्युक्त भगवद्वाक्य-के अनुसार शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश नहीं होता, फिर भी अज्ञानवश शरीरके नाशको यह अपना नाश मानने लगा है,

शरीरके सुखको अपना सुख और शरीर-कष्टको अपना कष्ट मानता है। शरीरके सुखके लिये यह अनेकों अवैध आचरण—पापाचरण करता है और फलतः बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर दुखी होता है।

यह मृत्यु-भय कीट-पतङ्गादि निकृष्ट योनियोंसे लेकर उत्तम-से-उत्तम देवादि योनियोंतक सबको समानरूपसे घेरे हुए है। यद्यपि शास्त्रोंमें देवयोनिको अमर बतलाया है एवं संस्कृत-कोशमें देवताओं-का एक नाम 'अमर' भी आता है—'अमरा निर्जरा देवाः' (अमरकोश), तथापि देवतालोग वास्तवमें अमर नहीं हैं। उनका अमरत्व अपेक्षाकृत है—वे हम मर्त्यलोकके निवासियोंकी अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते हैं। उनकी आयु हमलोगोंकी आयुसे सैकड़ोंगुनी लंबी होती है, उनका अहोरात्र हमारे एक वर्षके बराबर होता है—छः महीनेकी रात्रि और छः महीनेका दिन। जितने कालतक भगवान् सूर्य उत्तरायणमें रहते हैं, उतने कालतक उनका दिन रहता है और जितने कालतक वे दक्षिणायनमें रहते हैं, उतनी लंबी उनकी रात्रि होती है। उनके कालमानसे उनकी आयु सौ वर्षकी होती है—इस प्रकार उनकी आयु हमलोगोंकी गणनासे ३६,००० वर्षसे कुछ ऊपर होती है। इस प्रकार वे हमारी दृष्टिमें एक प्रकार अमर ही हैं, क्योंकि उनके एक जीवन-कालमें हमारी सैकड़ों-हजारों पीढ़ियाँ समाप्त हो लेती हैं। जैसे एक मच्छर अथवा पतंगेकी दृष्टिमें हम मनुष्य भी एक प्रकार अमर ही हैं; क्योंकि हमारे जीवनकालमें मच्छरोंकी सैकड़ों-हजारों पीढ़ियाँ बीत जाती होंगी—उसी प्रकार देवताओंका अमर कहलाना उचित

ही है । इसी दृष्टिको सामने रखकर हमारे शास्त्रोंमें देवताओंके लिये 'अमर' अथवा 'अमर्त्य' तथा हम मनुष्यों तथा भूलोकके अन्य प्राणियोंके लिये 'मर्त्य' अथवा 'मरणधर्मा', 'मरणशील' आदि शब्दोंका एवं भूलोकके लिये 'मर्त्यलोक' आदि शब्दोंका व्यवहार किया गया है । वास्तवमें देवता भी हम मानवोंकी भाँति ही 'मर्त्य' अथवा 'मरणधर्मा' ही हैं। स्वर्गलोकसे गिरना ही उनकी मृत्यु है। गीता इस बातको डंकेकी चोट कहती है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(९ । २१)

'वे (स्वर्गलोकको प्राप्त हुए जीव) उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं ।'

यही बात 'अमृत' नामक दिव्य पेयके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये । 'अमृत'के विषयमें भी शास्त्रोंमें ऐसे वचन मिलते हैं कि अमृतको पी लेनेपर जीव अमर हो जाता है । पुराणोंमें कथा आती है कि सृष्टिके आदिमें अमृतकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के आदेशसे देवताओं और दानवोंने मिलकर समुद्र-मन्थन किया था और उस मन्थनके फलस्वरूप प्रकट हुए अमृतके कलशको दानवलोग ले भागे । दानवोंको अमृत-पानका अनधिकारी समझकर—क्योंकि उनके अमर हो जानेपर जगत्‌का अमङ्गल ही होता—भगवान्‌ने मोहिनीरूप धारणकर उनसे अमृतका घड़ा ले लिया और वह अमृत देवताओंको पिला दिया, जिससे वे अमर हो गये । यज्ञादिमें

सोमपानका* भी बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंमें आया है। भगवती श्रुति कहती है—'अपाम सोमममृता अभूम'—'हम लोगोंने सोमपान किया और उसके फलस्वरूप हम अमर हो गये।' गीताजीमें भी सोमपानके द्वारा इन्द्रलोककी प्राप्तिकी बात नवम अध्यायके २० वें श्लोकमें आयी है। परन्तु इन सभी प्रसङ्गोंमें यह बात समझ लेनेकी है कि उपर्युक्त अमृत-पान अथवा सोमपानके द्वारा जिस अमरत्वकी प्राप्तिकी बात कही गयी है, वह अमरत्व आपेक्षिक अमरत्व ही है। वास्तवमें अमर हो जाना—जन्म-मृत्युके अनादि बन्धनसे सदाके लिये छूट जाना कुछ और ही है और उस अमृतत्व अथवा अमृत पदकी प्राप्ति करानेवाला अमृतपान भी उपर्युक्त अमृतपानकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है—यही बात इस लेखमें बतायी जाती है। इसी वास्तविक अमृतत्वकी प्राप्ति मनुष्यमात्रका परम एवं चरम ध्येय होना चाहिये—इसीलिये शास्त्रोंमें इसे 'निःश्रेयस' अथवा परम कल्याण कहा गया है। इसीकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्य-देह हमें मिला है। इसकी प्राप्ति मनुष्य-देहमें ही सम्भव है, अन्य योनियोंमें नहीं। इसीलिये शास्त्रोंने मनुष्य-देहको देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया है। यदि देवताओंका अमरत्व ही वास्तविक अमरत्व होता तो फिर देवयोनिकी अपेक्षा मनुष्ययोनिको श्रेष्ठ क्यों बतलाया जाता; क्योंकि देवताओंको तो वह अमरत्व सहज ही—जन्मसे ही प्राप्त है। अस्तु,

---

* यज्ञमें वेदमन्त्रोंद्वारा विधिसहित सोमलताका रस निकालकर पान किया जाता है, उसको 'सोमपान' कहते हैं; यह बहुत ही पवित्र है, इसके पीनेसे पापोंका नाश होता है।

अब हमें यह देखना है कि वह अमृत कौन-सा है, जिसके पानसे मनुष्य सदाके लिये अमर हो जाता है—देवताओंकी कोटिको भी लाँघ जाता है, जिसके पी लेनेपर फिर उसे माताका स्तन-पान नहीं करना पड़ता, गर्भवासकी यन्त्रणा नहीं सहनी पड़ती, यमयातनासे उसका सदाके लिये छुटकारा हो जाता है, और मृत्युका द्वार उसके लिये सदाके लिये बंद हो जाता है। कहना न होगा कि मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति ही वह वास्तविक अमरत्व है, जिसकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है। वेदोंका तात्पर्य भी उसीकी प्राप्तिमें है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५ । १५) (भगवान्‌ने कहा—वेदोंके द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ ।) चतुर्विध पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ—वास्तविक पुरुषार्थ यही है, मनुष्यका सारा प्रयत्न इसीके लिये होना चाहिये, इसीमें उसके जन्म एवं जीवनकी सार्थकता है। जो इसी जीवनमें इस अमरत्वको पा लेता है, उसीके माता-पिता धन्य हैं।

'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।' (स्कन्द० माहे० कौमार० ५५ । १४०) उसीका कुल पवित्र है, उसीकी माता कृतार्थ है, पृथ्वी भी उसीके कारण पुण्यवती है। जो मनुष्य-जन्म पाकर भी इस अमूल्य निधिसे वञ्चित रहता है, वह तो पशुसे भी गया-गुजरा है। शास्त्रोंने 'कृतघ्न' एवं 'आत्महत्यारा' कहकर उसकी लाञ्छना की है। गुसाईंजीने भी कहा है—

जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

इस अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। वे सभी उपाय अमृतत्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण अमृत ही हैं। जिस प्रकार आयुर्वेदमें घीको आयुवर्धक होनेके नाते आयुरूप—जीवनरूप ही बताया गया है (आयुर्वै घृतम्), उसी प्रकार लक्षणा-वृत्तिसे अमृत-पदकी प्राप्तिके हेतुभूत सभी साधन अमृत ही कहे जाते हैं। इन विविध अमृतोंमेंसे एक भी अमृतका मनुष्य यदि पान कर ले तो वह वास्तवमें अमर हो सकता है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी शङ्काके लिये स्थान नहीं है। त्याग, समता, सत्य आदि सभी सद्गुण अमृत हैं। त्यागकी महिमा सभी शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रुतियोंने त्यागको स्पष्ट शब्दोंमें अमृतत्वकी प्राप्तिका कारण बताया है। कैवल्योपनिषद्के वचन हैं—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥
(१ । ३)

'न सकाम कर्मोंसे, न सन्तानसे और न धनसे ही अमृतत्व-की प्राप्ति सम्भव है, केवल त्यागसे ही मोक्षार्थियोंने मोक्षकी प्राप्ति की है।'

ईशोपनिषद्में भी कहा है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (त्यागसे ही अपनी रक्षा कर)। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि त्याग-में ही रक्षा अथवा कल्याण है। भगवान्ने भी गीताजीमें त्यागकी दैवी सम्पदामें गणना की है (देखिये १६ । २) और दैवी सम्पदाको मोक्षका हेतु बताया है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' (१६ । ५)। इतना ही नहीं, उन्होंने त्यागको परम शान्तिकी प्राप्तिका

साक्षात् कारण बताया है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (१२ । १२)।

समताकी तो भगवान्ने जगह-जगह प्रशंसा की है। सुख-दुःखमें सम रहनेवालेको गीता अमृतत्वका अधिकारी बतलाती है—'सोऽमृतत्वाय कल्पते (२ । १५)। समता ही भगवत्प्राप्तिका असाधारण लक्षण है और कर्म, ज्ञान, भक्ति सभी मार्गोंमें इसकी बड़ी आवश्यकता है। गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धपुरुषोंका वर्णन आया है, चाहे वे किसी भी मार्गसे अपने लक्ष्यपर पहुँचे हों, वहाँ-वहाँ समताकी बात जरूर आयी है (देखिये ६ । ८, ९, ३२; १२ । १८, १९; १४ । २४, २५)। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानके लक्षणोंमें समचित्तताका साक्षात् उल्लेख हुआ है। कर्मयोगमें तो समताको ही योगका स्वरूप बतलाया गया है—'समत्वं योग उच्यते' (२ । ४८) और कर्मयोगके साधकको सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेके लिये कहा गया है—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (२ । ४८)। इतना ही नहीं, समताको साक्षात् परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (५ । १९) और समतामें स्थित पुरुषको जीवन्मुक्त कहा गया है—'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।' (५ । १९) इस प्रकार समता भी साक्षात् अमृत है।

इसी प्रकार सत्य भी अमृत है। सत्य ब्रह्मका स्वरूप है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तै० २ । १) सत्यको भी भगवान्ने गीतामें दैवी सम्पत्तिके अन्तर्गत माना है और सत्यकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। सत्यसे श्रुति आत्माकी प्राप्ति बतलाती है—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' (मुण्डक० ३ । १ । ५) और

सत्यकी भगवान्‌ने तपमें भी गणना की है—(देखिये गीता १७ । १५) ।

निराकार परमात्मा अथवा साकार भगवान्‌का ध्यान भी अमृत है । ध्यानजन्य सुखको भगवान्‌ने प्रारम्भमें विषके सदृश एवं परिणाममें अमृतोपम—अमृतके तुल्य बतलाया है—'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (गीता १८ । ३७) । यही नहीं, ध्यानको भगवान्‌ने परमात्माके साक्षात्कारका साक्षात् साधन स्वीकार किया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

(गीता १३ । २४)

तथा ध्यानयोगके परायण मनुष्यको उन्होंने ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होनेका अधिकारी बताया है (१८ । ५२-५३) ।

ब्रह्मचर्य भी अमृत है । श्रुति कहती है—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (ब्रह्मचर्य और तपस्याके बलसे देवताओंने मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर ली ।) ब्रह्मकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण ही इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (कठोपनिषद् १ । २ । १५) । गीतामें भी इस चरणको ज्यों-का-त्यों दुहराया गया है (देखिये ८ । ११) ।

कामनाओंका त्याग—निष्कामभाव भी अमृत है । श्रुति कहती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठ० २ । ३ । १४)

'मनुष्यके अन्तःकरणमें रहनेवाली कामनाएँ जब निःशेष हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहाँ—इसी जीवनमें वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें भी निष्कामभावको अनामय पद—अमृत-पदकी प्राप्तिका कारण बताया गया है। गीता कहती है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(२।५१)

'क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको (उसकी कामनाको) त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।'

भगवान् फिर कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(२।५५)

'अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

और स्थितप्रज्ञ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है, यह बात २।७२ में कही गयी है।

कामनासे बन्धन और कामनाके त्यागसे भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति

मिलती है—यह बात पाँचवें अध्यायमें भी स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है।

भगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इन्द्रियोंका तथा मनका संयम भी अमृत है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
(४ । २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करते हैं।'

यहाँ इन्द्रियोंके और मनके संयमको ही 'इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करना' कहा गया है और इस प्रकारके हवनरूप यज्ञसे बचे हुए प्रसाद (अन्तःकरणकी निर्मलता एवं प्रसन्नता) रूप अमृतके खानेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है (देखिये ४ । ३१)।

परमात्मविषयक ज्ञान तो अमृत है ही। श्रुति-भगवती कहती है—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वेताश्वतर० ३ । ८)—उन परमात्माको जान लेनेपर मनुष्य मृत्युको पार कर जाता है—अमर हो जाता है । गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परमानन्दरूप अमृतका पान करता है—'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (१३ । १२) यह तो हुई साधनभूत ज्ञानकी बात । साध्यरूप ज्ञान तो परमात्माका स्वरूप ही है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) । गीता भी परमात्माको ज्ञानस्वरूप बतलाती है—'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' (१३ । १७)।

भक्ति भी तत्त्वज्ञानका साधन होनेसे अमृत है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌का भजन करनेवाला व्यक्ति तीनों गुणोंको लाँघकर ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य बन जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(१४ । २६)

अन्यत्र भी भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(१० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम-पूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इतना ही नहीं, सगुण-साकार भगवान्‌का तो ज्ञान, दर्शन एवं एकीभावसे प्राप्ति केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है। (देखिये गीता ११ । ५४)

वैराग्य भी अमृत है। राग, स्नेह अथवा आसक्तिसे रहित होना ही वैराग्य है। वैराग्यको भगवान्‌ने स्थिरबुद्धिका लक्षण बतलाया है और स्थिरबुद्धि पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है (२ । ७२)—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। भगवान् कहते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २ । ५७)

'जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।' अनासक्ति (वैराग्य) पूर्वक कर्म करने-वालेको भी भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति बतलायी है—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।
(गीता ३ । १९)

उपरति वैराग्यका फल है । गीतामें उपरतिको परमात्मप्राप्त पुरुषका लक्षण बताया गया है—(देखिये ६ । २०)। इसलिये उपरति भी अमृत ही है ।

परमात्मविषयिणी श्रद्धा भी ज्ञानका साधन होनेसे अमृत है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' (४ । ३९)। श्रद्धालु पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति होती है । इसी प्रकार निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, दान, यज्ञ, गीतादि शास्त्रोंका स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, अक्रोध, दया, मृदुता, लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी पवित्रता, निर्वैरता, अभिमानशून्यता आदि दैवी सम्पदाके सभी अङ्ग—सभी सद्‌गुण एवं सदाचार अमृतवत् समझकर निष्कामभावसे सेवन करने योग्य हैं और इनके विपरीत सारे दुर्गुण-दुराचार विषतुल्य, अतएव वर्जनीय हैं । विषय-सुख भी विषसदृश ही हैं । इसीलिये शास्त्रोंमें इन्हें त्यागनेको कहा गया है—'विषयान् विषवत् त्यज' । विषय-सुखको भगवान्‌ने भी राजस एवं परिणाममें विषके समान अहितकर बताया है—'परिणामे विषमिव' (गीता १८ । ३८) । अतएव वे त्याज्य हैं । लोकसेवा, तीर्थसेवन, व्रत-उपवास आदि भी तपके अन्तर्गत हैं, अतएव निष्कामभावसे सेवन करनेपर ये भी अमृततुल्य हैं ।

भगवान्‌का नाम भी अमृत है । शास्त्रोंमें भगवन्नामके उच्चारणमात्रसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी गयी है । पद्मपुराणका वचन है—

ये वदन्ति नरा नित्यं हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
तस्योच्चारणमात्रेण विमुक्तास्ते न संशयः ॥

(उत्तरखण्ड ७२ । १२)

'जो मनुष्य 'हरि' इस दो अक्षरोंवाले नामका सदा उच्चारण करते हैं, वे उसके उच्चारणमात्रसे मुक्त हो जाते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।'

गीतामें नाम-जपरूप यज्ञको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१० । २५) । शास्त्र रसनाको उपदेश देते हैं—

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥

'हे रसने ! तू रसके सारको जाननेवाली है, तुझे मधुर रस सदा प्रिय है । अतः हे जिह्वे ! तू निरन्तर नारायण-नामरूप अमृतका पान किया कर।'

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला एवं गुणोंका श्रवण, मनन एवं कीर्तन तथा भगवद्धामका सेवन—ये सभी अमृत हैं । भगवान् रसमय, प्रेममय, आनन्दमय और अमृतमय हैं । उनका सब कुछ भगवत्स्वरूप अतएव अमृत है । भगवत्प्रेम भी अमृत है, क्योंकि प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप है । भगवच्छरणागति तथा भगवान् एवं महापुरुषोंकी कृपा भी अमृत है । गीता भगवच्छरणागतिको ही मायासे तरनेका उपाय बतलाती है—(देखिये ७ । १४) । गीताके अनुसार उत्तम वर्णवालोंकी तो बात ही क्या है—स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि भी भगवान्‌की शरण ग्रहण करके परमगतिको प्राप्त कर लेते हैं—(देखिये ९ । ३२-३३) । भगवान्‌ने जगह-जगह अपनी शरणागतिकी महिमा गायी

है और उससे अपनी प्राप्ति, परम शान्ति एवं शाश्वत परम पदकी उपलब्धि तथा समस्त पापोंसे छूटनेकी बात कही है— (देखिये ९ । ३४; १८ । ६२, ६६) ।

महाभारतमें महात्मा भीष्म भी भगवच्छरणागतिसे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाते हैं। भीष्मजी कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(अनुशास० १४९ । १३०)

'भगवान् वासुदेवके आश्रित होकर एकमात्र उन्हींके परायण—उन्हींपर निर्भर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

योगदर्शनमें भी ईश्वरप्रणिधान—भगवच्छरणागतिको योग अथवा समाधिसिद्धिका साधन माना गया है।

भगवान्‌का चरणामृत, उनके चरणोंमें चढ़ी हुई तुलसी, उनका साक्षात् पादोदकरूप श्रीगङ्गाजी तथा भगवत्प्रसाद—ये सब भी भगवत्प्राप्तिमें हेतु होनेसे अमृत हैं। भगवान्‌के चरणामृतकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गायी गयी है। पद्मपुराणमें लिखा है—

विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिजन्माघनाशनम् ।

(पाताल० ७९ । ३३)

'भगवान् विष्णुका चरणोदक पीनेसे करोड़ों जन्मोंके पापोंका नाश हो जाता है।'

इसीलिये उसे चरणामृत कहा जाता है।

तुलसीके सम्बन्धमें भी पद्मपुराणके वचन हैं—

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी ।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥

(पाताल० ७९ । ६६)

'तुलसीजीके दर्शनमात्रसे सम्पूर्ण पापोंकी राशि नष्ट हो जाती है, उनके स्पर्शसे शरीर पवित्र हो जाता है, उन्हें प्रणाम करनेसे रोग नष्ट हो जाते हैं, सींचनेसे मृत्यु दूर भाग जाती है, तुलसीका वृक्ष लगानेसे भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त होती है और उन्हें भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ानेसे मोक्षरूप महान् फलकी प्राप्ति होती है । ऐसी तुलसीजीको हमारा प्रणाम !'

गङ्गाजीकी महिमा पुराणोंमें इस प्रकार वर्णित है—

तीर्थानां तु परं तीर्थं नदीनामुत्तमा नदी ।
मोक्षदा सर्वभूतानां महापातकिनामपि ॥

(पद्म० स्वर्ग० ४३ । ५३)

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

(पद्म० सृष्टि० ६० । ७८)

'गङ्गाजी तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ, नदियोंमें उत्तम नदी तथा सम्पूर्ण प्राणियों और महापापियोंको भी मोक्ष देनेवाली हैं । और तो और, सैकड़ों कोसोंकी दूरीसे भी जो 'गङ्गा-गङ्गा'की रट लगाता है, वह समस्त पापोंसे छूटकर भगवान् विष्णुके धाममें चला जाता है ।'

भगवत्प्रसादका माहात्म्य भी शास्त्रोंमें भलीभाँति वर्णित है। पद्मपुराणमें आया है—

विष्णुप्रसादनिर्माल्यं भुक्त्वा धृत्वा च मस्तके।
विष्णुरेव भवेन्मर्त्यो यमशोकविनाशनः॥
अर्चनीयो नमस्कार्यो हरिरेव न संशयः।

(स्वर्ग० ५०। १८)

'श्रीविष्णुके प्रसादरूप निर्माल्यको खाकर और मस्तकपर धारण करके मनुष्य साक्षात् विष्णुरूप हो जाता है और यमराजसे होनेवाले शोकका नाश करनेवाला बन जाता है। वह पूजन तथा वन्दनके योग्य श्रीहरिका ही स्वरूप है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।'

'प्रसाद' शब्दके संस्कृतमें कई अर्थ होते हैं। भगवान् एवं महापुरुषोंकी दया, अन्तःकरणकी स्वच्छता और प्रसन्नता तथा भगवान्‌को अर्पित किया हुआ नैवेद्य—ये सभी प्रसादके नामसे प्रसिद्ध हैं। अतएव ये सभी अमृत हैं; क्योंकि निष्कामभावसे इनका सेवन करनेपर समस्त दुःखोंकी निवृत्ति होकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो जाता है। नैवेद्यकी महिमा तो ऊपर सूत्ररूपसे बतायी गयी। अन्तःकरणकी स्वच्छता एवं प्रसन्नतारूप प्रसादकी महिमा श्रीगीताजीमें इस प्रकार वर्णित है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(२। ६५)

'अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है।'

परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखको भी भगवान्‌ने परिणाममें अमृततुल्य बतलाया है—(देखिये गीता १८ । ३७)।

भगवान्‌की कृपासे परम शान्ति एवं शाश्वतपदकी प्राप्तिकी बात ऊपर आ ही चुकी है । भक्तिशास्त्रमें महापुरुषोंकी कृपाको भी भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका मुख्य साधन माना गया है—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव' (नारदभक्तिसूत्र ३८)। यज्ञशेषको भी भगवान्‌ने अमृत बतलाया है और उसके भोजन करनेवालेको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति ऊपर बतलायी जा चुकी है । यहाँ 'यज्ञ' शब्दमें चौथे अध्यायके २४वें से ३१वें श्लोकतक वर्णन किये गये समस्त साधनरूप कर्तव्यकर्मोंका समावेश हो जाता है । अतः यज्ञशेषसे यहाँ उक्त समस्त साधनोंके अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है, उस अन्तःकरणकी प्रसन्नताका ही ग्रहण किया गया है और उक्त प्रसन्नतासे ब्रह्म-प्राप्ति उचित ही है । 'यज्ञो वै विष्णुः' (तै० सं० ९ । ७ । ४) इस श्रुतिके अनुसार 'यज्ञ' का अर्थ विष्णु लेनेसे यज्ञशेषसे भगवत्प्रसादका भी ग्रहण हो सकता है और भगवत्प्रसादकी महिमा ऊपर आ ही चुकी है । अथवा 'यज्ञ' से पञ्चमहायज्ञ अथवा बलिवैश्वदेव भी लिया जा सकता है । इन सभी अर्थोंमें निष्कामभावसे किये जानेपर यज्ञशेषको हम अमृत कह सकते हैं और उस अमृतके भोजन करनेवालेका सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाना युक्तिसङ्गत ही है । इस प्रकार ऊपर कहे गये अमृतोंमेंसे किसी एकका अथवा बहुतों-का यथारुचि पान करके सदाके लिये अमर हो जाना चाहिये ।

आत्मोद्धारविषयक प्रश्नोत्तर

सत्सङ्गके समय बहुत-से भाई प्रश्न किया करते हैं, उनके उत्तर सर्वसाधारणके कामके होनेसे यहाँ लेखरूपमें दिये जा रहे हैं।

प्रश्न १—गीताके छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा है कि 'अपने आत्माका अपनेद्वारा उत्थान करना चाहिये, पतन नहीं'—इसका क्या भाव है?

उत्तर—इसका भाव यह है कि अपने आपको ऊपर उठाने और नीचे गिरानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। शास्त्रके अनुकूल निष्काम-भावसे उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका सेवन करना, ईश्वरकी भक्ति या ज्ञानका साधन करना—यह अपने द्वारा अपने-आपको ऊपर उठाना है तथा शास्त्रके विरुद्ध आचरण करना, दुर्गुण और दुराचारोंको न छोड़ना, ईश्वरको न मानना और अज्ञानमूलक प्रमाद, आलस्य या भोगोंके परायण होकर जीवन बिताना—यह अपने-द्वारा अपने आपका पतन करना है।

प्रश्न २—एक पुरुष शास्त्र और ईश्वरको नहीं मानता, पर सद्गुणोंका सम्मान करता है। उसके लिये क्या पहचान है कि उसका उत्थान हो रहा है या पतन?

उत्तर—असत्य, व्यभिचार, हिंसा, चोरी, जूआ, राग-द्वेष आदि जिन बातोंको वह अपने सिद्धान्तसे बुरा समझता है, उन्हें तो कभी करता नहीं और सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय, समभाव आदि जिन बातोंको उत्तम समझता है, उनका तत्परताके साथ पालन करता है,

वह तो अपनेद्वारा अपना उत्थान करता है; परंतु जो अपने सिद्धान्तसे जिन बातोंको बुरा समझता है, उनसे निवृत्त नहीं होता और जिनको उत्तम समझता है, उनका पालन नहीं करता—वह अपनेद्वारा अपना पतन करता है।

प्रश्न ३—मनुष्य जितने समय शयन करता है, उतने समय परतन्त्र रहता है, उस समयमें भी आत्मसुधारके लिये क्या कोई प्रयत्न काम दे सकता है?

उत्तर—अवश्य दे सकता है। शयनके समय मनके सङ्कल्पोंका जो प्रवाह चलता रहता है, प्रायः वही आगे जाकर स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है, इसलिये बिछौनेपर लेटनेके बाद निद्रा आनेसे पहले-पहले मनके सङ्कल्पोंके प्रवाहको भगवद्भावोंके रूपमें बदल देना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदि भगवद्विषयक सङ्कल्पोंका प्रवाह बहाते-बहाते शयन करना चाहिये। अथवा लोकहितके विचारोंका चिन्तन करते-करते शयन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उत्तम स्वप्न आवेंगे और यदि गाढ़ निद्रा आ जायगी तो निद्रा टूटनेपर मनमें वही प्रवाह आ जायगा, जो निद्रासे पहले प्रारम्भ किया गया था। यह शीघ्र आत्मसुधारका बड़ा ही सरल तरीका है। इसमें न तो कोई समय ही लगता है, न पैसे खर्च होते हैं तथा न इसमें कोई परिश्रम ही है और लाभ बहुत अधिक है। इसलिये शयनकालमें हमारा जो समय निरर्थक जा रहा है, उसे सफल बनानेके लिये उपर्युक्त रीतिसे विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न ४—शरीर और इन्द्रियोंद्वारा आहार-विहार, व्यापार आदि

लौकिक काम करते समय अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको क्या उपाय करना चाहिये जिससे कि जो समय व्यर्थ जा रहा है, उसका सुधार हो जाय ?

उत्तर—ईश्वरविषयक स्मृति और प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव (स्वार्थ-त्यागका भाव) रखनेसे हमारा जो समय निम्न-से-निम्न कोटिका बीत रहा है, वह भी सुधरकर उच्च-से-उच्च कोटिका बन सकता है।

प्रश्न ५—हम जो दान देते हैं, परोपकार करते हैं उसके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—परोपकार करनेवाले दाताके अन्तःकरणमें जो यह भाव आता है कि यह दान लेनेवाला निम्न श्रेणीका है और मैं उच्च श्रेणीका हूँ अर्थात् मैं उसका उपकार करनेवाला और दान देनेवाला दाता हूँ—यह भाव जो उसके हृदयमें स्वाभाविक रहता है, इसीसे उसके दानका फल अल्प होता है। उसे दानके फल-स्वरूप इस लोकमें धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि भौतिक पदार्थ यथायोग्य मिलते हैं तथा मरनेपर स्वर्गादिकी प्राप्ति हो सकती है किंतु ये सब हेय हैं। अतः परोपकार करनेवाले या दान देनेवाले व्यक्तिको अपने मनमें यह भाव रखना चाहिये कि जिन पदार्थोंसे लोगोंकी सेवा हो रही है, वे सब भी भगवान्‌के ही हैं और मैं भगवान्‌की प्रेरणासे ही दे रहा हूँ। मैं न तो उपकार करनेवाला हूँ और न दान देनेवाला ही। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के ही कामके लिये भगवान्‌की प्रेरणासे मेरे द्वारा दी जाती है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। यह भगवान्‌की कृपा है जो मुझको वे इस काममें निमित्त बना रहे हैं। इस प्रकार जो भगवान्‌को याद रखते हुए

निरभिमान होकर निष्कामभावसे देता है, उसका वह दान उच्च-से-उच्च कोटिका समझा जाता है और उससे शीघ्र-से-शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न ६—आजकल व्यापारमें अधिकांश लोग इन्कम-टैक्स सेल-टैक्स आदि कम देनेके लिये छिपाव करते हैं, झूठे बहीखाते बनाते हैं, चोरबाजारी करते हैं, अधिकारियोंको घूस देते हैं; और भी नाना प्रकारके छल-कपट, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, क्या उन लोगोंका भी सुधार होकर उद्धार हो सकता है?

उत्तर—हो क्यों नहीं सकता। प्रयत्न करनेपर सभी कुछ हो सकता है। समझकर प्रयत्न करना चाहिये। इन सब दोषोंका मूल कारण है—धनका अज्ञानमूलक लोभ। जिनका ईश्वर, परलोक और अपने कर्मके दुष्परिणामपर विश्वास नहीं है, वे ही लोग ऐसा कर रहे हैं। वे इस बातको नहीं समझ रहे हैं कि इस धनके साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा और उनके इस कर्मका कठोर दण्ड उन्हें ही भोगना पड़ेगा तथा धनकी क्या दशा होगी, पता नहीं। इसीलिये वे धनको ही सर्वस्व समझकर उसके परायण हो रहे हैं। परंतु उन्हें गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिये कि वे जिस धनके लिये नाना प्रकारके अन्याय कर रहे हैं, उसके साथ उनका संयोग बहुत ही अल्प है, क्योंकि न तो वे ही बहुत कालतक रहनेवाले हैं और न धन ही। जब फिर इस धनसे इस लोकमें भी सुख नहीं है, तब परलोकमें तो है ही कहाँ! बल्कि धनके संग्रहमें, उसके रक्षणमें, व्यय करनेमें और वियोगमें उत्तरोत्तर क्रमशः अधिकाधिक इतना दुःख-ही-दुःख भरा है, जिसकी कोई

सीमा नहीं। अतएव मनुष्यको धनकी दासता छोड़कर भगवान्‌के शरण होकर उनपर निर्भर होना चाहिये और अपने वैध व्यापार-द्वारा भगवान्‌का पूजन करना चाहिये (गीता १८। ४६)* तथा इस प्रकार समझकर व्यापार करना चाहिये कि हम जो व्यापार करते हैं, वह धनके लिये नहीं, भगवान्‌के लिये करते हैं।

इस तरह सत्य और न्याययुक्त धन कमाकर जगज्जनार्दनकी सेवा करना अपना कर्तव्य मानकर लाभ और हानिको समान समझते हुए तथा भगवान्‌को निरन्तर याद रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये निष्कामभावसे व्यापार करनेपर बहुत ही शीघ्र सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

ऐसा न होनेमें सरकारी कानून भी एक प्रधान कारण है। इन्कम-टैक्स और सेल-टैक्सकी अत्यधिक मात्रा होनेके कारण लोग सरकारसे छिपाव करते हैं, और कड़ाई करनेपर भी सरकारको पूरा टैक्स नहीं मिल पाता। किंतु जैसे कोई मनुष्य अधिक नफा लेता है तो उसका माल कम बिकता है और कम नफा लेता है तो अधिक बिकता है एवं इससे उसकी आय कम न होकर बिक्री अधिक होनेसे अधिक ही होती है; इसी प्रकार सरकारके द्वारा टैक्स कम कर दिये जानेपर, सम्भव है, लोग छिपाव कम करें, जिससे इस समय

---

* यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

टैक्ससे जो आय होती है, उससे सम्भवतः सरकारको विशेष नुकसान भी न उठाना पड़े और लोग भी पापसे बच जायँ। इसी तरह जो नाना प्रकारके कंट्रोल और लाइसेंसकी नीति बरती जाती है इसके कारण भी लोग चोरबाजारी और घूसखोरी करते हैं तथा जनताको बाध्य होकर अधिक कीमतपर चीजें खरीदनी पड़ती हैं। सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि सरकार इस ओर ध्यान दे और युद्धके बाद जो अन्न-वस्त्रादिपर नियन्त्रण किया गया है, वह एकदम उठा दिया जाय, यातायातपर जो प्रतिबन्ध लगा है, उसे खोल दिया जाय तथा लाइसेंसकी नीति बंद कर दी जाय। महात्मा गाँधीजीने भी इसका विरोध किया था। क्योंकि इससे व्यापारी झूठ-कपटमें तथा रेलवेके और सरकारके बहुतसे अधिकारी घूसखोरीमें पड़कर पापमें लिप्त हो रहे हैं एवं श्रमिकवर्ग परिश्रम कम करते हैं, इससे उपज कम होती है और कृषक अनाजको छिपाते हैं, जिससे महँगी और बढ़ती जाती है। इस तरह सारी दुनिया पतनकी ओर जा रही है और सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक—सभी प्रकारका ह्रास होता जा रहा है।

प्रभावशाली विचारशील लोगोंको इस विषयमें केन्द्रीय सरकारके उच्चाधिकारियोंको समझानेकी कोशिश करनी चाहिये तथा सरकारको भी चाहिये कि वह इन सब बातोंपर ध्यान देकर इनका सुधार करे, जिससे लोग दुःख, महँगी और पापसे बचें।

प्रश्न ७—विवाहके निमित्त अत्यधिक तिलक (टीका), दहेज आदिके कारण लोग अत्यन्त दुखी हो रहे हैं, अतः इस प्रथाके रुकनेका क्या उपाय है ?

उत्तर—तिलक (टीका) तथा दहेजकी इस प्रथाकी बुराइयोंको देखनेसे तथा अज्ञानमूलक घृणित लोभके त्यागसे यह रुक सकती है। अपने सम्बन्धीसे तिलक-दहेज आदि लेना भी एक प्रकारसे दान ही है। जिस प्रकार अनुचित दान त्याज्य है इसी प्रकार अनुचित तिलक आदि भी त्याज्य है। इच्छा न होनेपर भी देनेवाला दुखित हृदयसे देता है, इसलिये भी वह त्याग करने योग्य है। मुफ्तका धन लेनेसे अकर्मण्यता आ जाती है और पर-धनपर जो एक ग्लानि है, वह भी मिट जाती है। तिलक आदि अधिक दिये बिना कन्याका विवाह नहीं होता, अतः विवाहके लिये धनसंग्रहार्थ कन्याके अभिभावकोंको अनेक प्रकारके पाप करने पड़ते हैं। अधिक धन लेकर लड़केका सम्बन्ध करना प्रकारान्तरसे लड़केकी बिक्री करना है। इस कुप्रथाके कारण इसके लिये तरह-तरहके पाप करने पड़ते हैं, बहुत-से मनुष्य तो थोड़ा देकर बहुत दिखलाते हैं, उन्हें दम्भ करना पड़ता है। एकके अधिक तिलक-दहेज आदिको देखकर दूसरे भी अधिक देना चाहते हैं। लेते-देते समय जो दिखावा किया जाता है, इससे भी इस प्रथाको प्रोत्साहन मिलता है, यह भी बड़ा भारी गुप्त दोष है। इससे पाप और दुःखकी वृद्धि होती है। अधिक दिये बिना विवाहादि न होनेसे वंशका नाश होता है। कई लड़कियाँ तो माता-पिताके इस क्लेशको देखकर आत्मघात कर लेती हैं और माता-पिताको भी लड़कियाँ भारस्वरूप प्रतीत होती हैं तथा बहुत-से दहेज आदि देकर अन्तमें भिखारी हो जाते हैं। यह बहुत बुरी प्रथा है। भारतमें प्रायः सभी देशों तथा सभी जातियोंमें यह व्यापक हो गयी है; किंतु यह धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्मका

विनाश करनेवाली है । अतएव तिलक-दहेज आदिकी इस कुप्रथाका सर्वथा बंद हो जाना अथवा नाममात्रके रूपमें रहना ही सबके लिये कल्याणकारी है ।

प्रश्न ८—विवाहादिमें लोग अनेक प्रकारके आडम्बर करके जो व्यर्थका अतिशय धन व्यय करते हैं—जैसे बहुत अधिक रोशनी करना, अत्यधिक लोगोंको भोजन कराना, आतिशबाजी, खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा आदि कामोंमें व्यर्थ खर्च करना । सुधरे माने जानेवाले लोगोंमें भी इस खर्चकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, इस फिजूलखर्चीके मिटानेके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—यह धन-व्यय वस्तुतः देश और समाजके लिये हानिकर है, इससे धन, धर्म और समयका व्यर्थ क्षय होता है । और दुःख तथा पापोंकी वृद्धि होती है । यह सब प्रकारसे जनताके लिये महान् हानिकर है । इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विवेकबुद्धिसे समझकर देश, जाति और समाजकी रक्षाके लिये इसको हठपूर्वक भी सर्वथा बंद कर देना चाहिये ।

प्रश्न ९—जन्म, मृत्यु, विवाह और पर्व आदिमें देशजातिकी हानिकारक कुरीतियाँ उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं, ये सर्वथा बंद कैसे हों ?

उत्तर—ईश्वरके शरण होकर पाप-पुण्य, बुरे-भले तथा हानि-लाभका भलीभाँति विचार करके दृढ़ प्रयत्न करनेसे ।

(क) लड़का पैदा होनेके समय लोग अपने घरोंमें बहुतसे लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलते हैं, गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, शराब-कबाब आदि हेय वस्तुओंका सेवन करते हैं तथा हँसी-मजाक और खेल-तमाशा करते हैं । इससे बालककी माता और बच्चेके

अन्त:करणपर बुरे संस्कार जमते हैं। अतएव इसको महान् हानिप्रद समझकर इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसके बदलेमें जैसे पुराने समयमें 'जातकर्म' और 'नामकरण' आदि संस्कार होते थे, उस प्रकारसे शास्त्रविधिपूर्वक उत्सव मनाना चाहिये। माताके और बालकके हृदयमें अच्छे संस्कार उत्पन्न करनेके लिये कथा-कीर्तन, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये तथा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सदाचारकी वृद्धिके लिये भक्तोंकी जीवनियाँ एवं वीर पुरुषोंके इतिहास पढ़कर सुनाने चाहिये, जिससे उनमें धर्म, समाज, अध्यात्म और लोकोन्नति आदिके संस्कार जमकर उनके स्वभावमें सुधार हो एवं इस लोक और परलोकमें उन्नति करनेवाले ज्ञानकी वृद्धि हो।

(ख) मृत्युके समय लोग रोते, बिलपते और सिर-छाती पीटते हैं, देश-विदेशसे बहुत लोग इकट्ठे हो जाते हैं और भारी आन्दोलन करके शोकका रूप बढ़ा लेते हैं। साथ ही उसके श्राद्धादिमें बड़ा भारी बाहरी आडम्बर करते हैं। यह ठीक नहीं है। इससे धन और समयका अपव्यय होता है, लोगोंको व्यर्थका कष्ट और परिश्रम होता है तथा मरनेवाले प्राणीको कुछ भी लाभ नहीं होता। इसलिये इसका सुधार करना चाहिये। ऐसा न करके इसके बदलेमें मृतककी आत्माको शान्ति मिलनेके लिये घरवालोंको शास्त्रविधिके अनुसार दाह-संस्कार, दशगात्र, नारायण-बलि, सपिण्डी श्राद्ध, ब्राह्मणभोजन आदि कराने चाहिये और ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये। शोककी निवृत्तिके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार-सम्बन्धी बातें और इतिहास-पुराणकी कथाएँ सुननी चाहिये। परिवारके लोग तथा सगे-सम्बन्धी, जो दूर रहते हैं और जिनको

मन न होनेपर भी ऐसे अवसरोंपर बाध्य होकर आना पड़ता है, उनको इस ढंगसे सभ्यता तथा विनयपूर्वक समाचार लिखना चाहिये जिसमें वे न आवें तथा व्यर्थके खर्च, कष्ट और समयकी बर्बादीसे बच जायँ । श्राद्धादिके बाहरी आडम्बरमें अधिक रुपये न लगाकर अपनी शक्तिके अनुसार विधवा, अनाथ-बालक तथा आपद्ग्रस्त प्राणियोंकी सेवामें लगाने चाहिये ।

आश्वासन देनेके लिये आनेवाले लोगोंका कर्तव्य है कि वे पूर्वमें होनेवाले अच्छे पुरुषोंके उदाहरण देकर शोकग्रस्त परिवारको धैर्य दिलावें; शरीर, संसार और भोगोंकी विनाशशीलता बतलाकर उनके हृदयमें ज्ञान, वैराग्य हो—ऐसी उत्तम पुरुषोंकी जीवनियाँ सुनावें । मृत्युका भय और परलोकका प्रलोभन देकर सदाचारमें लगावें । जिससे उनके चिन्ता-शोक दूर होकर उन्हें सन्तोष और शान्ति मिले—ऐसी विवेक, वैराग्य और भक्तिकी बातें सुनावें ।

(ग) विवाह आदिके समय चौपड़-ताश आदि खेलना, नाना प्रकारके गंदे गाली-गलौज, गंदे हँसी-मजाक करना, खेल-तमाशा आदि करना, बुरे गीत गाना, जुआ खेलना, आतिशबाजी करना, जीवहिंसा, बलिदान, मांसभक्षण, बीड़ी-सिगरेट, गाँजा-भाँग आदि मादक वस्तुओंका सेवन, सिनेमा-क्लब आदिमें जाना, होटलोंके मारफत खान-पानका इंतजाम करना आदि बहुत-सी बुरी बातें चल पड़ी हैं । ये सभी देश, जाति, धर्म, समाज और इस लोक, परलोकको नष्टभ्रष्ट करनेवाली हैं । इसलिये इनका सर्वथा बंद होना आवश्यक है । साथ ही विवाह आदि सभी संस्कार शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार होम और देवपूजनपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा विधिपूर्वक

होने चाहिये। कन्या और वरका जिसमें परम हित हो, ऐसी शिक्षा देनी चाहिये और उन्हें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचारसम्बन्धी पुस्तकें देनी चाहिये। श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानोंके द्वारा उपदेश, व्याख्यान, पदगान आदिका आयोजन करना चाहिये, जिससे सामाजिक, व्यावहारिक, धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि हो।

(घ) होलीके समय आतिशबाजी करना, धूल, राख, कीचड़ आदि डालना, गंदे गीत गाना, खेल-तमाशा करना तथा देवीपूजा, कालीपूजा, दीपमालिका और सरस्वतीपूजाके समय जीवहिंसा, बलिदान, मांसभक्षण, आतिशबाजी, बहुत अधिक रोशनी करना और जुआ खेलना आदि बहुत-सी कुरीतियाँ चल पड़ी हैं। इनसे न तो इस लोकमें लाभ है और न परलोकमें ही। ये नैतिक और धार्मिक पतन करनेवाली हैं, इसलिये इनको सर्वथा बंद कर देना चाहिये। इनके बदलेमें भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, स्तुति-प्रार्थना, जप-तप, स्वाध्याय, देवपूजा, अतिथिसेवा, होम, दान, सत्संग आदि करने चाहिये। ऐसा आयोजन करना चाहिये जो इस लोक और परलोकमें परम हितकर हो।

ये सब कुरीतियाँ देश, जाति और अपने आपके लिये महान् घातक हैं। इनसे नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक और सामाजिक पतन होता है। इनसे न तो स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी ही; बल्कि ये इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाली और कलङ्क लगानेवाली हैं। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेसे ये कुरीतियाँ बंद हो सकती हैं। बुद्धिमान् मनुष्यका कर्तव्य है कि वह गम्भीरतापूर्वक इनके दोषोंको समझकर स्वयं त्याग करे और दूसरोंसे करवावे।

प्रश्न १०—आजकल बाल-विधवाओंकी संख्या अधिक होनेके कारण भ्रूणहत्या भी अत्यधिक होती है, इसलिये विधवाविवाह धर्म माना जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—कभी नहीं; क्योंकि मनु आदि शास्त्रकारोंने इसका घोर विरोध किया है। विधवाविवाहका धर्मशास्त्रोंमें कहीं भी विधान नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते।
(५। १६२)

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥
(९। ४७)

'साध्वी स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिको अपनानेका उपदेश नहीं दिया गया है। धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या किसीको एक ही बार दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं।'

धर्म साधारण मनुष्योंकी मान्यतापर निर्भर नहीं करता। त्यागी महात्मा सत्पुरुषोंके द्वारा जो धारण किया जाता है, उसका नाम धर्म है। मनुजी कहते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥
(२। १)

'रागद्वेषशून्य विद्वान् सत्पुरुषोंने जिसको सदा सेवन किया और हृदयसे मुख्य जाना, उस धर्मको सुनो।'

इसलिये दस हजार मूर्ख मिलकर भी किसीको धर्म बतला दें तो वह धर्म नहीं है, बल्कि एक भी श्रोत्रिय ब्रह्मवेत्ता जिसको धर्म बतलावे, वही धर्म है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

(मनु० १२। ११३)

धर्म और ईश्वरकी सिद्धि वोटोंपर नहीं होती, यह तो श्रुति-स्मृतिपर ही निर्भर है।

धर्म उसको कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याण-कारक हो। विधवाविवाह तो इस लोकमें भी कल्याणकारक नहीं है, फिर परलोकमें तो हो ही कैसे सकता है। कल्याण तो परमात्माके तत्त्वज्ञानसे या ईश्वरकी भक्तिसे या निष्कामभावपूर्वक धर्मपालनसे होता है। शास्त्रोंमें बतलाया है कि विधवा स्त्री केवल ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम गतिको पा लेती है। मनुजीने कहा है—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

(५। १६०)

'पतिकी मृत्युके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी सर्वोत्तम लोकमें जाती है, जैसे कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) सर्वोत्तम लोकमें जाते हैं।'

शास्त्रोंमें कहीं भी विधवाके लिये दूसरा विवाह या नियोग (नाता) करना नहीं बतलाया है। पूर्वमें वेन नामके एक राजा हुए थे, उन्होंने विधवाओंके लिये नियोगकी प्रथा जारी की थी; किंतु

उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीनों वर्णोंने घृणित समझकर स्वीकार नहीं किया था। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

(९। ६५-६६)

'विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है; विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है। वेन राजाने अपने शासनकालमें तो मनुष्योंमें भी इस प्रथाको जारी कर दिया था; किंतु यह पशुधर्म ही है, विद्वान् द्विजोंने इसकी सदा ही निन्दा की है।'

इससे मुक्ति तो हो ही नहीं सकती, सबको सांसारिक सुख भी नहीं मिलता। इसके विपरीत, उस स्त्रीको जगह-जगह तिरस्कार और क्लेशका सामना करना पड़ता है, इसलिये उसका वर्तमान जीवन भी दुःखमय बन जाता है।

आजकल कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'जब स्त्रीके मरनेपर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है तब फिर स्त्रीको भी पतिके मरनेपर पुनर्विवाह करनेमें क्या आपत्ति है?' इसका उत्तर यह है कि स्त्रीके मरनेके बाद पुरुषके पुनर्विवाह कर लेनेपर भी उसकी पहलेकी सन्तान उसी कुल-गोत्रमें ही रहकर अपने पिताके द्वारा रक्षित और पालित हो सकती है और उसका उस घरमें दायभाग रहता है, उसके अपने हिस्सेके अनुसार अधिकार कायम रहता है; किंतु

पतिकी मृत्यु हो जानेपर स्त्री यदि बच्चोंको वहीं छोड़कर दूसरे पुरुषसे विवाह करके वहाँ चली जाती है तो वे बच्चे बिल्कुल अनाथ हो जाते हैं, उनका पालन-पोषण ही असम्भव-सा हो जाता है। और यदि सन्तानको साथ ले जाय तो उनका इस गोत्र और कुलसे सम्बन्धविच्छेद हो जानेके कारण वे अपने पैतृक धनसे वञ्चित रह जाते हैं। जहाँ दूसरे घरमें वह जाती है, वहाँ उसका पति न तो उन बच्चोंसे प्यार करता है, और न उन्हें दायभागका हिस्सा ही देता है। इस प्रकार वे पहलेवाले घरसे भी हाथ धो बैठते हैं और दूसरे घरसे भी उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनके शादी-विवाह भी कठिन हो जाते हैं। इस प्रकार वे महान् कष्टमें पड़ जाते हैं। और यदि उस स्त्रीकी दूसरे पतिसे नहीं पटती तो फिर उसे तीसरा घर देखना पड़ता है, इस प्रकार घर-घरका भटकना भी साधारण क्लेश नहीं है। लोग उसे घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं, यह भी उसके लिये महान् क्लेशका कारण है। इसलिये भी शास्त्रकारोंने पुनर्विवाहका बहुत निषेध किया है।

यदि कहो कि भ्रूणहत्याकी अपेक्षा तो विधवा-विवाह कहीं अच्छा ही होगा तो इसका उत्तर यह है कि भ्रूणहत्या भी पाप है और विधवा-विवाह भी पाप है। धर्म तो किसीको भी नहीं कहा जा सकता। धर्म तो वही है जो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा धारण करनेयोग्य तथा इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। यदि कहो कि बहुत आदमी इसे आजकल धर्म मानते हैं तो इससे क्या हुआ, धर्म बहुत आदमियोंकी मान्यतापर निर्भर नहीं करता। बहुत आदमियोंके मान लेनेसे ही किसी बातको धर्म नहीं माना जा

सकता । यदि कहो कि आजकल तो कई विधवा स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर लेती हैं सो यदि कोई अपनी कामवासनाकी पूर्तिके लिये ऐसा करती हैं तो उनका वह आचरण धर्म कैसे कहा जा सकता है । कामवासनाकी तृप्तिके लिये भोगविलासके क्षणिक सुखको कोई सुख भी माने तो वह तो अत्यन्त घृणित ही है और घृणित होनेसे वह त्याज्य ही है ।

अतएव विधवा स्त्रियोंको शास्त्रमें बतलाये हुए कर्तव्यका पालन करना चाहिये । पतिके मरनेपर विधवा स्त्रीको वैराग्यपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमय जीवन बिताना, इन्द्रियोंका संयम और शास्त्रोंका स्वाध्याय करना तथा पुत्रोंके अधीन रहकर पतिके बतलाये हुए मार्गके अनुसार ही आजीवन चलना चाहिये । श्रीमनुजी कहते हैं—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
(५ । १५७-१५८)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे ही जीवन-निर्वाह करती हुई इच्छापूर्वक अपने शरीरको सुखा डाले, परंतु पतिकी मृत्युके बाद (कामवासनासे) किसी पराये पुरुषका नाम भी न ले । पतिव्रता स्त्रियोंका जो धर्म है, उस सर्वोत्तम धर्मको पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे ।'

प्रश्न ११—हमलोग प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या-गायत्री, भजन-ध्यान, पूजा-पाठ करने बैठते हैं, उस समय या तो आलस्य आ जाता है या मन चारों ओर दौड़ लगाता रहता है। बहुत कालतक साधन करते रहनेपर भी लाभ नहीं देखनेमें आता, इसके लिये हमें क्या करना चाहिये?

उत्तर—प्रातःकाल और सायंकालके नित्यकर्मको—सन्ध्या-गायत्री, भजन-ध्यान, पूजा-पाठको हमें जितना आदर देना चाहिये, उतना नहीं देते; बल्कि उपेक्षाबुद्धिसे करते हैं। हमें चाहिये कि हम भगवान्‌को और उनके लिये किये जानेवाले साधनको जीवनका महान् आदरणीय कार्य समझकर बड़े ही सत्कारके साथ उसका आचरण करें।

आलस्य आनेमें कई हेतु हैं—रात्रिमें नींदकी कमी, भारी और अधिक भोजन करना, तामसी पदार्थोंका सेवन, आसन ठीक तरहसे न लगाना, ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी और अत्यधिक शारीरिक परिश्रम। इन कारणोंको दूर करनेके लिये हमें भोजन सात्त्विक (गीता १७।८), हल्का और भूखसे कुछ कम मात्रामें—उचित रूपमें करना चाहिये (गीता ६।१७)। रात्रिमें पूरे छः घंटे शयन कर लेना चाहिये और सबेरे उठकर शौच-स्नानसे निवृत्त होकर जहाँ हल्ला-गुल्ला और विघ्न-बाधाएँ न हों, ऐसे निर्जन और पवित्र स्थानमें अच्छी प्रकार आसन लगाकर बैठना चाहिये। कमर और ग्रीवा सीधे रहने चाहिये (गीता ६।१३), जिससे आलस्य न आवे। नाशवान्, क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंको आदर न देकर भगवान्‌की प्राप्तिके साधनों

तथा भगवान्को ही अपना सर्वस्व धन, प्राण और जीवन मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बड़े आदरके साथ भगवान्में मन लगानेका प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रकार करनेसे आलस्य कम हो सकता है।

अज्ञानके कारण सांसारिक पदार्थोंमें जो हमलोगोंकी सुख और शोभनबुद्धि हो रही है और मनका संसारमें जो एक विचरण करनेका अभ्यास हो गया है—इन सब कारणोंसे संसारका चिन्तन मनको प्रिय लगता है और वह उनमें विचरता रहता है। इसीसे विक्षेप-दोष बढ़ता है। इसके सुधारके लिये हमलोगोंको विवेक और वैराग्यसे काम लेना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि संसारके पदार्थोंमें जो सुख प्रतीत होता है, वह अज्ञानसे होता है, वास्तवमें उनमें सुख है ही नहीं। संसारके सारे पदार्थ नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखके ही हेतु हैं (गीता ५। २२); इसलिये ये आत्माका पतन करनेवाले तथा संसारमें ही भटकानेवाले हैं। ऐसा सोचकर चित्त-वृत्तियोंमें वैराग्य करना चाहिये, वैराग्य करनेसे ही वृत्तियाँ संसारके चिन्तनसे हट सकती हैं। मनको यह भी समझाना चाहिये कि संसारका व्यर्थ चिन्तन करनेसे जब स्वार्थकी ही सिद्धि नहीं होती तब फिर परमार्थकी सिद्धि तो हो ही कैसे सकती है। इन पदार्थोंमें हमारी जो प्रीति है, वह उनमें सुख और शोभनबुद्धिके कारण है और वह सुख और शोभनबुद्धि केवल भ्रान्तिमात्र है, वास्तवमें नहीं है; यदि वास्तवमें हो तो वह स्थायी होना चाहिये। क्योंकि जो चीज सत्य होती है, उसका विनाश नहीं होता और जो मिथ्या होती है, वह टिक नहीं सकती। भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है, और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अतः संसारमें जो सुख और शोभनबुद्धि है, देश, काल और वस्तुका विचार करनेपर वह अल्प और एकदेशीय सिद्ध होती है। जिस इन्द्रियको सुख प्रतीत होता है, उसी कालमें उससे भिन्न दूसरी इन्द्रियको नहीं होता। जैसे नेत्रोंको दर्शनका सुख होता है तो कानोंको नहीं और कानोंको श्रवणका सुख होता है तो नासिकाको नहीं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझना चाहिये। अतः वह सुख अल्प और क्षणिक है। तथा क्षणिक होनेसे अनित्य है और अनित्य होनेसे असत् है। क्योंकि इन्द्रिय और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है, वह संयोगके दूसरे क्षणमें नहीं रहता। जिन पदार्थोंके साथ संयोग है, वह संयोग भी क्षणिक है और पदार्थ भी क्षणिक हैं; क्योंकि पदार्थोंका क्षण-क्षणमें परिवर्तन होता रहता है तथा संयोगके साथ वियोग भी अवश्यम्भावी है।

इस प्रकारसे विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि सांसारिक सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है। ऐसा विचारकर मनको बार-बार इन पदार्थोंसे हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये। इस प्रकार विवेक और वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे संसारकी स्फुरणा कम हो सकती है।

सन्ध्या-गायत्री और गीता, विष्णुसहस्रनाम, रामायण,

भागवत, स्तोत्र आदिका पाठ करते समय उनके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए और यदि अर्थका ज्ञान न हो तो टीकामें लिखे हुए अर्थका मनन करते हुए उनके तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर उनका आस्वादन करना चाहिये ।

भगवान्‌के नामका जप करनेके समय भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, जिस रूपमें अपनी श्रद्धा और रुचि हो, उसी रूपका एवं भगवान्‌के गुण-प्रभावका मनन करते हुए प्रेमपूर्वक चिन्तन करे और उनकी रूप-माधुरीका आस्वादन करे ।

भगवान्‌के समान संसारमें हमारा कोई नहीं है । वे ही हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, धन-प्राण, सर्वस्व हैं । इसलिये क्षणभङ्गुर नाशवान् संसारसे सर्वथा सम्बन्ध तोड़कर केवल सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम सुहृद् और प्रेम तथा माधुर्यके एकमात्र निधान भगवान्‌से ही श्रद्धा और आदरपूर्वक सर्वभावयुक्त सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये तथा भगवान्‌के दर्शन, भाषण, वार्तालाप, स्पर्श, चिन्तन—सभी प्रेमपूर्ण और रसमय—अमृतमय हैं एवं उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका श्रद्धापूर्वक चिन्तन भी आनन्दमय और अमृतमय है, इस तरह श्रद्धा, भक्ति और आदरसे नित्य-निरन्तर उसका ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रयत्न करनेपर, जो आपको बहुत काल साधन करनेपर भी लाभ नहीं हुआ, वह लाभ बहुत थोड़े समयमें ही मिलनेकी सम्भावना है । इसलिये ऊपर बतलाये हुए साधनोंके अनुसार कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये ।

प्रेमपरवश भगवान्‌की लीला

[प्रवीर*का अलौकिक भगवत्प्रेम]

प्रवीर माहिष्मती नगरीके नरेश श्रीनीलध्वजके पुत्र थे। इनकी जननी जुन्हादेवी सरल, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। भगवद्भक्तिके साथ-साथ वे बड़ी स्वाभिमानिनी, वीराङ्गना और धैर्यशीला भी थीं। इनके अत्यन्त पवित्र जीवनका प्रभाव इनके पुत्र प्रवीरपर पूर्णतया पड़ा। फलतः प्रवीरमें भी सरलता, सौजन्य, सत्प्रेम और भगवद्भक्ति कूट-कूटकर भर गयी। वीरता उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे छलकती दीखती थी, पर वे निरन्तर भगवच्चिन्तन एवं उनके प्रेममें तन्मय रहा करते थे।

उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें कौरवोंको पराजित कर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर महाराज राज्य कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया। अश्व छोड़ा गया। उसकी रक्षाके लिये धनुर्धर अर्जुन नियत हुए। उनके साथ विशाल वाहिनी थी। यात्राके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की; किंतु 'इस छोटे-से कार्यके लिये आपको कष्ट देना अपेक्षित नहीं। भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर लेनेके लिये तो मैं और यह सेना ही पर्याप्त है।' कहकर अर्जुन चल पड़े। अर्जुनके मुखपर छिपी अभिमानकी रेखा चमक रही थी।

---

* बंगालके प्रचलित लीलाभिनयों (यात्रा) में प्रवीरकी लीला की जाती है। वह बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है। यह आख्यायिका उसीके आधारपर लिखी गयी है। यह कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं। प्रवीरकी कथा जैमिनीय-अश्वमेधमें भी आती है, पर वह अन्य रूपमें है।

'वीरवर अर्जुनके साथ युद्ध करनेका जिन्हें साहस हो, वे इस अश्वको पकड़ें अन्यथा उपहारसहित महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर उपस्थित हों' अश्वके मस्तकपर स्वर्णपत्रमें लिखा हुआ था। सबके आगे झूमता हुआ अश्व चला जा रहा था और उसके पीछे वीरवर अर्जुनके साथ सशस्त्र विपुल वाहिनी चल रही थी।

कोई नहीं दीखता था, जो अश्वकी ओर पूर्णतया देखनेका साहस कर सके। पथमें जितने भी राजा-महाराजा मिले, सबने सर्वत्र स्वागत किया और युधिष्ठिर महाराजकी अधीनता स्वीकार की। इसी प्रकार वह अश्व माहिष्मतीके समीप पहुँचा।

प्रवीरके पिता माहिष्मतीनरेश नीलध्वज अर्जुनका नाम सुनते ही सशङ्क हो गये। उन्होंने अश्वको न पकड़नेमें ही कुशल समझी, पर इस संवादसे वीराङ्गना जुन्हादेवी क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पतिदेवके इस कृत्यको कायरता समझा तथा ऐसे अनेक प्रयत्न किये, जिससे वे अपने क्षत्रियत्वकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ; पर नीलध्वज अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए।

पतिसे निराश होते ही जुन्हादेवी अपने प्राण-प्रिय पुत्र भक्त प्रवीरके समीप गयीं और उसे प्रतिष्ठारक्षार्थ समरमें डट जानेके लिये प्रोत्साहित करती हुई बोलीं—'बेटा! मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करती हूँ, साथ ही तुमसे देश, जाति और स्वाभिमानकी रक्षाकी आशा भी करती हूँ। अर्जुनकी विशाल वाहिनी अश्वमेधके अश्वके साथ तुम्हारे क्षत्रियत्वको, तुम्हारी वीरताको, तुम्हारी स्वतन्त्रता एवं

तुम्हारे देशाभिमानको ललकार रही है । पर मैं चाहती हूँ कि वह यहाँसे विजयोन्मत्त बनकर न जा सके । तुम उठो ! अति शीघ्र उठो !! अश्वमेधके अश्वको पकड़कर अर्जुनको उलटे पाँव लौटनेके लिये विवश कर दो । उनकी मदोन्मत्त चतुरङ्गिणीको अपने तीक्ष्ण शरोंसे वेध कर एक क्षणके लिये भी यहाँ टिकने न दो ।'

'मा ! श्रीकृष्ण-सारथि वीरवर अर्जुन !'····प्रवीर चकित होकर बोल भी नहीं पाया कि उसकी स्नेहमयी जननीने दुर्गाकी भाँति हुङ्कारकर कहा, 'हाँ, वही अर्जुन ! यदि तुझे एक क्षण भी विचार करना है तो स्पष्ट बोल, मैं स्वयं युद्ध करनेके लिये अर्जुनके विशाल सैन्यमें प्रवेश करूँगी । मैं समझूँगी कि मैंने पुत्रको जन्म ही नहीं दिया था ।'

'आज्ञा शिरोधार्य है माता ! तुम निश्चिन्त हो अन्तःपुरमें जाओ ।' प्रवीरके इस कथनसे संतुष्ट हो माता भीतर चली गयी और प्रवीरने अर्जुनके पास पत्र भेजा, 'मैं आपका अश्व रोक रहा हूँ । आप रणाङ्गणमें आ जाइये ।'

दूत उत्तर ले आया । वीर प्रवीरने पढ़ा, 'वीर ! क्षत्रियोचित पत्र पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई, एतदर्थ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, किंतु तुम अभी नन्हे बच्चे हो । जीवनका आनन्द छोड़कर मृत्यु-मुखमें जानेके लिये मचलना अच्छा नहीं ।'

प्रवीरने तुरंत पत्र लिखा, 'वीरवर ! कायरतापूर्ण वाणी आपको शोभा नहीं देती । युद्ध करनेकी इच्छा न हो तो आप इन्द्रप्रस्थ लौट जा सकते हैं । अश्वको मैं नहीं छोड़ सकूँगा ।'

फिर क्या था। दूसरे दिन अरुणोदय होते ही समर छिड़ गया। भयंकर युद्ध हुआ। भक्तवर वीर प्रवीरके पैने बाणोंसे अर्जुन आकुल हो उठे। उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा, 'प्रवीरकी सुकुमारताका विचार छोड़कर तुम शरवर्षा करो।' पर प्रद्युम्नने तुरंत कहा, 'आपकी भाँति वीर प्रवीर भी मेरे पिताजीके प्रिय भक्त हैं। अतः इनकी भक्तिका ध्यान आनेपर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है और मैं पूरे वेगसे युद्ध नहीं कर सकता।' इसके बाद महाबली भीम आगे आये; किंतु भगवच्चरणाश्रित, भगवान्‌के बलसे बलवान् प्रवीरके चुटीले तीरोंके सामने उनकी एक न चली। यह दशा देखकर अत्यन्त क्रोधसे अर्जुनने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। पर अग्निकी भीषण ज्वालाएँ प्रवीरके बाणोंकी वारि-धाराके सामने शीतल हो गयीं। इसी प्रकार अर्जुनने जिन-जिन भयंकर एवं विषैले बाणोंको प्रवीरका मस्तक छिन्न करनेके लिये चलाया, वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुए। राजकुमार प्रवीरने अर्जुनसमेत उनके सैन्यको विकल एवं पराजित कर दिया।

अर्जुनके वीरत्वदृप्त मुख-मण्डलपर विषादकी कालिमा छा गयी। उसी समय प्रवीरने आकर कहा—'वीरवर अर्जुन! अश्वमेधका घोड़ा इसी बलपर छोड़ा था? मैं आपको स्पष्ट बता देता हूँ कि यदि आपको अपने प्राण प्यारे नहीं हों तब तो आप कल पुनः समर-भूमिमें आइयेगा; अन्यथा अब सुखपूर्वक लौट जाइये और यहाँ उस दिन उपहार लेकर आइये, जिस दिन इस घोड़ेसे मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा। आप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायताके बिना मुझपर विजय कभी भी नहीं पा सकते। मुझे जीतनेकी आकाङ्क्षा मनमें हो तो

श्रीकृष्णको बुलाइये, उनके दर्शनकर मैं भी कृतकृत्य हो जाऊँगा।' प्रवीर कुछ क्षणोंके लिये भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गया !

पर प्रवीरकी वाणी अर्जुनके हृदयमें तीरकी भाँति प्रवेश कर गयी। उन्होंने अब भगवान्‌के सामने अभिमानभरी वाणी कहनेकी अपनी भूलका अनुभव किया। तुरंत व्याकुल होकर भगवान्‌से प्रार्थना की, 'हे हरि ! हे नाथ !! हे गोविन्द !!! हे वासुदेव !! हे नारायण!!! मेरी अनुचित वाणीके लिये क्षमा करें। आप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर हैं। आप शीघ्र आकर मेरी रक्षा करें।' अर्जुनकी पुकार सुनते ही भक्तभयभञ्जन भगवान् तुरंत वहाँ प्रकट हो गये। मानो अबतक यहीं कहीं छिपे थे।

भगवान्‌को देखते ही अर्जुन उनके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने दृष्टि फेरी तो देखा प्रवीर भी प्रभुके पावन चरणोंमें दण्डकी भाँति लेटकर प्रणिपात कर रहा है। भगवान् अर्जुन और प्रवीर दोनोंसे मिले। प्रवीर गद्‌गद हो रहा था। हर्षातिरेकसे उसने कहा, 'प्रभो ! आपके दर्शन पाकर आज मैं धन्य हो गया।' उसने फिर अर्जुनसे कहा, 'पार्थ ! मैं आपका भी ऋणी हूँ, आपकी ही कृपासे मुझे आज श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्यपावनी मधुर मनोहर झाँकीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब हम अपने शिविरमें चलें। कलसे भगवान्‌के सामने ही युद्ध होगा।' फिर दोनों अपने-अपने शिविरोंमें चले गये।

प्रवीरको देखते ही देवी जुन्हाने उन्हें छातीसे चिपका लिया और कहा, 'बेटा ! तुम्हारी विजयके लिये मैं भगवती भागीरथीकी

आराधना करने जा रही हूँ।' प्रवीरकी वीरहृदया धर्मप्राणा पत्नी मदनमंजरीने अत्यन्त आनन्द प्रदर्शित करते हुए कहा, 'भगवान् श्रीकृष्णको अपनी भक्तिसे प्रसन्न करके मैं भी आपकी विजयके लिये उनसे प्रार्थना करूँगी।' प्रवीर भी भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन था।

आधी रात बीत गयी। इधर प्रवीरपत्नी मदनमंजरीने अर्जुनके सुषुप्त सैन्यमें प्रवेश किया। उसके हाथमें लंबी नंगी तलवार थी। प्रहरीके स्थानपर भगवान् शङ्कर त्रिशूल लिये खड़े थे। उन्होंने मदनमंजरीका परिचय और अर्द्धरात्रिमें नंगी तलवार लेकर शिविरमें आनेका कारण पूछा।

मदनमंजरीने निस्संकोच सत्य कह दिया, 'मैं प्रवीरपत्नी हूँ। अपने पतिके प्राणोंकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हूँ।'

भगवान् शङ्कर बोल उठे, 'यह सम्भव नहीं। भगवान् सो रहे हैं। तुम वापस लौट जाओ।'

'यदि ऐसा ही है तो फिर आपके ही चरणोंमें यह मस्तक अभी लोट जायगा' कहते हुए मदनमंजरीने तलवार ऊपर उठा ली।

भगवान् शङ्करने अपना परिचय देते हुए कहा, 'मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और कैलाश जा रहा हूँ। यहाँसे प्रयाण करनेके पश्चात् मेरा कोई दायित्व नहीं है।'

मदनमंजरी श्रीकृष्ण-शिविरके द्वारपर पहुँची तो द्वारपालने डाँटते हुए वहाँ उपस्थित होनेका कारण पूछा। मदनमंजरीने विनम्रतासे द्वारपालको भी उत्तर दिया—'अपने प्राणधनके प्राणोंकी भीख

माँगने महाराज नीलध्वजकी पुत्र-वधू भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जाना चाहती है ।'

द्वारपालने कहा, 'यहाँसे लौट जाओ । प्रभु इस समय शयन कर रहे हैं ।'

मदनमंजरीने तलवार तान ली और कहा, 'यदि आप भगवान्के समीप नहीं जाने देते तो मैं अभी अपना मस्तक काटकर आपके चरणोंमें समर्पित करती हूँ ।'

द्वारपालने मदनमंजरीका हाथ पकड़ लिया, पर उसने देखा—ये तो वे ही त्रैलोक्यनाथ मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनके लिये वह प्राणोंपर खेलकर आयी थी । वह प्रभुके चरणोंपर लोट गयी । कुछ देर बाद उसने कहा, 'प्रभो ! आप तो अन्तर्यामी हैं । पर कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता । प्रातःकाल ही धनुर्धर अर्जुनसे मेरे पतिदेवका युद्ध होगा । धनुर्धर अर्जुनको आपकी सहायता प्राप्त है और आपकी सहायता पाकर वे जो चाहे कर सकते हैं । इस कारण मैं आपसे अपने जीवन-धनके प्राणकी भीख माँगती हूँ ।'

अपनी कौमोदकी गदा और सहस्रार सुदर्शन चक्र उसके हाथमें देते हुए भक्तवत्सल करुणामय भगवान्ने कह दिया 'इसे जबतक प्रवीर अपने पास रक्खेगा, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा ।' मदनमंजरीने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और द्रुतगतिसे लौटकर दोनों आयुध अपने पतिको दे दिये । भगवान्की बात भी बता दी ।

उधर धर्मपरायणा जुन्हादेवीने श्रीगङ्गाजीको सन्तुष्ट कर लिया और श्रीशिवजीसे प्रार्थना करनेके लिये कहा कि 'वे अपने त्रिशूलके साथ प्रवीरकी ओरसे युद्ध करें ।' श्रीगङ्गाजीकी प्रार्थना सुनते ही

आशुतोषने कहा, 'अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण हैं और उनके सामने समरभूमिमें उतरना मेरे लिये सम्भव नहीं।'

प्रातःकाल होते ही अर्जुन अपने सखा श्रीकृष्णके पास पहुँचे तो देखा कि वे उदास और चिन्तित मुद्रामें अवनतमुख बैठे हैं। अर्जुनको देखते ही उन्होंने कहा, 'बन्धुवर! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर अपने दोनों आयुध मैंने उसे समर्पित कर दिये और जबतक वे आयुध उसके पास हैं, तुम उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मेरी उपस्थितिसे प्रत्येक समय तुम्हारे शुभमें विघ्न ही उपस्थित हो जाता है।'

भगवान्‌की वाणी सुनते ही भीम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा, 'आपको सोच-विचारकर वरदान देना था। आप हमारी रक्षा करनेके लिये आये हैं कि और भी विपत्ति लादनेके लिये यहाँ पहुँचे हैं।' पर भीमको बड़ी विनयसे चुप कराते हुए अर्जुनने सरल विश्वासपूर्वक भगवान्‌से विनम्र शब्दोंमें कहा, 'यह क्या कहते हैं प्रभो! आपकी प्रत्येक क्रियामें मङ्गल छिपा है इसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इस आयुध-दानमें भी मेरा कोई हित ही है। मैं पूर्ण निश्चिन्त हूँ। आप मेरे सर्वस्व हैं। आपहीने इस यज्ञके अनुष्ठानकी प्रेरणा एवं इसकी निर्विघ्न समाप्तिका वचन दिया है। आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।'

भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उन्हें अपने ऊपर निर्भर अर्जुनकी चिन्ता थी। वे बोल नहीं पा रहे थे। अर्जुनने पुनः कहा, 'प्रभो! प्रातः हो चला। युद्धका समय आया ही चाहता है। अब आपकी क्या आज्ञा है?'

भगवान्‌ने कहा, 'आओ, श्रीशङ्करजीके पास चलें। वे कोई

युक्ति सोचकर बता सकते हैं।' वे दोनों भगवान् श्रीशङ्करजीके समीप गये। वहाँ श्रीकृष्णने कहा, 'भगवन्! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिपर मुग्ध होकर मैंने अपनी कौमोदकी गदा तथा चक्र भी उसके पतिके लिये दे दिया। वे जबतक प्रवीरके पास रहेंगे, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अब अर्जुन कैसे विजयी हों, इसीका उपाय जाननेके लिये हम दोनों आपकी सेवामें आये हैं।'

श्रीशङ्करजी बोले—'सर्वज्ञ होकर भी आपने उसे वरदान कैसे दे दिया?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'जिस प्रकार उसकी भक्तिपर मुग्ध होकर आप रात्रिमें ही कैलाश चले आये, उसी प्रकार भक्ति-विवश होकर मुझे भी वरदान देना पड़ा।'

भगवान् शङ्करने धीरे-धीरे कहा, 'मैं भी बड़े असमञ्जसमें पड़ गया हूँ। उधर प्रवीरकी माता जुन्हाकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीगङ्गाजी प्रवीरके पक्षमें त्रिशूल लेकर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आग्रह कर रही हैं। इधर आपका अनुरोध है। ऐसी दशामें मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी भी पक्षकी ओरसे युद्धभूमिमें नहीं उतरूँगा।'

निराशाभरे स्वरोंमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, 'भाई अर्जुन! मेरी पहुँच तो यहींतक थी और इन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया। अब क्या किया जाय?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'महाराज! मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि आप जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा अवश्य हित होगा। हाँ, युद्धका समय समीप आ रहा है।'

भगवान्‌ने एक क्षण सोचा और फिर वे अर्जुनके साथ भगवती उमाके पास गये। वहाँ उन्होंने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-

यज्ञानुष्ठान एवं प्रवीरकी बाधा तथा अपने आयुधद्वय एवं वरदान देनेकी बात भी सुना दी और अर्जुनकी विजयकी प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि आप समरभूमिमें मोहिनीरूपमें आकर उससे आयुध ले लें तो हम दोनों निश्चिन्त हो जायँ।' भगवती उमाने 'तथास्तु' कह दिया। श्रीकृष्ण तो यही चाहते थे। अर्जुनके साथ लौट पड़े।

अर्जुन युद्धभूमिमें पहुँचे तो उन्होंने देखा, प्रवीर अपनी विशाल वाहिनीके साथ युद्धकी प्रतीक्षा कर रहा है। युद्ध प्रारम्भ होना ही चाहता था कि प्रवीरने अपनी आँखोंके सामने आकाशमें एक नवयौवनसम्पन्ना अपूर्व लावण्यवती सुन्दरीको देखा। विश्वमें ऐसी सुन्दरता होती है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी मायाने जितेन्द्रिय भक्त प्रवीरकी मतिमें मोह उत्पन्न कर दिया और वह एक विषयी कामासक्त मनुष्यकी भाँति उस देवीसे प्रणय-याचना करने लगा। मायाकी ऐसी ही महिमा है।

परम सुन्दरी देवीने कहा, 'युद्धभूमिमें प्रेमकी बात प्रलाप-सी लगती है। यदि तुम सचमुच प्रेमदान चाहते हो तो अपने आयुध फेंक दो।' मायामोहित प्रवीर इस समय मूढ़ बन गया था। उसने श्रीकृष्णप्रदत्त दोनों आयुध फेंक दिये। भगवती उन्हें उठाकर तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। मायाका पर्दा हटा। प्रवीरकी आँखें खुलीं तो उसने मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि 'मैंने क्या अनर्थ कर डाला।'

अन्तमें उसने सोचा, कदाचित् यह कार्य भगवान्‌ने ही किया है। प्रेमपूर्वक रोष प्रकट करते हुए उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! वे अस्त्र यदि माया करके ले ही लेने थे तो आपने देनेका नाट्य

क्यों किया ?' भगवान्‌ने उत्तरमें कहा, 'प्रियवर प्रवीर ! मैंने अस्त्र नहीं लिये हैं। यदि मुझे ही उन्हें लेना होता तो मैं देता ही क्यों ?' प्रवीर तुरंत बोल उठा, 'प्रभो! यदि ऐसी बात है तो आपके लिये अर्जुनकी सहायता करनी उचित नहीं। मैं भी आपको अपने प्राणोंसे अधिक मानता हूँ। आपके चरणोंमें मेरी अनुरक्ति कम नहीं है।'

प्रवीरकी बात सुनते ही अर्जुनने कहा, 'प्रभो ! मैंने आपको युद्धमें सहायता देनेके लिये बुलाया है। प्रवीरमें शक्ति न हो तो अश्व छोड़ दे।' प्रवीरने रोषपूर्वक उत्तर दिया, 'अश्व मैंने छोड़नेके लिये नहीं पकड़ा है।' फिर क्या था—दोनों ओरसे घनघोर शर-वर्षा होने लगी। आकाश तीखे बाणोंसे आच्छादित हो गया, पर अर्जुनकी एक न चली, वे पराजित होने लगे।

भगवान्‌ने कहा, 'अर्जुन ! प्रवीरके प्रभावको देख लो। मेरे सहायता करनेपर भी वह तुम्हें पराजित कर रहा है।' अनवरत बाणवर्षा करते हुए अर्जुनने उत्तर दिया, 'प्रभो ! इसीलिये तो मैंने आपको बुलाया है। अब मैं आपकी कृपासे इसे तुरंत पराजित कर देता हूँ।'

अर्जुनने अपने पैने बाण चलाये, पर प्रवीरने उन्हें बीचमें ही खण्ड-खण्ड कर दिया। अर्जुन जो भी अस्त्र क्रुद्ध होकर चलाते, प्रवीर उसे ही नष्ट कर देता, पर अन्ततः उस दिन अर्जुनने प्रवीरको पराजित किया।

प्रवीरने रोषपूर्वक कहा, 'अर्जुन ! इसे मैं आपकी नहीं अपितु प्रभुकी विजय मानता हूँ। प्रभुके बिना आप मुझे पराजित कर दें तो मैं आपको वीर समझूँ।' अर्जुन बोले, 'मैंने जब भगवान्‌को

बुलाया है, तब उन्हें क्यों छोड़ूँ । तुम्हें युद्ध न करना हो तो वापस चले जाओ ।

अर्जुनकी यह बात सुनते ही भक्त प्रवीरने प्रभुसे कहा, 'स्वामिन् ! आप तो सबके हैं, फिर युद्धभूमिमें यह पक्षपात कैसा ?' इसी क्षण उसने प्रभुकी विश्वमोहिनी मुसकान देखी । फिर क्या था । उन्हें सन्तुष्ट देखकर प्रवीरने अर्जुनके रथसे खींचकर उनको अपने रथपर बैठा लिया । भगवान्‌ने लगाम ले ली । अत्यन्त गर्वके साथ प्रवीरने कहा, 'अर्जुन ! अब जी भर युद्ध कर लें । अब आपको या तो प्राण लेकर भागना पड़ेगा या सदाके लिये यहीं रणभूमिमें शयन करना होगा ।'

प्रवीरको कोई भी उत्तर न देकर अर्जुनने भगवान्‌से कहा, 'भगवन् ! मैं आपके बिना नहीं जी सकता । आप मेरे रथपर आ जाइये । आपको मैंने बुलाया है ।' इसपर भगवान्‌ने अर्जुनके रथपर आकर घोड़ेकी लगाम सँभाल ली ।

उदास होकर प्रवीरने कहा, 'प्रभो ! कम-से-कम एक युद्धमें तो आप मेरे सारथि बन जाते !' फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'आज मैं आपका पौरुष देखूँगा ।'

अर्जुन बड़ी सावधानीसे अपने तीक्ष्ण शरोंकी वर्षा करने लगे, पर प्रवीर साधारण वीर नहीं था । उसके सामने अर्जुन विचलित होने लगे । इसी बीचमें भगवान् बोल उठे, 'मेरी सहायता पाकर भी तुम विजय नहीं प्राप्त कर रहे हो ।' प्रबल आग्नेयास्त्र फेंकते हुए अर्जुनने कहा, 'महाराज ! थोड़ा धैर्य रखिये, मैं इसे अभी परास्त करता हूँ ।'

परंतु वे विफल रहे । अन्य कई दिव्यास्त्रोंके प्रयोगसे प्रवीर

परास्त हुआ, पर उसने अर्जुनको फटकारते हुए कहा, 'दूसरोंके बलपर युद्ध करनेवाले शूर नहीं कहे जाते। भगवान्‌के बिना आप मुझे परास्त कर सकें, ऐसी सामर्थ्यका आपमें लेश भी नहीं है।'

फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! आप हम दोनोंके हैं। आप अब अर्जुनका रथ हाँकना छोड़कर निष्पक्षभावसे हम दोनोंका युद्ध-कौशल देखें, फिर आप समझ लेंगे कि वस्तुतः वीर योद्धा कौन है और आज अर्जुन भी समरका स्वाद चख सकेंगे।'

भगवान् हँसने लगे। भक्तवर प्रवीरने भगवान्‌को सन्तुष्ट जानकर पुनः उनको अर्जुनके रथसे खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे बाँध दिया। फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! अब आप अपनी वीरताका परिचय दीजिये। अब मैं आपको युद्ध करनेका फल चखाता हूँ।' पर अर्जुनने करुण नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर कहा, 'प्रभो! क्या मैंने आपको इसीलिये बुलाया था? कौरवोंकी सभामें जब महाबलशाली योद्धा भी आपको नहीं बाँध सके, तब यहाँ आप कैसे बँध गये हैं? मैं व्याकुल हो रहा हूँ देव! आप शीघ्र आइये, मेरे रथकी बागडोर सँभालिये।' जिनके एक नामसे सारे बन्धन कट जाते हैं, वे ही अचिन्त्यशक्ति भगवान् आज अपने प्रेमी भक्तकी प्रेम-रज्जुसे बँधे हैं! पर दूसरी ओर भी वैसा ही भक्त है। उसकी दीन वाणी भी भगवान्‌को खींच रही है। भगवान् अर्जुनकी दीन वाणी सुनते ही रस्सी तुड़ाकर उसके रथपर आकर बैठ गये और रथ हाँकने लगे। भगवान्‌की आज विचित्र दशा है। वे प्रेमी भक्तोंकी खींचातानीमें प्रेममय होकर आश्चर्यमयी क्रीड़ा कर रहे हैं!

प्रवीरसे रहा नहीं गया। उसने पुनः भगवान्‌से कहा, 'प्रभो

बड़ा आश्चर्य है, कुछ क्षण भी तटस्थ होकर आप दो भक्तोंका युद्ध और वीरत्व तो देखते, पर आपकी जैसी इच्छा !' उसने पुनः अर्जुन-को सम्बोधित कर कहा, 'वीरता नामकी कोई वस्तु आपमें नहीं है । दूसरोंके सहारे वीरोंको पराजित करनेका प्रयत्न तो समरभूमिमें बड़ा ही अशोभन है ।' और उसने रोषमें आकर इतने तीक्ष्ण शरों एवं दिव्यायुधोंकी वर्षा की कि अर्जुन विकल हो उठे और उनकी सारी सेना क्षत-विक्षत होकर छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ भी भगवान्की ही लीला कार्य कर रही थी ।

इसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा, 'जब एक प्रवीरके सम्मुख ही तुम्हारी यह दशा है, तब तुम अन्य योद्धाओं-के सामने क्या कर सकोगे ?' अर्जुनने तुरंत अपनी भागती हुई सेनाको क्षत्रियोंकी वीरगति एवं उनकी मर्यादाका ध्यान दिलाकर युद्धके लिये प्रोत्साहित किया । विशाल वाहिनी पुनः पूरी शक्तिसे प्रवीरकी सेनासे भिड़ गयी । अर्जुन भी अपने बाणोंकी अपूर्व वर्षामें संलग्न हो गये । दोनों पक्ष अपनी विजयके लिये शक्ति-प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार होते-होते अन्तमें आज प्रवीर हार गया और अर्जुनकी विजय हुई ।

किंतु वीर प्रवीरको तनिक भी चिन्ता नहीं थी । उसने पुनः अर्जुनको डाँटा, 'अर्जुन ! आप सच्चे वीरत्वको स्वीकार कीजिये । यदि श्रीकृष्णके बिना आप युद्ध करें तो आपको प्राण-रक्षामें भी कठिनता हो जाय ।' फिर उसने भगवान्से कहा, 'स्वामिन् ! मैं भी आपका भक्त हूँ, पर आप अबतक अर्जुनमें और मुझमें अन्तर समझते हैं ? ऐसा क्यों करते हैं नाथ ! मुझे आपसे बड़ी आशा है ।'

भगवान् हँस पड़े । प्रवीरने उन्हें अपने अनुकूल समझकर तुरंत खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे पुनः कसकर बाँधते हुए कहा, 'प्रभो ! अबकी बार प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीका पक्ष न लेकर निष्पक्षभावसे युद्ध देखूँगा ।' प्रभुने हँसते हुए मौन स्वीकृति दे दी ।

फिर क्या था, प्रवीर झटसे कूदकर अपने रथपर जा चढ़ा और शर-सन्धान करते हुए बोला, 'पार्थ ! अब आप प्राण बचाकर भागने या यहीं सदाके लिये सो जानेको प्रस्तुत हो जाइये । प्रभु प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं ।' प्रभु बँधे हुए हँस रहे थे । मानो आज उन्हें अपनी इस विवशतामें ही आनन्द मिल रहा है ।

पर अर्जुन प्रभुकी ओर देख रहे थे । उन्होंने कहा, 'देव ! यह क्या लीला कर रहे हैं । मेरे प्राणोंपर आ बनी है । अब मैं अधीर हो गया हूँ । कौरव-युद्धके समय आपने मेरी रक्षाके लिये शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी, पर भक्तके लिये उसे तोड़ दिया । वही आपका प्राणप्रिय अर्जुन मरना चाहता है, इसलिये आज फिर प्रतिज्ञा तोड़िये और शीघ्र आकर मेरी रक्षा कीजिये ।' भगवान् तुरंत अर्जुनके रथपर प्रकट हो गये । वे वैसे ही हँस रहे थे ।

प्रवीरने व्याकुल होकर कहा, 'प्रभो ! यह आपने क्या किया; आपने अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ दी !' भगवान्ने तुरंत कहा, 'मैंने तो कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी ।'

भक्त प्रवीरने प्रणय-रोषसे कहा, 'प्रभो ! आप असत्य बोलेंगे तो संसारकी क्या दशा होगी ? आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं चुपचाप

युद्ध देखूँगा। पर आप पुनः अर्जुनके रथपर आकर बैठ गये।'

भगवान्‌ने कहा, 'जिसने प्रतिज्ञा की थी उससे कहो भैया!' प्रवीरने तालवृक्षकी ओर देखा तो भगवान् वहीं बँधे खड़े थे। उसने एक बार तालवृक्ष और एक बार अर्जुनके रथकी ओर देखा। अब एक ही भगवान्‌के दो रूप हो गये थे। प्रवीरने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! आप महान् धन्य हैं और आपके माता-पिता सभी धन्य हैं, जिनके लिये भगवान्‌को दो रूप धारण करने पड़े।'

फिर प्रवीर तालवृक्षसे बँधे हुए भगवान्‌को देखने लगा। उसके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमसमुद्र प्रकट होकर उमड़ चला। वह अपने-आपको भूल गया। भगवान्‌की नित्य नवनवायमान सुर-मुनि-मनमोहिनी रूपमाधुरीने प्रवीरपर ऐसा विलक्षण जादू किया कि प्रवीरका बाह्य ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। वह उस अलौकिक रूप-सुधा-सागरमें डूब गया।

इसी समय भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, 'पार्थ! तुम अति शीघ्र प्रवीरका मस्तक उतार लो।' अर्जुन बोले, 'प्रभो! प्रवीर युद्ध छोड़-कर आपके ध्यानमें तल्लीन है, ऐसी अवस्थामें इसे मारना धर्मविरुद्ध है।'

भगवान् तुरंत बोल उठे, 'अर्जुन! मेरे भक्त प्रवीरको युद्धमें सम्मुख मार सकनेकी सामर्थ्य किसमें है। यह मेरी इच्छा है कि मेरा भक्त मेरे ध्यानमें निमग्न रहता हुआ ही मेरे परम धाममें पहुँच जाय। मेरी आज्ञा है, तुम इसे मार डालो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।'

अर्जुनने एक अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार दिव्य शर छोड़ा, जिससे प्रवीरका मस्तक कटकर उछला और भगवान्‌के चरणोंमें जा

गिरा। उसमेंसे एक परम ज्योति निकली और वह श्रीभगवान्के मङ्गलमय श्रीविग्रहमें समा गयी। प्रवीरका प्राणान्त होते ही उसकी बची-खुची सेना भाग गयी। माहिष्मतीमें शोक छा गया!

प्रवीरकी मृत्युका समाचार सुनकर उसके पिता विलाप करने लगे और पुत्र-शोकमें रोती हुई परंतु पुत्रकी वीर तथा भक्त-गतिसे गर्विता उसकी माताने कहा, 'बेटा! तुम अर्जुनके बाणसे कटकर प्रभुके धाममें गये और मैं वीर क्षत्रियकुमारकी माता सिद्ध हुई। मेरा जन्म सफल हुआ।'

इसी बीचमें भगवान् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विलाप करती हुई जुन्हादेवीसे कहा, 'आप चिन्ता न करें। यदि कहें तो प्रवीरको पुनः जीवित कर दूँ।' जुन्हादेवीने कहा, 'प्रभो! आपके सम्मुख मृत्यु पाकर पुनः कौन जीवित होना चाहेगा, पर मैं चाहती हूँ कि हम दम्पतिको भी वही गति प्राप्त हो, जो आपने पुत्रको दी है।'

भगवान्ने 'तथास्तु' कहते हुए कहा, 'अब महाराज नीलध्वज अर्जुनको आदरपूर्वक विदा करें तथा युधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर भेंटके साथ उपस्थित हों, वहाँपर पुनः मेरा दर्शन होगा।' और प्रभु अन्तर्धान हो गये।

भगवान्के आदेशानुसार नीलध्वजने अर्जुनको अत्यन्त सत्कारपूर्वक विदा किया और वे भगवान्के भजनमें संलग्न हो गये! पतिव्रता मदनमंजरी भी पतिके साथ सती होकर भगवान्के परमधाममें पहुँच गयी!

नाम-रूप-लीला-धाम

महासर्गके पूर्वमें एक निगुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे । फिर महासर्गके आरम्भमें उन परमात्माकी अभिन्न शक्तिरूपा प्रकृतिमें, जिसे अव्याकृत माया कहते हैं, जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये स्वाभाविक ही क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिससे वह स्वाभाविक ही तीन गुणोंमें विभक्त हो गयी । जिस प्रकार दही मथनेपर वह नवनीत और मट्ठा—इन दो अलग-अलग रूपोंमें परिणत हो जाता है, इसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर वह विद्या और अविद्या—इन दो रूपोंमें हो जाती है । इस तरह उसके तीन रूप हो जाते हैं अर्थात् उसमें उत्पन्न हुई हलचलरूप क्रिया तो रजोगुण है और उससे उत्पन्न होनेवाली विद्या सत्त्वगुण तथा अविद्या तमोगुण है । इन तीन गुणोंसे संयुक्त जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण निराकार है । उसीसे आदि-सृष्टिका विस्तार होता है । सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये वही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपमें प्रकट होते हैं तथा वही सगुण निराकार परमात्मा ही श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण साकार रूपोंमें प्रकट होकर युग-युगमें लीला करते हैं ।

जिस प्रकार आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही पहले रसरूपमें होकर फिर स्थूल जलके रूपमें प्रकट होता है तथा जैसे परमाणुके रूपमें विद्यमान निराकार पृथ्वी ही गन्धरूपमें प्रकट होकर फिर साकार भूमिके रूपमें प्रादुर्भूत होती है, इसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही सगुण निराकार होकर फिर सगुण साकाररूपमें प्रादुर्भूत होते हैं; परंतु जिस तरह जलका वह कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म रसरूप और स्थूल जलरूप—तीनों वस्तुतः जल ही है तथा जिस तरह पृथ्वीका कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म गन्धरूप और स्थूल पृथ्वीरूप—वस्तुतः पृथ्वी ही है, उसी तरह निर्गुण-निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकाररूपमें वस्तुतः वह एक परमात्मा ही है। उपर्युक्त प्रकारसे समग्ररूप परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको समझकर उसकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र अविद्या और जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

इस घोर कलिकालमें परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उसकी भक्ति ही सर्वोत्तम और सुगम उपाय है। जब वे परमात्मा सगुण साकारस्वरूपमें अवतार लेते हैं, तब मूढ़ पुरुष उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि वे मायाके परदेमें छिपे रहते हैं (गीता ७ । २५) । जो पुरुष परमात्माकी शरण होकर उनकी भक्ति करता है, उसके सामनेसे परमात्मा अपनी मायाका परदा हटा लेते हैं, जिससे उस पुरुषको उनके साक्षात् चिन्मय दिव्य सगुण साकार रूपका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी भक्ति करनी चाहिये।

भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये एक बहुत ही सरल और महत्त्वपूर्ण साधन यह है। भगवत्-सम्बन्धी पदार्थोंमें चार मुख्य हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य—इन चारोंको विशेषरूपसे समझना चाहिये तथा गुणका भी प्रभाव, तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये एवं प्रभावका भी तत्त्व, रहस्य समझना चाहिये और इस मानव-देहमें प्राप्त कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार द्वारोंसे उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। यद्यपि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि प्रायः सभी द्वारोंसे परमात्माकी उपासना हो सकती है; परंतु उनमें ये चार द्वार मुख्य हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्-शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे मनन करना और तदनन्तर वाणीके द्वारा कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इनका सेवन करनेसे सेवन करनेवाले मनुष्यको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द, असीम समता और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अब इन उपर्युक्त पदार्थोंको भलीभाँति समझनेके लिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है।

भगवन्नामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम आदि जो परमात्माके दिव्य गुण हैं, वे ही सब नामके अंदर भी हैं; क्योंकि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकमें नामीके दिव्य गुण स्वाभाविक ही आ

जाते हैं। नामकी गुण-गरिमा क्या कही जाय! श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा बतलाते हुए कहा है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

भगवन्नामका प्रभाव

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे पूर्वकृत समस्त सञ्चित पापोंका; अज्ञानमूलक अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका; झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥

तथा—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

किसी कविने कहा है—

जब ही नाम हिरदै धर्‌यौ भयो पापको नास।
मानौ चिनगी अग्निकी परी पुराने घास॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६।२।१८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार उत्तमश्लोक श्रीहरिके नामका कीर्तन, जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।

(शिक्षाष्टक)

'भगवान्‌ने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी तथा उसके स्मरणमें कालका नियम नहीं बनाया अर्थात् भगवान्‌के नामका स्मरण मनुष्य सभी समय कर सकता है, इसमें कोई रुकावट नहीं है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवन्नामका तत्त्व

नाम नामीसे अभिन्न है अर्थात् नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१० । २५) अर्थात् 'अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ तो स्वयं मैं ही हूँ।' वस्तुतः परमात्मा ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका स्वरूप, परमात्मविषयक ज्ञान और परमात्माका नाम—ये एक ही वस्तु हैं; इसलिये नाम-जप करनेसे नामीकी स्मृति स्वतः ही हो जाती है। इस प्रकार समझना परमात्माके नामका तत्त्व समझना है।

कठोपनिषद्‌में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१ । २ । १६)

'यह ॐकार अक्षर ही सगुण ब्रह्म है, यह अक्षर ही निर्गुण परब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको ही जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिल जाती है।'

भगवन्नामका रहस्य

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक फल देनेवाला है। वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है।

श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं ।
भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥

जो नामके रहस्यको समझता है, वह पुरुष नामकी ओटमें कभी पाप या दम्भ नहीं करता। भाव यह है कि नामसे पापोंका नाश होता ही है—ऐसा समझकर पापाचरण करना तथा लोगोंको दिखलानेके लिये नाम-जपका बहाना करना और भीतर-ही-भीतर छिपकर पाप करना—नामकी ओटमें पाप और दम्भ करना है। नामके रहस्यको जाननेवाला पुरुष इन दोषोंसे रहित होता है।

भगवत्स्वरूपका गुण

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति और लावण्य बहुत ही मधुर, कोमल, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, चमकीला, अलौकिक, सुन्दर और अद्भुत है तथा उनमें निरतिशय, असीम और अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, सौहार्द, सरलता, मधुरता, समता, उदारता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सत्यता, निरभिमानिता, निरहंकारिता, निर्वैरता, निर्भयता, पवित्रता, भक्तवत्सलता, सौम्यभाव आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। यह भगवान्‌के गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवत्स्वरूपका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य, धर्म,

यश, श्री, विभूति, महिमा, कान्ति, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्व-नियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता तथा सम्भवको असम्भव और असम्भवको भी सम्भव कर देनेकी सामर्थ्य आदि—ये अपरिमित प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानसे समस्त दुर्गुण-दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण, सदाचारसम्पन्न होकर, जन्म-मृत्युरूप संसारसमुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

भगवत्स्वरूपका तत्त्व

जिस प्रकार आकाशमें परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँदें, ओले और बर्फ आदि सब तत्त्वतः एक जल ही है, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, सब तत्त्वतः एक परमात्मा ही है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
(११ । १३ । २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे पृथक् और कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चयपूर्वक समझो।'

भगवत्स्वरूपका रहस्य

वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित सगुण-

निर्गुणरूप परमात्मा ही दिव्य अवतार धारण करके स्वयं प्रकट होते हैं तथा उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदि इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका रहस्य है।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

तथा अर्जुन कहते हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(गीता १०। १४-१५)

'हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान्के स्वरूपका रहस्य प्रकट करते हुए कहा है—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

तथा जो पुरुष परमात्माके स्वरूपका स्मरण करता है, वह उनको अत्यन्त प्रिय है । यह भी रहस्यकी बात है ।

भगवान्‌की लीलाके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य

रामावतारकी कथा है । जिस समय विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आये हैं, उस समय भगवान्‌ने सुग्रीवसे पूछा कि इसमें तुम्हारी क्या राय है । सुग्रीवने कहा—'भगवन् ! राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती, न मालूम भेद लेने आया है या किस कारणसे आया है । राक्षस मौका पड़नेपर धोखा देकर घात कर सकता है । इसलिये मेरी रायमें तो इसे कैद कर लेना उचित है ।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'मित्र ! तुमने जो बात कही सो तो बहुत ही अच्छी बात है; किंतु दुष्टहृदय पुरुष मेरे सम्मुख नहीं आ सकता और यदि यह हमारा भेद लेनेके लिये आया है तो भी कोई भय नहीं है; क्योंकि जगत्‌में जितने भी राक्षस हैं, उन्हें लक्ष्मण क्षणभरमें मार सकता है तथा यदि यह भयसे त्रस्त होकर शरणमें आया है तो मेरा यह नियम है कि—

मम पन सरनागत भय हारी ।

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(६ । १८ । ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका ही हूँ'—इस प्रकार मेरी शरण-प्राप्तिके लिये मुझसे एक बार भी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंसे अभय दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इसपर हनुमान्‌जी आदि विभीषणको भगवान्‌के निकट लिवा लाये। आते ही विभीषणने भगवान्‌के चरणप्रान्तमें गिरकर भगवान्‌की शरण ग्रहण की। भगवान्‌ने उनको अपने हृदयसे लगा लिया और उसी समय समुद्रका जल मँगवाकर उनको लङ्काके लिये राजतिलक कर दिया।

यहाँ विभीषणके विषयमें सुग्रीवसे सम्मति पूछना और उनके कथनको उचित बतलाना—यह भगवान्‌की नीति और प्रेम है। शरणमें आये हुएका त्याग न करना—यह शरणागतवत्सलता है और विभीषणको लङ्काका राजतिलक कर देना—यह नीति और उदारता है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

कोई भी दुष्टहृदय मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख नहीं आ सकता—यह भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है। तथा लक्ष्मण क्षणभर-में समस्त निशाचरोंको मार सकता है—यह लक्ष्मणका प्रभाव भी भगवान्‌से ही होनेके कारण भगवान्‌का ही प्रभाव है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए हैं। इस प्रकार भगवान्‌की भगवत्ताको समझना ही भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान् विभीषणको अभय दान देना चाहते थे। पर भगवान्-ने इसे गुप्त रखकर सुग्रीव आदिसे उसके लिये राय पूछी और

उनका मान रखते हुए ही अपने उद्देश्यके अनुकूल कार्य किया । तथा भगवान्के सामने राक्षसोंकी माया, छल-कपट नहीं चलता—यह बात सुग्रीवादि नहीं जानते थे, इसीसे उनके सामने अपने प्रभावका रहस्योद्घाटन कर दिया कि—

जो पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥

भगवान्ने इसमें संकेतसे अपने छिपे हुए प्रभावको प्रकट कर दिया कि दुष्टहृदय मेरे सम्मुख नहीं आ सकता; जो सम्मुख आता है, वह समस्त दूषणोंसे रहित होता है । इस प्रकार भगवान्के द्वारा किये हुए रहस्योद्घाटनको समझ लेना ही भगवान्की लीलाका रहस्य समझना है ।

कृष्णावतारकी कथा है । एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं—ग्वाल-बालोंके साथ भोजन करते-करते बाललीला करने लगे । जब सब अपने-अपने छींके खोलकर भोजन करने लगे, तब भगवान् सबके बीचमें बैठ गये और चारों ओर सब ग्वाल-बाल मण्डलाकार पंक्ति बनाकर बैठ गये तथा आपसमें अपने-अपने भोजनको बढ़िया बताते हुए एक-दूसरेको हँसाने लगे । उस समय भगवान् अपने हाथमें ग्रास लिये उनको इस प्रकार हँसा रहे थे कि वे सब-के-सब उनके इस विनोदमें तन्मय हो गये । उन्हें बछड़ोंका भी ध्यान न रहा और बछड़े जंगलमें बहुत दूर निकल गये । जब बछड़ोंका ध्यान आया, तब सब भयभीत हो गये । भगवान्ने कहा—'भय मत करो । मैं उन्हें लौटा लाता हूँ ।' ऐसा कहकर भगवान् उनकी खोज करने चले । ब्रह्माजी इस बाल-लीलाको देखकर मोहित हो गये । उन्होंने पहले

तो बछड़ोंको और पीछे ग्वाल बालोंको भी छिपा दिया। जब भगवान्‌को बछड़े नहीं मिले और वापस आनेपर जब उन्होंने गोपबालकोंको भी नहीं देखा, तब वे झट जान गये कि यह ब्रह्माजीकी करतूत है। तब ग्वालबालों और बछड़ोंकी माताओंको आनन्दित करने तथा ब्रह्माजीका मोहनाश करनेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जितने बछड़े और बालक थे, जैसे उनके शरीर-हाथ-पैर थे; जैसी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे; जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं; और जैसी उनकी क्रीडाएँ थीं; ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें भगवान् प्रकट हो गये। उस समय भगवान्‌ने 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी। *

श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा; फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वालबालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं; तब उन्हें संदेह हुआ और उन्होंने पहचाननेकी दृष्टिसे सबकी ओर देखा। उस समय उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षक गोपबालक, उनकी

* यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

सम्पूर्ण सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये।

इस लीलामें ब्रह्माजीके कालमानसे केवल एक त्रुटि समय बीता था। जब उन्होंने देखा, तब वे यह नहीं समझ सके कि इन दोनोंमें कौन-से ग्वालबाल और बछड़े असली हैं तथा कौन-से पीछे-से बनाये हुए हैं। वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें वे सब ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी देने लगे। वे भगवान्‌की भगवत्ताको जान गये और तुरंत भगवान्‌के चरणोंमें पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े तथा गद्‌गद वाणीसे स्तुति करते हुए क्षमा माँगने लगे। तब भगवान्‌ने अपनी माया समेट ली।

बालकोंके साथ इस प्रकार प्रेमभोज करते हुए बाल-क्रीड़ा करना प्रेमकी बात है। भगवान्‌ने स्वयं ग्वालबाल और बछड़े बनकर उनकी माताओं और गायोंके साथ मातृभावसे बर्ताव किया, इसमें उनकी दया और प्रेम भरा है। ब्रह्माजीको लीलाका चमत्कार दिखलाकर उनके मोहका नाश करना—यह भी भगवान्‌की दया है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌ने अपनी अद्भुत दिव्य शक्तिसे अनेक रूप धारण कर लिये—यह उनकी लीलामें प्रभावका दिग्दर्शन है।

ग्वालबाल, बछड़े, उनकी छड़ी, बाँसुरी आदि सब वस्तुतः भगवान् ही बने थे; भगवान्‌ने ही अनेक रूप बनाकर लीला की—यह भगवान्‌की लीलामें तत्त्वका दिग्दर्शन है।

माताओं और गायोंकी जो भगवान्‌में वात्सल्य-भावकी इच्छा

थी, उसकी इस प्रकार गुप्तरूपमें पूर्ति करना—यह लीलामें रहस्यका दिग्दर्शन है ।

भगवान्‌की प्रत्येक चेष्टा पद-पदपर मङ्गलमय गुणोंसे ओतप्रोत है । इसलिये भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें क्षमा, दया, प्रेम, समता आदि उनके अचिन्त्य अनन्त गुणोंको देखना ही लीलामें गुणोंका देखना है ।

भगवान्‌की लीलाओंमें इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उन्हें आदर्श मानकर उनका दर्शन, चिन्तन, स्मरण और अनुकरण करनेसे अर्थात् भगवान्‌के व्यवहारके अनुकूल अपना आचरण बनानेसे अन्तःकरण पवित्र होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है । यह समझना भगवान्‌की लीलाका प्रभाव समझना है ।

जिस प्रकार गोपबालक, बछड़े, उनकी लकुटी, सींग, बाँसुरी और उनकी क्रीड़ा आदि सब भगवान् ही थे, उसी प्रकार विश्वमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि जो कुछ भी है, सब तत्त्वतः भगवान् ही हैं—यह समझना लीलाका तत्त्व समझना है ।

भगवान्‌की समस्त चेष्टाएँ स्वार्थ और अहंकाररहित होनेके कारण परम पवित्र और कल्याणकारिणी होती हैं अर्थात् भगवान् किसीको भी निमित्त बनाकर जो भी चेष्टा करते हैं, वह उसके कल्याणके लिये ही करते हैं; एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अत्यन्त विशुद्ध होती हैं । यह समझना लीलाका रहस्य समझना है ।

भगवद्धामका स्वरूप

धामसे उस परम धामको समझना चाहिये जो भगवान्‌का

चिन्मय नित्य दिव्यलोक है; जो सर्वोपरि, सबसे श्रेष्ठ, नित्य सत्य है; जिसको ब्रह्मके उपासक ब्रह्मलोक, वेदवेत्ता सत्यलोक, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, श्रीरामके उपासक साकेतलोक, श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठलोक, श्रीशिवके उपासक शिवलोक मानते हैं— इस प्रकार जिसको विभिन्न उपासकगण अनेक नामोंसे कहते हैं तथा जिसको वे सभी सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और परम दिव्य मानते हैं; परंतु वहाँ बुद्धि, मन, वाणीकी पहुँच नहीं है, उसके विषयमें जो कुछ कहा जाता है, उससे वह अत्यन्त ही विलक्षण है।

भगवद्धामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, न्याय आदि जो भगवान्‌के नित्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं। क्योंकि भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये उस धाममें निवास करनेवाले भक्तोंमें भी वे गुण स्वाभाविक रहते हैं। जिन प्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं, वे उस परम धामको जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे उपर्युक्त गुण उनमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं और जो साधक भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्‌के धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही आ जाते हैं, किंतु यदि किसीमें कुछ कमी होती है तो उस गुणकी पूर्ति वहाँ प्रवेश होनेके साथ उसी क्षण हो जाती है। यह सब भगवद्धामके गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका प्रभाव

भगवद्धामका ऐसा प्रभाव है कि जो उस परम धाममें पहुँच जाता है, वह लौटकर नहीं आता। यदि संसारके कल्याणके लिये

भगवान्‌के साथ भगवान्‌का परिकर होकर या भगवान्‌की आज्ञासे अधिकार लेकर कारक पुरुषके रूपमें आता है तो उसके जन्म, कर्म और शरीर निर्दोष, विशुद्ध और दिव्य होनेके कारण उसका आना भी न आनेके समान ही है। क्योंकि वह संसारकी माया और मायाके कार्यसे कभी किसी प्रकार लिप्त नहीं होता तथा उसका देह अनामय होता है। उस लोकमें जो रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित और परम पवित्र होकर भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और सम्पूर्ण सद्गुणोंसे युक्त हो जाते हैं एवं उनमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनके अतिरिक्त भगवान्‌के अन्य सभी प्रभाव और ऐश्वर्य आदि आ जाते हैं। उस धाममें जितने भी पदार्थ होते हैं, वे सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक होते हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका तत्त्व

भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। इसलिये धाम साक्षात् भगवान्‌का ही स्वरूप है। निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सगुण निराकारके रूपमें होकर फिर परम धामके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये धाम परमात्माका स्वरूप होनेके कारण उनसे अभिन्न है। यह जानना ही धामका तत्त्व जानना है।

भगवद्धामका रहस्य

भगवान् और भगवान्‌के धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा लीलाकी गोपनीय दिव्य रहस्यमयी बातें जो यहाँ समझमें नहीं

आतीं, वे वहाँ उस परमधाममें जानेपर ज्यों-की-त्यों यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाती हैं। अर्थात् वहाँ जाते ही उसे भगवान् और भगवान्का धाम वस्तुतः क्या चीज है—इसका तात्त्विक रहस्य एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है। वहाँ न जानी हुई जानी जाती है, न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है, न सुनी हुई सुनी जाती है, न समझी हुई समझी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके विषयकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उससे वह अत्यन्त निराला—विलक्षण है; क्योंकि लौकिक बुद्धि, मन, वाणीकी वहाँ पहुँच ही नहीं है। वहाँ जानेपर इन सबका सम्पूर्ण भेद—रहस्य खुल जाता है और फिर इस विषयकी कोई भी शङ्का नहीं रह जाती। यह समझना धामका रहस्य समझना है।

इस लोकमें भगवान्ने जहाँ अवतार लेकर लीला की है, ऐसे अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि भी भगवान्के परम धाम माने गये हैं; क्योंकि इन धामोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वास करनेसे वास करनेवालेमें भगवान्के गुण आ जाते हैं तथा उनका तत्त्व-रहस्य समझनेसे मनुष्योंमें श्रद्धा-प्रेम और भक्तिका आविर्भाव हो जाता है एवं उन स्थानोंमें मरनेपर उनके प्रभावसे मनुष्य सब पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

अब भगवान्के गुणोंका प्रभाव, तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावका तत्त्व-रहस्य किस प्रकार समझना चाहिये, यह बतलाया जाता है।

भगवद्गुणोंका प्रभाव

भगवान्के क्षमा, दया, प्रेम आदि दिव्य गुणोंके श्रवण, मनन, चिन्तन, वर्णन, गायन आदि करनेसे मनुष्यमें उन सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव हो जाता है तथा वह समस्त दोषोंसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह गुणोंका प्रभाव है।

भगवद्गुणोंका तत्त्व

भगवान्के सम्पूर्ण गुण दिव्य और चिन्मय हैं तथा भगवान्से अभिन्न हैं। वहाँ गुण और गुणीका भेद नहीं है। यह जानना ही भगवान्के गुणोंका तत्त्व जानना है।

भगवद्गुणोंका रहस्य

भगवान्के दया, प्रेम आदि गुणोंमें यह रहस्य देखना चाहिये कि भगवान्के दया और प्रेम आदि गुण हेतुरहित और विशुद्ध होते हैं; उनमें कायरता, ममता, कामना, लज्जा, स्वार्थ और भय आदि दोष नहीं होते। इसी प्रकार उनके सभी गुण हेतुरहित, अनन्त, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। गुणोंके इस रहस्यको जो समझ जाता है, वह फिर उन परमात्माकी ही शरणमें चला जाता है और उन्हींसे अनन्य प्रेम करता है तथा उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विभीषण भी भगवान्की दया और प्रेम आदिके यशको सुनकर उनका रहस्य समझकर ही उनकी शरणमें गये थे। उन्होंने स्वयं यह बात कही है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

एवं उपर्युक्त गुणोंके रहस्यको समझनेवाला फिर स्वयं वैसा ही बन जाता है। भगवान्ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है कि उनमें दया, प्रेम, क्षमा, निर्ममता, निरहंकारता, समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं (१२ । १३)।

संसारमे यावन्मात्र प्राणियोंमें जितने भी गुण दीख रहे हैं, वे उन गुणसागर परमात्माके दिव्य गुणोंके एक अंशकी ही झलक है। इस प्रकार समझना गुणोंके रहस्यको समझना है।

भगवत्प्रभावका तत्त्व

जो भी भगवान्का बल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि प्रभाव है, वह भगवान्से अभिन्न है। जैसे अग्निका प्रकाशन और दहन आदि प्रभाव अग्निसे अभिन्न है, इसी प्रकार भगवान्का प्रभाव भगवान्से अभिन्न है। यह जानना ही भगवान्के प्रभावका तत्त्व जानना है।

भगवत्प्रभावका रहस्य

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें जो तेज है तथा संसारमें जो कुछ भी विभूतियुक्त, तेजयुक्त, कान्तियुक्त पदार्थ है, वह सब-का-सब भगवान्के प्रभावके एक अंशका प्राकट्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

> यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
> यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
> (१५ । १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है

तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान।'

तथा—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

अब ऊपर बताये हुए पदार्थोंके सेवनकी विधिपर विचार करते हैं।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा*, प्रेम† और निष्कामभाव‡-पूर्वक भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा श्रवण करना और श्रवण करके

* ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। श्रद्धेयमें जब श्रद्धा हो जाती है, तब वह उसके संकेत, मन और आज्ञाके अनुसार ही चलता है। उसीमें उसे महान् शान्ति तथा आनन्द मिलते हैं एवं उनका पालन न करना तो उसके द्वारा बन ही नहीं सकता, किंतु यदि किसी कारणवश आज्ञा पालन न हो तो उसके लिये वह मृत्युके तुल्य है।

† अपने प्रेमास्पदकी कभी विस्मृति न हो और उसके वियोगमें जलके वियोगमें मछलीकी तरह तड़पने लग जाना 'प्रेम' है।

‡ अहंता, ममता, आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर किसी भी प्रकारकी तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, कामना आदिका न रहना 'निष्कामभाव' है।

वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लताका होना—यह कानोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है। इसलिये ज्ञानी भक्तोंके पास जाकर, उनको साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा-शुश्रूषा और निष्कपटभावसे प्रश्न करके उनसे भगवान्‌की उपर्युक्त बातें सुननी चाहिये।

नेत्रोंके द्वारा गीता, रामायण, भागवत आदि सत्-शास्त्रोंमें लिखी हुई भगवान्‌की नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंका अर्थ, भाव और विवेचनपूर्वक श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे स्वाध्याय करना; सारे संसारको भगवत्स्वरूप देखना; भगवान्‌के स्वरूप, चित्र, मूर्ति और लीला आदिको चकोरकी भाँति एकटक देखना तथा माता-पिता, स्वामी-सुहृद्, आचार्य, अतिथि, ज्ञानी, महात्मा, भगवद्भक्त आदि पुरुषोंको भगवत्स्वरूप समझकर उनके दर्शन करना एवं ऐसा करते हुए रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह नेत्रोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

सुनी, पढ़ी और समझी हुई भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनपर बैठकर श्रद्धा-प्रेम और निष्काम भावपूर्वक विवेक-वैराग्ययुक्त* चित्तसे मनन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा मनसे भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना,

* सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक होनेपर मनुष्य प्रत्येक अवस्था और वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा

पूजा-नमस्कार आदि करना; चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते सभी काम करते हुए सब समय उपर्युक्त बातोंका मनन करना; सोनेके समय उपर्युक्त भावोंसे भावित होकर उनका मनन करते रहना और मनसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझते हुए भगवच्चिन्तन करना तथा इस प्रकार करते हुए देहकी भी सुधि भुलाकर तन्मय हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता तथा मुग्धता हो जाना—यह मनके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व-रहस्यकी अमृतमयी बातोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे स्वयं मधुर वाणीसे कीर्तन करना; कथा-व्याख्यानादिद्वारा दूसरोंको सुनाना; दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना और सबमें भगवद्भाव रखकर सबके साथ हितपूर्ण, सत्य, प्रिय, मधुर, कोमल वाणीसे वार्तालाप करना एवं इस प्रकार करते-करते रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह वाणीके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

और अनात्माका विश्लेषण करते हुए परमात्माके तत्त्वका बार-बार मनन करता है।

वैराग्यकी व्याख्या महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(१।१५)

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर साधकको अपने इष्टदेवका, जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है, उसी रूपमें साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है; उसे भगवान्‌के सिवा, अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्‌को ही एकटक देखने लगता है; उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती तथा भगवान्‌के साक्षात् दर्शन, स्पर्श और वार्तालाप आदि करनेसे उसके रोमाञ्च होने लगते हैं; कण्ठावरोध हो जाता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं, और वाणी गद्‌गद हो जाती है। उसके आनन्दका पारावार नहीं रहता। वह परमानन्दमें निमग्न हो जाता है।* तथा जहाँ उसके मन और नेत्र जाते हैं, वहीं उसे भगवान् दीखते हैं। भगवान् उसके मन और आँखोंसे कभी ओझल नहीं होते।† और इस प्रकार सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण उसमें

* जब श्रीअक्रूरजी कंसकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको लेनेके लिये गोकुल गये, उस समय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी जो दशा हुई उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं—

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाञ्चिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप ॥
(१० । ३८ । ३५)

'हे राजन्! भगवद्दर्शनके आह्लादसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और गला भर आनेके कारण वे अपना परिचय भी न दे सके।'

† भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

अद्भुत समता आ जाती है। समस्त पदार्थ, भाव, घटना, क्रिया और परिस्थितिमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें उसकी विलक्षण समता हो जाती है।* वह सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको यथार्थरूपसे तत्त्वतः जान जाता है। फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान और पापोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। वह हर समय परमात्मामें ही तल्लीन रहता है। उसकी सारी चेष्टा परमात्मामें ही होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

* भगवान्‌ने भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मानापमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है। जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ।'

ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप करनेसे मनुष्य परम पवित्र बन जाता है । भागवतमें राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीके प्रति अपने श्रद्धामय उद्गार प्रकट करते हुए कहा है—

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥
सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥
(१ । १९ । ३३-३४)

'भगवन् ! जिनके स्मरणमात्रसे तत्काल ही मनुष्योंके घर पवित्र हो जाते हैं, उन्हीं आपके दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है ? हे महायोगिन् ! आपकी सन्निधिसे पुरुषोंके भारी-से-भारी पाप भी इस प्रकार तुरंत नष्ट हो जाते हैं जैसे विष्णुभगवान्‌के सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते ।'

ऐसे महापुरुष जहाँ विचरते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है और वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है । श्रीनारदजीने कहा है—

निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । (नारदभक्तिसूत्र ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको सुतीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं ।' अर्थात् वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी और उज्ज्वल बन जाता है । वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है और वे जिस शास्त्रको महत्त्व देकर अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है ।

तथा—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

(स्कन्द० मा० कौ० ख० ५५ । १४०)

'जिसका चित्त इस अपार ज्ञानस्वरूप सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है ।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्के उपर्युक्त नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका कान, नेत्र, मन और वाणीद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर सेवन करे ।

दीपावलीपर चेतावनी

दीपावली आ गयी है। इस अवसरपर हमलोग उत्सव मनाया करते हैं तथा श्रीलक्ष्मीनारायणजीका पूजन किया करते हैं। हमलोगोंके लिये यह एक बड़ा ही शुभ पर्व है; इसलिये शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे बड़े ही आनन्द और उल्लासके साथ पूजनादि कृत्य सम्पादन करते हुए इस महोत्सवको मनाना चाहिये। परंतु यह महोत्सव पूर्णतया तो तभी सफल और सिद्ध हो सकता है, जब कि हम अपने परमावश्यक आत्मकल्याणके महत् कार्यको सिद्ध कर लें। प्रतिवर्ष दीपावली आती है और हमारी सीमित आयुमेंसे एक वर्ष निकल जाता है। इसी तरह एक-एक करके हमारे जीवनके बहुत-से वर्ष बीत चुके हैं और कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आगामी दीपावलीतक हम जीवित रहेंगे या नहीं। अतः इसी वर्षकी दीपावलीसे हमें बुद्धिमानीके साथ लाभ उठाना चाहिये। वह लाभ यही है कि जिस कामके लिये हमें यह मानव-देह प्राप्त हुआ है, उसे अतिशीघ्र ही सिद्ध कर लें। दीपावलीकी ज्योति हमें यह चेतावनी दे रही है कि जिस प्रकार बाहर दीपपंक्तिकी ज्योति फैल रही है, इसी प्रकार अन्तः-करणमें ज्ञानरूपी ज्योतिकी आवश्यकता है। जैसे बाहरकी इस ज्योतिसे बाह्य अन्धकार दूर होता है, ऐसे ही अन्तःकरणकी ज्योतिसे आन्त-रिक अज्ञान नष्ट होकर परमात्माका ज्ञान हो जाता है। अतः हृदयस्थ अज्ञानके नाशके लिये भीतरकी ज्योति जगानी चाहिये। असलमें तो बाहर और भीतर दोनों ओरको प्रकाशित करनेवाली ऐसी ज्योति चाहिये—जो निर्मल हो, जलानेवाली न हो, बुझनेवाली न हो, नित्य

प्रकाशरूप हो और वस्तुका असली स्वरूप दिखला दे। ऐसी ज्योति है—'भक्तिपूर्वक भगवान्‌का नित्य स्मरण'।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

हमें अपनी अयोग्यता तथा दुर्बलताको देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये। इस कार्यमें दयामय भगवान् हमें पूर्ण सहायता देनेको तैयार हैं। वे हमें आश्वासन दे रहे हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

बस, हमें तो केवल भगवान्‌के इस अनुग्रहको प्राप्त करना है। इसे प्राप्त करनेका सर्वोत्तम और सबसे सरल उपाय है—भगवान्‌की अनन्य भक्ति; जिसका उल्लेख भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं।' इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने परम बुद्धिमान् अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अपनी प्राप्तिके लिये भक्तिरूप परम साधनके सरलतम उपायोंका दिग्दर्शन कराया है। इनका आशय यह है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमास्पद, परम सुहृद् और परम आत्मीय समझकर अपने चित्तको अनन्यभावसे उन्हींमें लगा देते हैं; भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें उनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीय बुद्धि नहीं रहती; वे सदा-सर्वदा भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम और गुण-प्रभावका चिन्तन करते रहते हैं—शास्त्रविधिके अनुसार समस्त कर्म करते हुए, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते—सभी समय व्यवहारकालमें और एकान्त साधनकालमें भी कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते; उनका जीवन भगवदर्पित होता है और इसलिये उनकी इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के लिये ही होती हैं, उनको क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है।

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

वे भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; उनका खाने-पीने,

चलने-फिरने, सोने-जागने आदि किसी भी क्रियामें अपना कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, वे जो कुछ भी करते हैं, सब भगवान्‌के लिये ही। वे भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंके बीचमें परस्पर भगवान्‌का बोध करानेके उद्देश्यसे अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीला-माहात्म्यको समझते-समझाते हुए श्रद्धा-प्रीतिपूर्वक भगवद्विषयका ही कथन करते रहते हैं; एवं इस प्रकार प्रत्येक क्रियामें निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करके नित्य सन्तुष्ट रहते हैं; उन्हें भगवद्विषयकी बातोंके श्रवण, मनन, कीर्तन और पठन-पाठनसे ही परम शान्ति, आनन्द और सन्तोष प्राप्त होता है, सांसारिक वस्तुओंसे उनके आनन्द और सन्तोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता; और वे भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने समीप समझकर निरन्तर प्रीतिपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीड़ा करते हुए उन्हींमें निरन्तर रमण करते रहते हैं। वे भक्त विषयभोगों-की कामनाके लिये भगवान्‌को नहीं भजते, अपितु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमपूर्वक ही निरन्तर भजन करते हैं, ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान् वह बुद्धियोग प्रदान करते हैं—उनके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, गुण और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति

प्रदान कर देते हैं, जिससे वे भगवान्‌को प्रत्यक्ष करके सहज ही उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार भगवत्कृपासे उन प्रेमी भक्तोंके हृदयके अन्धकारका सर्वथा नाश होकर उसमें सदाके लिये ज्ञानका प्रकाश छा जाता है और वे भगवान्‌की इस सहायतासे भगवान्‌को प्राप्त करके सफलजीवन हो जाते हैं।

हमें भी भगवान्‌की इस अनवरत बरसनेवाली अपार अनन्त असीम कृपाकी ओर ध्यान देकर उससे वास्तविक लाभ उठाते हुए अपने जीवनको कृतार्थ करना चाहिये। हमें अपने अबतकके जीवनपर दृष्टि डालनी चाहिये। कितने बड़े शोकका विषय है कि हमारी इतनी आयु व्यर्थ प्रमादमें चली गयी। जिस महत्त्वपूर्ण कामके लिये हम मानव-शरीरमें आये थे, उसे तो सर्वथा भूल ही गये। इस प्रकार सुअवसर पाकर भी यदि हम नहीं चेतेंगे तो हमारे लिये बहुत ही हानि है। श्रुति भगवती हमें चेता रही हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २। ५)

'यदि इस मनुष्य-जन्ममें ही भगवान्‌को जान लिया तब तो अच्छी बात है, और यदि इस जन्ममें नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। अतः धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वान्तर्यामी परमात्माको पहचान लेते हैं, जिससे इस लोकसे प्रयाण करनेपर वे अमृत-स्वरूप हो जाते हैं अर्थात् उस अमृतमय परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।' नचिकेताको उपदेश देते हुए यमराज कहते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठ० १ । ३ । १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उस ज्ञानको प्राप्त करो । क्योंकि तत्त्वज्ञ पुरुष उस मार्गको छुरेकी तीक्ष्ण और दुस्तर धारके समान दुर्गम बतलाते हैं ।' इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, वृद्धावस्था नहीं आयी है, शरीर रोगाक्रान्त होकर जर्जर नहीं हो गया है, उसके पहले-पहले ही आत्मकल्याणका काम कर लेना चाहिये। नहीं तो पीछे अत्यन्त पश्चात्ताप करनेपर भी कोई काम सिद्ध नहीं होगा।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

अतः पहले ही सावधान हो जाना चाहिये । इन ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, भोग-विलासके पदार्थोंमें फँसकर इनके सेवनमें अपनी बहुमूल्य आयुको बिताना तो जीवनको मिट्टीमें मिलाकर नष्ट करना है । इन विषयोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है । हमें भ्रमके कारण दुःख ही सुखके रूपमें भास रहा है । इसलिये कल्याणकामी विवेकी मनुष्यको उचित है कि इन सबको धोखेकी टट्टी समझकर दूरसे ही त्याग दे । गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

(साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख—आदि अनेकों दुःखोंसे मिश्रित होने तथा सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियोंमें विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विषयसुख दुःखरूप ही हैं ।'

यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश इस विषयसुखको सुख भी माने तो विचार करनेपर मालूम हो जायगा कि यह सुख कितना अस्थिर है । देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न होनेके कारण यह सर्वथा क्षणभङ्गुर, विनाशशील और अत्यन्त अल्प ही है । इसीलिये तो बुद्धिमान् नचिकेताने यमराजके अनेक प्रलोभन देनेपर भी उनसे यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

(कठ० १ । १ । २६)

'हे यमराज ! ये समस्त भोग 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकार-

के सन्देहयुक्त एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण करनेवाले हैं । यही क्या, यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । इसलिये ये आपके वाहन और नाच-गान आपके पास ही रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है ।' यह तो इस जीवनकालमें इन भोगोंसे मिलनेवाले सुखकी बात है । मरनेके बाद तो इनमेंसे कोई भी पदार्थ किसी भी हालतमें किञ्चिन्मात्र भी किसीके साथ जा ही नहीं सकता ।

कविने कहा है—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ॥

'जिसके अत्यन्त मनोहारिणी स्त्रियाँ हैं, अनुकूल मित्र हैं, बड़े ही सुयोग्य बन्धु-बान्धव हैं, प्रेमभरी मीठी वाणी बोलनेवाले सेवक-गण हैं तथा जिसके घरमें अनेकों हाथियोंके समूह चिग्घाड़ रहे हैं और तीव्र वेगवाले घोड़े हिनहिना रहे हैं, ऐसे पुरुषकी भी जब आँखें मुँद जाती हैं, तब न तो कोई भी उसका अपना ही रह जाता है और न कोई भी वस्तु उस समय उसके काम ही आ सकती है ।'

इन धन-ऐश्वर्य आदि भोग्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारे साथ नहीं जा सकता, यहीं भस्म हो जाता है । फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य संसारके इन नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और इनके सेवनमें अपनी आयुको नष्ट करेगा । फिर हम देखते हैं कि ये धनैश्वर्य आदि पदार्थ तो इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं । आजका

धनी कल रास्तेका कंगाल हो जाता है । अतः इनके लिये परलोककी तो बात ही सोचना मूर्खता है । ऐसी अवस्थामें इनके संग्रह एवं सेवनमें मानव-जीवनका समय व्यय करना जीवनका भयानक दुरुपयोग ही है । धनको ही लीजिये । इसके उपार्जनमें कितना क्लेश है । झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और लूट-खसोट करके अन्यायसे कमाया हुआ धन परिणाममें इस लोक और परलोकमें तो दुःखरूप है ही । सरकारी कानूनकी रक्षा करते हुए न्याय और धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करनेमें भी कितना भारी परिश्रम है, इसपर भी ध्यान देना चाहिये । फिर, धनके सञ्चय और संरक्षणमें भी महान् क्लेश है तथा उसके वियोगमें तो अत्यन्त कष्ट होता है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥

(११ । २३ । १७)

'धनोपार्जनके साधनमें, उसकी प्राप्तिमें, उसके बढ़नेमें, उसके संरक्षणमें, उसके खर्च हो जानेमें, उसके उपभोग करनेमें और किसी भी प्रकारसे नष्ट हो जानेमें मनुष्योंको महान् परिश्रम, त्रास (भय), चिन्ता और चित्तका भ्रम होता है ।'

जिसमें इस प्रकार दुःख-ही-दुःख भरा है, सुखकी केवल भ्रान्तिमात्र है, ऐसे धनके उपार्जन और सञ्चयको ही अपने जीवनका उद्देश्य मान लेना और इसीमें दिन-रात लगे रहना प्रमादके सिवा और क्या है । मनुष्य यदि गम्भीरतासे विचार करके देखे तो पता

लगेगा कि वर्तमान समयमें तो केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये भी न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना दुःख और परिश्रमसे खाली नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें कौन समझदार आदमी थोड़े-से जीवनके लिये धनसंग्रहार्थ अपने अमूल्य समयको भारी सङ्कटमें डालकर भयङ्कर पाप बटोरेगा और इसके फलस्वरूप अपने इस लोक और परलोकको अशान्ति, दुःख और नारकीय यन्त्रणासे परिपूर्ण करेगा।

यही बात शरीरके पालन-पोषण और भोगोंके उपभोगके विषयमें समझनी चाहिये। कोई भी भोग बिना आरम्भ किये नहीं प्राप्त होता। शरीरके पालन-पोषण अथवा भोगोपभोगके लिये कुछ-न-कुछ आरम्भ करना ही पड़ता है। और कोई भी आरम्भ आयास और पापसे खाली नहीं है; खास करके आजकलके अर्थप्रधान आसुरी युगमें।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

(गीता १८। ४८)

'क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।' इसलिये थोड़े-से जीनेके लिये शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त विशेष विषयोपभोगके लिये भोग्यपदार्थोंका संग्रह करना इस लोक और परलोकसे वञ्चित होकर अपने-आपको भयानक भयमें डालना है।

पूर्ण, यथार्थ और नित्य सुख तो परमात्माकी प्राप्तिमें हैं। उसीमें परम आनन्द और शाश्वती शान्ति है। वह सुख-शान्ति देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण नित्य, असीम, अपार, सर्वोपरि और महान् है। उसकी महिमा कोई नहीं बतला सकता। भगवान् कहते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । २)

'वह सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ।'

जिस परमानन्दस्वरूप परमेश्वरकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य भारी-से-भारी दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी उनसे विचलित नहीं होता ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

जिसे प्राप्त करनेमें कोई विशेष आयास या श्रम भी नहीं है, जो भगवत्कृपासे सहज ही प्राप्त हो सकता है, जिसकी प्राप्तिके साधन भी बड़े ही सुगम हैं और उन साधनोंके करते समय भी अर्थात् परमेश्वरके भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि साधन करनेके कालमें भी सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं; अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह ऐसे परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनाते हुए—एक क्षण भी व्यर्थ न जाय, इसका प्रतिक्षण ध्यान रखते हुए कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे । इस प्रकार दिन-रात भजनमें लगे रहना ही जीवनमें यथार्थ ज्योति जगाना है—नित्य-सुखरूप प्रकाशका विस्तार करना है । यही सच्ची दीवालीका सच्चा आनन्द है ।

साधनकी तीव्रता

जिस प्रकार श्वासकी गति निरन्तर चलती रहती है, उसमें कभी विराम नहीं होता, उसी प्रकार भगवत्प्राप्तिके लिये साधन भी तैलधारावत् सदा-सर्वदा चलते रहना चाहिये । जिस व्यक्तिके द्वारा निरन्तर भजन-ध्यान होता रहता है, उसके कल्याणमें किसी भी प्रकारके सन्देहकी गुंजाइश नहीं है । क्योंकि गीतामें स्वयं भगवान् इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(८ । ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है ।' मनुष्य सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकाल-में भी प्रायः उसीका स्मरण होता है ।

इतना ही नहीं, निरन्तर चिन्तन करनेवाले साधकके लिये तो भगवान् अपनी प्राप्ति बड़ी सहज बताते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस उपर्युक्त श्लोकके पहले दो श्लोकोंमें भगवान् इन्द्रिय, मन और प्राणके निरोधका साधन बतला चुके हैं, उसे बहुत कठिन कहा जा सकता है, उसे योगी ही कर सकते हैं। परन्तु निरन्तर भगवच्चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (८।७) भगवान्ने कहा है।

अवश्य ही इसमें तत्परताकी बड़ी आवश्यकता है। तत्पर होकर करनेपर भी यदि जीवनकालमें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो अन्तकालमें तो निःसन्देह हो ही जाती है।

तन, मन और वचन तीनोंसे साधन होना चाहिये। शरीरसे सेवा, मनसे भगवान्का ध्यान और जिह्वासे भगवन्नामका जप करे। कोई भी कार्य सांसारिक स्वार्थके लिये न करके कर्तव्य समझकर करे। जिस-जिस कालमें भगवत्स्मृति हो, उस-उस समय भगवान्की अत्यन्त कृपा समझे और आनन्दमें गद्गद हो जाय। जिस क्षणमें भगवान्की विस्मृति हो जाय, उसके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप करे कि इस समय यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो न मालूम क्या दुर्दशा होती।

सभी बातोंमें हमें अपना सुधार करना चाहिये। हम मन्दिरमें जायँ तो हमें मूर्तिमें बहुत श्रेष्ठ भाव करना चाहिये। आस-पासकी

सजावटसे भगवद्विग्रहको श्रेष्ठ समझें। बाहरी पूजासे भी मानसिक पूजाका अधिक महत्त्व है। बस, हृदय-आकाशमें या बाह्य आकाशमें मानसिक मूर्तिकी स्थापना करके मानसिक सामग्रीद्वारा उनकी सेवा-पूजा करता रहे। यह कार्य हर समय चलता रहे और इसीमें मस्त रहे। भगवान्‌के दया, क्षमा, शान्ति, समता आदि दिव्य गुणोंको बार-बार याद करे।

भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और चरित्रोंका चिन्तन करे। प्रेमी तो उनके समान कोई है ही नहीं। रही प्रभावकी बात, सो जो-जो भी विभूति, कान्ति और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको भगवान्‌के ही तेजका अंशमात्र समझना चाहिये (गीता १०।४१)। इस प्रकार सभी वस्तुओंमें उनका प्रभाव देख-देखकर उनकी स्तुति, प्रार्थना एवं ध्यान करना चाहिये। इनमें ध्यानका महत्त्व सबसे अधिक है। जब भगवान्‌के समान भी कोई नहीं, तो उनसे श्रेष्ठ तो हो ही कैसे सकता है? इस आशयके भावोंद्वारा उनकी स्तुति करे। प्रार्थनामें यह भाव रक्खे कि आपका मधुर चिन्तन एवं ध्यान निरन्तर होता रहे; सदा आपकी लीलाका दर्शन होता रहे। लीलामें यह बात समझनेकी है कि हम जो रामलीला देखते हैं वह तो बाहरकी लीला है। इसी प्रकार हमें रामचरितमानसके आदिसे अन्ततककी लीलाओंको चुन लेना चाहिये और उनका चिन्तन एवं मनके द्वारा दर्शन करना चाहिये। उन सुन्दर स्थलोंकी चौपाइयोंको कण्ठस्थ कर लें, जिनसे लीला-चिन्तन-दर्शनमें बड़ी सहायता मिले। यह ध्यान करनेका एवं मनको सुगमतापूर्वक

भगवान्‌में लगानेका बड़ा सुन्दर सहज तरीका है। मनुष्यका बहुत-सा समय व्यर्थ चिन्तनमें बीतता रहता है; परन्तु इस साधनमें संलग्न हो जानेपर मनको मनन और चिन्तन करनेका बड़ा सुन्दर कार्य मिल जाता है। यही इस साधनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस प्रकारके कार्योंमें मनको खूब व्यस्त रक्खे। अन्य चिन्तनके लिये उसे तनिक भी अवकाश न दे। कभी रामायण, कभी गीता तो कभी भागवत—इनका मनन करता ही रहे। दिनभरके अन्य व्यर्थ कार्योंसे मुँह मोड़कर ऐसे ही कामोंमें लगे रहना चाहिये।

साधनमें ढिलाई लानेवाली, साधनकी चाल तेज न होने देनेवाली बड़ी बाधा है विषयोंकी आसक्ति। अतः सावधान होकर संसारके पदार्थोंमें जो आसक्ति है उसे सर्वथा हटा देना चाहिये। संसार और उसके पदार्थोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं दुःखदायी समझकर उनसे मनको हटाकर वैराग्य करे। मनको वश करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं। कोई कहे कि सब लोग इस प्रकारके साधन नहीं करना चाहते, सो दूसरोंकी ओर न देखकर हमें तो करना ही चाहिये।

साधकको एक बात और जान लेनी चाहिये कि मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही पतनकी ओर प्रवाहित होती रहती है। इसीलिये कोई आसुरी-सम्पदाका प्रचार करना चाहे तो तुरंत होने लगता है; परन्तु दैवी-सम्पदाका सुन्दर सात्त्विक प्रचार करनेमें

बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है । इसे समझकर सदा सावधान रहना चाहिये और एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । निकम्मा नहीं रहना चाहिये। निकम्मा रहनेपर ही प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण आ घेरते हैं। अतः जबतक मन संसारके संकल्पोंसे रहित होकर परमात्मामें नहीं लग जाता, तबतक बड़ा भारी खतरा है।

भगवन्नामकी खेती करनी चाहिये । भगवान्का नाम बीज है, जिसे हृदयके खेतमें बो देना चाहिये। चित्तकी वृत्ति जल है । चित्तवृत्तिरूपी जल सदा संसार-सागरकी ओर प्रवाहित हो रहा है, इसे उधरसे रोककर धानके खेतकी तरह इस खेतको सींचना है । ज्यों-ज्यों उधरका प्रवाह रोककर इधर प्रवाहित किया जायगा, त्यों-ही-त्यों खेत हरा-भरा होने लगेगा । धानका खेत अधिक जल चाहता है । उसे जलसे सींचना बंद कर दिया जाय तो खेत सूख जाता है। परन्तु इसमें यह विशेषता है कि यह सूखता नहीं । तथापि सींचनेका काम कभी बंद न करे। हर समय सींचता ही रहे । यही काम सबसे बढ़कर है और जब इससे बढ़कर अन्य कोई कार्य नहीं तब फिर किसे किया जाय, इसे ही करता रहे।

इस प्रकार सींचते-सींचते जब नन्हे-नन्हे धानके पौधे बड़े होकर उनमें बालें निकल आवें अर्थात् जब भगवद्भजन, सत्सङ्ग ध्यान, वैराग्य और त्याग आदिमें रुचि होने लगे, तब मान-बड़ाई आदि पक्षियोंसे सावधानीके साथ खेतकी रक्षा करनी चाहिये।

इस समय अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो कि हम पक्षियोंके सुन्दर मधुर गानको सुनकर अपनेको भूल जायँ और वे पकती हुई खेतीको नष्ट-भ्रष्ट कर डालें।

साधनकी तेजीके लिये निष्कामभाव बड़े महत्त्वकी वस्तु है। निष्कामभाव होनेपर जल्दी लाभ होता है। हमलोगोंमें स्वार्थकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है, इसीसे साधन तीव्र नहीं हो रहा है। हरेक बातमें और पद-पदपर स्वार्थकी भावना काम करती रहती है। पाँच व्यक्तियोंके लिये बाजारसे चीज आयी तो बढ़िया हम ले लें। बँटवारा हो तो बढ़िया मुझे मिले। रेलमें बैठें तो अधिक सुविधा हमें प्राप्त हो। बातें तो ऊँची-ऊँची बनायी जाती हैं, परन्तु गिद्धकी तरह दृष्टि रहती है नीचेकी ओर गंदी वस्तुओंपर। इससे बहुत बड़ा पतन है। अतः स्वार्थ-दृष्टिका त्याग करके लोक-सेवाकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक संसारके काम किये जायँ तो अत्यधिक लाभ हो।

निर्धन मनुष्यको यह नहीं समझना चाहिये कि स्वार्थका त्याग तो धनवान् ही कर सकते हैं, वह नहीं कर सकता। यदि ऐसी बात होती तब तो धनवानोंको ही भगवत्प्राप्ति होती। परन्तु बात तो अधिकांशमें इसके विपरीत है। जिनके पास जितना अधिक धन है, वे उतने ही अधिक स्वार्थी हैं। अतः सभीको उपर्युक्त बातोंका ध्यान रखकर अपने साधनको सुधारते हुए उसकी चालको खूब तेज करना चाहिये, इससे शीघ्र कल्याण हो सकता है।

समयकी सार्थकता

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

'सूर्यके उदय और अस्त—गमनागमनके द्वारा दिन-प्रतिदिन आयु नष्ट होती जा रही है; किंतु व्यापार-व्यवहारसम्बन्धी अनेक गुरुतर कार्यभारोंके कारण मनुष्यको इसका पता ही नहीं रहता कि कितना समय बीत गया और उसे जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्युको देखते हुए भी उनसे भय उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार यह समस्त जगत् प्रमादरूपी मोहमयी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है अर्थात् वह अपने कर्तव्याकर्तव्यके विवेकसे शून्य हो प्रमत्तकी भाँति अज्ञान-निद्रामें सो रहा है।'

ऐसी दशामें इस प्रमादसे सावधान होकर हमें विचार करना चाहिये कि हमारे जीवनका कितना समय चला गया—जीवनके कितने वर्ष कम हो गये। विचारनेपर पता लगेगा कि हमारा बहुत समय चला गया, समय बीता ही जा रहा है और आयु बहुत ही

कम रह गयी है । अतः मनुष्यको अपने जीवनका जो मुख्य लक्ष्य है, जो प्रथम कर्तव्य है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये और अपने कामको शीघ्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

बंगालकी एक सुनी हुई घटना है—कहाँतक सच्ची है, पता नहीं । एक धनी सेठके यहाँ एक दिन दूध बेचनेवाली ग्वालिन आयी और उसने दूध देकर मुनीमसे उसकी कीमत माँगी । मुनीमने उससे कहा—'पहले बाजारका सौदा कर आ, घर जाते समय पैसा ले जाना ।' वह बेचारी उस समय चली गयी तथा बाजारका काम करके फिर सेठके यहाँ आयी और मुनीमसे पैसा माँगा । मुनीम कुछ कार्यव्यस्त थे । उन्होंने कहा—'अभी ठहरो ।' उस स्त्रीने दो-तीन बार पैसा माँगा; परंतु मुनीमजी वही जवाब देते रहे । आखिर, जब सूर्यास्त होनेको आया और मुनीमने पैसे नहीं दिये, तब वह स्त्री दुःखित हृदयसे बँगलामें ही बोली—'आर बेला नाइ'—अर्थात् अब समय नहीं है, मुझे बहुत दूर जाना है, सूर्य भगवान् अस्ताचलको जा रहे हैं । सेठजी भी उस समय पासमें ही बैठे काम कर रहे थे । उस बंगालिनके लाचारीके शब्द उनके कानोंमें पड़े । उन्होंने मुनीमसे कहकर उसके पैसे दिलवा दिये । सेठजीके हृदयमें उसकी वह वाणी चुभ गयी । उन्होंने उसी समय मुनीमसे कहा—'मेरा तलपट देखो और सब कारोबार बंद कर दो ।' मुनीमजी उनकी यह बात सुनकर आश्चर्यमें पड़ गये और बोले—'आप इस तरह क्या कह रहे हैं ?' सेठजीने कहा—'तुमने नहीं सुना, दूधवाली ग्वालिन क्या कह रही थी ? उसने कहा था—'आर बेला नाइ ।' बात बहुत ही सत्य है । जीवन-सन्ध्या

आ गयी, भैया! मुझको भी अब समय कहाँ ?' इस प्रकार कह, काम-काजका सब प्रबन्ध करके सेठजी घरसे चल दिये और अपनी शेष आयु अहर्निश हरिभजनमें ही बिताने लगे।

हमलोगोंको इस घटनापर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। हमारी आयु प्रतिक्षण बीत रही है। जिनकी उम्र चालीस-पचास वर्षकी हो गयी, उनकी तो अधिकांश आयु बीत चुकी, थोड़ी ही बाकी रही है। जिनकी उम्र छोटी है, उनका भी क्या भरोसा? मानव-जीवनकी पूर्णायु सौ वर्षकी बतलायी जाती है; किंतु आजकल पूरी आयु प्राप्त होनी कठिन है। आजकल तो अस्सी वर्षको ही पूर्ण आयु समझना चाहिये और इस परिमित आयुके हिसाबसे तो हमारे पास बहुत ही स्वल्प समय बचता है। इसलिये हमें सचेत होकर जल्दी अपना काम बना लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपनी आयुके बचे हुए समयको इस प्रकार काममें लायें कि शीघ्र ही उसे सुधारकर अपने जीवनको उन्नत बना सकें।

इसके लिये एक ऐसी कीमती बात बतलायी जाती है, जिसे सभी वर्गके मनुष्य कर सकते हैं और जो सुगम-से-सुगम है। इसमें न तो अधिक बुद्धिकी आवश्यकता है और न अधिक परिश्रमकी ही। निर्गुण-निराकारकी उपासनाको समझनेके लिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है, किंतु इसमें नहीं। और यह इतनी सुगम होनेपर भी सर्वोत्तम महान् फल देनेवाली है। यह है ईश्वरकी अनन्यभक्ति। यह तो अंधे मनुष्यको लकड़ी पकड़ाकर ले जाने और उसे पार कर देनेके समान बड़ा ही सरल, सीधा और निश्चित मार्ग है। भगवद्भक्तिका यह मार्ग इतना सुगम, निष्कण्टक और

अन्धकाररहित है कि इसमें कहीं भी ठोकर खाने या गिरनेका भय नहीं । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥
(११ । २ । ३४-३५)

'राजन् ! अज्ञ मनुष्योंको भी शीघ्र ही निश्चयपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करा देनेके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें ही तुम भगवत्सम्बन्धी धर्म जानो, जिनका आश्रय लेकर मनुष्य कहीं भी प्रमादमें नहीं पड़ता । यदि वह आँखें मूँदकर दौड़ता हुआ उस मार्गपर चले, तो भी न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है ।'

जिस प्रकार सूरदासजीको रास्ता बतानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आ गये थे, इसी तरह वे भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको आगे-आगे रास्ता बतलानेके लिये आ जाते हैं । जब सूरदासजी बेलके काँटोंसे आँखें फोड़कर जंगल-जंगलमें भगवान्के दर्शनकी लालसासे घूम रहे थे, उस समय भगवान्ने बालकके रूपमें आकर उनको अपने हाथसे मिठाई दी । उस दुर्लभ प्रसादको पाकर सूरदासजीका हृदय आनन्दातिरेकसे छलकने लगा । उनके पूछनेपर बालक साधारण परिचय देकर चला गया । एक दिन जब वह फिर आया, तब वृन्दावन ले चलनेकी बात हुई । वह सूरदासजीकी लाठी पकड़कर उन्हें मार्ग दिखानेके लिये आगे-आगे चलने लगा ।

सूरदासजीने उसका हाथ पकड़ लिया। भगवान्‌के हाथका स्पर्श होते ही उनके शरीरमें प्रेमानन्दकी बिजली-सी दौड़ गयी। वे समझ गये कि ये साक्षात् भगवान् ही हैं। उन्होंने भगवान्‌का हाथ और भी जोरसे पकड़ा; पर भगवान्‌ने झटका देकर छुड़ा लिया। उस समय सूरदासजीने उनसे कहा—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि॥

'प्राणधन ! तुम मुझे निर्बल जान हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें तुम्हारी कोई बहादुरी नहीं। तुम्हारा पौरुष तो मैं तब जानूँ, जब तुम मेरे हृदयसे चले जाओ।'

कितना आत्मबल है ! प्रेमकी सुदृढ़ रस्सीसे जिन्होंने अपने हृदयेश्वरको बाँध रक्खा है, उनके हृदयसे भगवान् कैसे जा सकते हैं ! उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और अपना साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ कर दिया।

भगवान्‌का सहारा लेकर चलनेवालोंके लिये कितना सुगम निश्चित उपाय है ! भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इतना ही नहीं, उस अनन्य भक्तके योगक्षेमका दायित्व भी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। वे कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

अब प्रश्न यह होता है कि इस अनन्य चिन्तनका उपाय क्या है। इसके लिये बहुत सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपाय है—सर्वत्र भगवद्बुद्धि।

भगवान्ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीने हनुमान्जीसे कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं हटती—सदा अटल रहती

है कि यह जो कुछ भी चर-अचररूप संसार है, सब सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं और मैं उनका दास हूँ, वही अनन्य भक्त है।'

श्रीभगवान्के वचनोंपर विश्वास करके इस भावको समझना चाहिये। जिस तरह आँखोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेसे मनुष्यको सब कुछ वैसा ही—हरे रंगका ही दीखने लग जाता है, इसी तरह जो अपने हृदयनेत्रोंपर हरिरूपका चश्मा लगा लेता है, उसे सर्वत्र हरिभगवान् ही दीखने लग जाते हैं। अभिप्राय यह कि अपने हृदयके भावोंको हरिमय बना लेना चाहिये। ऐसा हो जानेपर फिर बाहरसे दूसरी चीज दीखनेपर भी उसके अन्तरमें हरि ही दीखने लगेंगे। जैसे मिट्टीके बने पदार्थ—घड़ा, सकोरा, दीया आदि सब तत्त्वतः एक मिट्टी ही हैं और लौहके बने हुए चाकू, कैंची, तलवार आदि अनेकों पदार्थ लौह ही हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत्—समस्त सांसारिक पदार्थ—तत्त्वतः एक हरिभगवान् ही हैं। यही वास्तविक सिद्धान्त है। इसे समझकर प्रयत्न करनेपर शीघ्र ही ऐसा भाव हो सकता है।

अनिच्छा या परेच्छासे जो भी चेष्टा-क्रिया हो, उसे भगवान्की लीला समझे; क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ है, वह भगवान् हैं; अतः उनसे जो चेष्टा होती है, वह भगवान्की ही लीला है। इस प्रकारका भाव हो जाय तो परम शान्ति प्राप्त हो जाय। केवल इस प्रकारका भाव बनानेकी आवश्यकता है। आप चाहे कोई काम करें, कुछ भी आपत्ति नहीं; परंतु हृदयमें उपर्युक्त भाव होना चाहिये। इसमें आपका एक भी पैसा खर्च नहीं होता; करनेमें भी कोई

परिश्रम नहीं, वरं बड़ी ही सुगमता है और यदि आपमें किसी प्रकारका कोई दोष भी विद्यमान हो तो इस भावमें इतनी शक्ति है कि यह उसे भी जलाकर भस्म कर देगा। केवल आपकी बुद्धिमें यह पवित्रतम भाव हर समय जाग्रत् रहना चाहिये कि 'यह सब कुछ तत्त्वतः एक हरि ही हैं तथा उनसे जो चेष्टा हो रही है, वह उनकी लीला है।'

जिस प्रकार सुनार सोनेके अनेक तरहके गहने बनाता है, किंतु गहनोंके नाना प्रकार बनाते समय भी उसकी बुद्धिमें वह सब एक सोना ही रहता है तथा गहनोंको घुटालीमें डालकर गलाते समय भी उसकी उन गहनोंमें एक स्वर्ण-बुद्धि ही रहती है; उसी तरह अपने भी 'सब एक भगवान् ही हैं'—यह भाव हरदम बना रहना चाहिये। अभी जो हमारी बुद्धिमें संसारका नानाभाव धँसा हुआ है, वह न होकर उसके बदलेमें एक भगवद्भाव होना चाहिये।

ऊपर यह कहा गया कि 'समय बहुत थोड़ा रहा है'—इस बातको सुनकर घबराना नहीं चाहिये। जो समय बचा है, उसीमें हमारा कल्याण हो सकता है। आप कहें कि क्या जिनकी आयुमें एक-दो दिन ही अवशिष्ट हैं, उनका भी उद्धार हो सकता है, तो यह तो बहुत है; एक-दो घंटे जीनेवालेका भी कल्याण हो सकता है। भागवतकार कहते हैं—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥

(२।१।१२-१३)

'प्रमत्त—भगवान्‌से विमुख और विषयासक्त रहकर संसारमें बहुत वर्षोंतक जीनेसे भी क्या लाभ ? हमें तो जिससे कल्याणकी प्राप्ति हो, ऐसा (भगवद्भक्तियुक्त) एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है । खट्वाङ्ग नामके राजर्षिको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ, तब वे एक ही मुहूर्तमें सर्वस्व यहीं छोड़कर अभय देनेवाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये ।'

किसी कविने भी कहा है—

जीवन थोड़ा ही भला, जो हरि-सुमरन होय ।
लाख बरसका जीवना लेखे धरै न कोय ॥

बस, इसके लिये एक ही शर्त है—श्रीभगवान्‌को कभी मत छोड़ो। उन्हें हर समय याद रक्खो । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मच्चित्तः सततं भव' (१८ । ५७)—'निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ।'

जो हर समय भगवान्‌को याद रखता है, उसे भगवान् कैसे छोड़ सकते हैं ? सदा भगवच्चिन्तन करनेवालेको अन्तकालमें भी भगवान्‌की स्मृति रहेगी ही और अन्तकालमें स्मृति बनी रहेगी तो कल्याण हो जायगा, इसमें कोई भी शङ्का नहीं है । स्वयं भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

आप कहें कि निरन्तर स्मरण होता नहीं, तो इसका हेतु यही है कि श्रद्धाकी कमीके कारण निरन्तर स्मरणके रहस्य और प्रभावको आप नहीं जानते। नदीमें डूबनेवाले किसी आदमीको यदि नौकाका रस्सा पकड़में आ जाय तो फिर वह किसीके कहनेपर भी उसे छोड़ सकता है? कभी नहीं। वैसे ही यदि भगवान्‌पर आपको विश्वास हो तो क्या आप भगवान्‌को छोड़ सकते हैं? यह संसार समुद्र है। इसमें भगवान्‌के चरण ही सुदृढ़ नौका हैं। जो मनुष्य मनसे भगवच्चरण-कमलोंको भक्तिपूर्वक पकड़ लेता है, वह बिना किसी परिश्रमके ही पार हो सकता है। उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के चरणोंको मनसे पकड़ना और हर समय उनको याद रखना ही उनकी शरण लेना है; इसीका नाम भक्ति है।

यदि कहें कि निरन्तर उनका चिन्तन होना कठिन है, तो यह बात नहीं है। केवल आपने इसे कठिन मान रक्खा है, इसीसे आपको यह कठिन प्रतीत हो रहा है। आप इसके असली तत्त्व और रहस्यको अभी समझे नहीं; यदि तत्त्व और रहस्यको समझ जाते तो कभी उन्हें छोड़ ही नहीं सकते। यदि आप यह समझ जाते कि जहाँ भगवच्चिन्तन छूटा कि समुद्रमें डूबे, तो फिर आपसे भूल नहीं हो सकती। डूबनेवाला व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है कि नौकासे ही उसकी रक्षा सम्भव है; अतः वह उसे एक बार पकड़ लेनेपर फिर छोड़ता ही नहीं।

यदि कहें कि हम तो पापी हैं, हमारा उद्धार इतना शीघ्र कैसे हो सकता है, तो इसके लिये भी डरनेकी कोई बात नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

जो प्राणपणसे साधनमें लग जाता है, कभी भी जी नहीं चुराता, अकर्मण्य नहीं होता—कमकसपना नहीं करता, उसके लिये कहीं कोई बाधा नहीं आती। जिसे एकमात्र भगवान्‌पर ही विश्वास है, जिसकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि भगवान्‌से ही मेरा उद्धार होगा एवं जो दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्‌के ही शरण हो गया है, उसके पास चाहे कितना ही कम समय हो और वह चाहे कैसा भी पापी हो, भक्तिका इतना प्रभाव है कि वह उसे तार ही देती है।

यदि कहें कि जिनमें ज्ञान नहीं है तथा जो मूर्ख हैं, उनका भी कल्याण हो सकता है क्या, तो हम कहेंगे, निश्चय हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने बतलाया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवण-परायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।'

भाव यह कि कोई कैसा भी अज्ञानी या मूर्ख क्यों न हो, यदि वह ईश्वरकी अनन्यभक्ति करने लगे या ज्ञानी महात्माके पास जाकर उनसे जो भी कुछ सुननेको मिले, उसे ही स्वयं करने लग जाय तो वह भी परमपदको पा सकता है । मूर्ख है तो भी चिन्ता न करे, उसे महात्मा अथवा स्वयं भगवान् ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं । चाहे पापी हो, मूर्ख हो, समय कम हो, तब भी भगवान्की कृपासे कल्याण हो सकता है । केवल एक काम हमें करना होगा । 'भगवान् हैं'—ऐसे दृढ विश्वासपूर्वक उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते—हर समय हम भगवान्को याद रक्खें । आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए तो

स्मरण नहीं रहता, तो यदि आपका स्मरणका अभ्यास दिनमें बराबर चलता रहेगा तो रात्रिमें भी वही होगा; क्योंकि जो काम दिनमें किया जाता है, वही रात्रिमें स्वप्नमें याद आया करता है। रात्रिमें भी स्मरण होता रहे, इसके लिये एक सरल उपाय है। सोनेके समय चाहे लेटे हुए ही इसे करें। दस-पंद्रह मिनट पहलेसे संसारके सङ्कल्पोंके प्रवाहको हटाकर भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करते हुए तथा उनकी लीलाओंका मनन करते हुए ही सोयें। इससे रात्रिमें भी भगवत्स्मरण बना रह सकता है। अभिप्राय यह है कि हर समय भगवान्‌को याद रक्खें; उन्हें किसी समय भी न भुलावें। यदि त्रिलोकीका राज्य भी प्राप्त होता हो तो उसे भी अत्यन्त नगण्य समझकर छोड़ दें, किंतु भगवान्‌के चिन्तनको कभी न छोड़ें। जो कभी भी भगवान्‌को नहीं भुलाता, जिसके एकमात्र भगवान् ही परम प्रिय और सर्वस्व हैं, वही धन्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(११।२।५३, ५५)

'त्रिभुवनके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, जो भगवान्‌में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदि-द्वारा खोज करने योग्य भगवच्चरणारविन्दोंसे आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तोंमें अग्रगण्य है। जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण करनेवालेके भी सम्पूर्ण पाप-समूहको ध्वंस कर देते हैं, वे साक्षात् परम ब्रह्म परमेश्वर जिसके हृदयको इसलिये कभी नहीं छोड़ पाते कि उनके चरणकमल प्रेमकी रस्सीसे बँधे हैं, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है।'

ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और ज्ञान इसलिये दिया है कि उन्हें हम काममें लायें। बुद्धिमान् पुरुष वही है, जो अपने समयको विवेकपूर्वक उत्तम-से-उत्तम कार्यमें लगाता है, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता। वह जिस कामके लिये आया है, पहले उसी कामको करता है; वह कभी नुकसानका काम नहीं करता, सदा नफेका काम ही करता है और जो अधिक-से-अधिक कीमती होता है, वही काम करता है; वही समझदार समझा जाता है।

जैसे किसी एक आदमीको जमींदारसे एक खानका एक सालके लिये ठेका मिला। उस खानमें पत्थर, कोयला तथा बहुमूल्य हीरा-पन्ना भरा हुआ है। अब ठेकेदार चाहे उसमेंसे हीरा-पन्ना निकाले, अथवा पत्थर-कोयला ही; या कुछ भी न निकाले अथवा उल्टे उसपर अपने घरका कूड़ा-कर्कट ही डाले। यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। जमींदारकी ओरसे तो उसे पूरा अधिकार है। परंतु समझदार आदमी वही है, जो उसमेंसे बहुमूल्य हीरे-पन्ने-रत्न निकालता है। वह तो मूर्ख है, जो कोयला-

पत्थर निकालता है और वह उससे भी ज्यादा मूर्ख है, जो उसमेंसे कुछ भी नहीं निकालता, केवल फुलवाड़ी लगाता है। तथा वह तो उससे भी महान् मूर्ख है, जो उल्टे उसपर कूड़ा-कर्कट डालता है। इसी प्रकार भगवान्‌ने यह शरीररूपी क्षेत्र (खेत) हमें दिया है। जो इसके तत्त्वको समझ गया, वह तो इससे बढ़िया-बढ़िया काम लेता है। नवधा भक्तिके नाना प्रकारके अङ्ग ही नाना प्रकारके रत्न हैं, जो इससे उनका उपार्जन करता है, वह चतुर है। जो इसे संसारी स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंके बटोरनेमें लगाता है, वह पत्थर-कोयला निकालनेवालेके समान मूर्ख है। इसे केवल सँवारने-सजानेमें ही समय बितानेवाला फुलवाड़ी लगानेवालेके समान उससे भी ज्यादा मूर्ख है; तथा वह तो कूड़ा-कर्कट डालनेवालेके समान और भी महान् मूर्ख है, जो अपने समयको झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि पापोंके बटोरने और लोगोंकी निन्दा करनेमें बिताता है। समझदार आदमीको चाहिये कि वह समय रहते ही अपना काम बना ले। शरीर तो नाशवान् है; जितने दिनका ठेका मिला है, उतने ही दिन रहेगा—जितने श्वास हैं, उतने ही आयेंगे; इसलिये प्राण रहते-रहते ही इससे जितना ऊँचे-से-ऊँचा काम ले लिया जाय, वही सर्वोत्कृष्ट है। नहीं तो समय बीत जानेपर फिर पछतानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगनेका।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

हमें विचार करना चाहिये कि यह शरीर क्यों मिला है। यह हमें मिला है—भगवान्‌को पानेके लिये। हमलोगोंका अभी जिस काममें समय बीतता है, वह प्रायः व्यर्थ बीतता है। जो काम केवल शरीर और इन्द्रियोंसे होता है, उसकी कोई विशेष कीमत नहीं। जो काम मनसे होता है, वही दामी है। हमें देखना चाहिये कि हमारा मन क्या कर रहा है। आप क्रियासे तो पूजा करने बैठे हों, पर आपका मन यदि संसारमें चक्कर लगा रहा है तो यह कार्य कीमती नहीं। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमरन नाहिं॥

अतः बुद्धिसे विचारना चाहिये। विचारकर देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि हमारा मन भजनमें एक आना भी नहीं लगता तथा स्वार्थमें दो-तीन आना लगता है और बाकी बारह आना तो व्यर्थ ही जाता है—यानी आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और व्यर्थ-चिन्तनमें ही जाता है, जिससे न इस लोकमें कोई लाभ है और न परलोकमें ही; बल्कि उल्टे महान् हानि-ही-हानि है। इसलिये मनुष्यको विवेकपूर्वक विचार करके अपना सुधार करना चाहिये। यदि आप इसे न करेंगे तो दूसरा कौन करेगा ? यह आपका खास काम है और यह आपके किये ही होगा, दूसरेके द्वारा यह नहीं किया जा सकता। आप चाहें कि आपकी आत्माके उद्धारका काम धनसे, नौकरसे, मित्रसे या घरवालोंसे करा लिया जायगा तो यह कभी नहीं होनेका; यह तो आपको ही करना पड़ेगा। अतः सब काम छोड़कर सर्वप्रथम यही काम

करना उचित है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि आत्म-उद्धाररूप यह कार्य अन्य किसी भी योनिमें सिद्ध होनेवाला नहीं है। अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं। जब कभी होगा तो इस मानवयोनिमें ही होगा और यह मानवजीवन दुबारा फिर कब मिलेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। अन्य संसारी कार्योंमें तो यदि कुछ बाकी भी रह जायगा तो आपके उत्तराधिकारी उसे पूरा कर लेंगे या कोई नहीं भी करेगा तो उससे आपकी कुछ भी हानि नहीं है; किंतु साधनमें यदि कमी रह गयी तो उसकी पूर्ति कोई भी नहीं कर सकता। आत्मोद्धारमें थोड़ा-सा भी काम बाकी रह जायगा तो आपके लिये महान् हानि है! आपने संसारी कामोंको अज्ञानवश ही जरूरी समझ रक्खा है, यह आपकी महान् भूल है। यहाँका कोई भी पदार्थ आपके साथ नहीं जानेका। पहले भी कहींसे इनको आप साथ नहीं लाये थे और जाते समय भी कोई साथ नहीं जायगा। मरनेके बाद सब यहीं रह जाते हैं; केवल पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व आपके साथ जायँगे। जो साथ जानेवाले हैं, उन्हें ही अच्छे बनायें। इनमें उत्तम-उत्तम गुण और आचरणरूप पदार्थ भर लेने चाहिये, जिससे यहीं काम बन जाय। यदि किसी कारणसे किञ्चित् कमी भी रह गयी तो योग-भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें उद्धार हो जायगा। इसलिये हमें इनमें दैवी सम्पदाके ही गुण और आचरण भरने चाहिये। आसुरी सम्पदाके अवगुण भरना तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करना है। जो भी बुरा भाव और बुरा कर्म है, उसे तो निकाल देना चाहिये। जैसे किसी स्त्रीको देखकर हमारे मनमें बुरा भाव होता है तो

उसे निकालकर नेत्रोंमें अञ्जन लगा लेना चाहिये । अञ्जन क्या है ? उसे माता, बहिन या लड़कीके रूपमें समझना ही अञ्जन लगाकर देखना है । इसी प्रकार कान, वाणी आदि सभीको भगवान्‌के नाम, रूप और गुणोंके श्रवण-कीर्तनसे पवित्र बनाना चाहिये । तथा हृदयमें भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला और भक्तोंके चरित्र आदि उत्तम वस्तुओंको भरना चाहिये । यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा कल्याण सम्भव नहीं । किसी कविने कहा है—

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय ।
ताको ऐसो चाहिये, रहै राम लौ लाय ॥

इस पूँजीसे सर्वोत्तम लाभ उठाना चाहिये । यह मनुष्य-शरीर ही खेत यानी कर्मभूमि है, अन्य सब योनियाँ तो ऊसर भूमि हैं । इसमें चाहे आप मेवा पैदा कर लें, चाहे बबूल । मेवा क्या है ?

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है ।'

यह नौ प्रकारकी भक्ति ही मेवा है । भक्तिके इन नौ प्रकारके अङ्गोंमेंसे एक भी कर लें तो भगवान् मिल जायँ; फिर

जिसमें ये सभी हों, उसका तो कहना ही क्या है ! वह तो बहुत ही उत्तम है ।

केवल श्रवणभक्तिसे राजा परीक्षित् तथा धुन्धुकारी आदि; कीर्तनसे नारदजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, गौराङ्ग महाप्रभु आदि; स्मरणसे ध्रुव आदि; पादसेवनसे लक्ष्मी, भरत, केवट आदि; पूजनसे पृथु, द्रौपदी, गजेन्द्र, भीलनी, रन्तिदेव आदि; नमस्कारसे अक्रूर आदि; दास्यभावसे हनूमान् आदि; सख्यभावसे सुग्रीव, अर्जुन आदि एवं आत्मनिवेदनसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं ।

अतएव हमें इन सब बातोंपर विचार करके कटिबद्ध होकर जल्दी-से-जल्दी उस कामको बना लेना चाहिये, जिसके लिये हमें यह मानवदेह प्राप्त हुआ है। भागवतकार चेतावनी देते हुए कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

(११ । ९ । २९)

'यह मनुष्यदेह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है । अतः अनेक जन्मोंके अनन्तर इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं (इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको कदापि न खोये) ।'

भगवान्‌के शीघ्र मिलनमें भाव ही प्रधान साधन है

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है। उपर्युक्त अनुष्ठान आदि क्रिया यद्यपि बहुत ही उत्तम है; किंतु भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति करनेवाली होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गीता १४ । १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।' जब यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाती है, तब राजसी भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह कि जिस-जिस भावनासे क्रिया की जाती है, उस-उसकी ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम फल देनेवाली होती है। एक निम्नश्रेणीकी क्रिया है; किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जाती है। जैसे माता-पिता, गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शिक्षण और पालन करना, उनके मल-मूत्रकी सफाई करना, डाक्टरके रूपमें चीर-फाड़ करना, सड़क आदिकी सफ़ाई करना, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय करना, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतक कि गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो निम्नश्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे की जायँ तो इनके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है; और यही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि होती है

कहा जाता है, भीलनी शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-कर्कट, काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ इकट्ठी करके ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। यह देखनेमें नीची श्रेणीका काम दीख पड़ता है; किंतु वह निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करती थी; इसलिये उसका भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है—जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, उस समय तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि 'अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है। यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये; आपके द्वारा जो बगुला मर गया और आपकी धोती आकाशमें सूखनी बंद हो गयी, इन सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा।' भगवान्‌ने, जो कि ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने लगे; तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि 'तुलाधारने मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी?' भगवान्‌ने बतलाया कि यह क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है। इसी कारण उस तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह तुलाधार वैश्य विमानमें बैठकर भगवान्‌के साथ परम धाममें चला गया।

यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी रस आदि क्रय-विक्रय रूप क्रिया तो देखनेमें निम्नश्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं। इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावसे करें।

जब नीची-से-नीची क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है। इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है—

भगवान्‌का एक भक्त साधक था। वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन-ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था। एक समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे। साधकने उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। तदनन्तर जब नारदजी जाने लगे, तब उसने नारदजीसे पूछा, 'भगवन्! आप कहाँ जा रहे हैं?' नारदजीने बतलाया, 'मैं भगवान्‌के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ।' उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकतापूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि 'क्या आप मेरे लिये भी भगवान्‌से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे?' नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा।' इतना कह नारदजी वहाँसे चल दिये और बड़े प्रेमसे भगवान्‌के

नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे ।

भगवान्‌ने पूछा—'नारद ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है, अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ । भगवन्‌ ! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है । प्रभो ! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे आपके दर्शन कब होंगे ।' भगवान्‌ बोले—'नारद ! यह बात तुम मत पूछो ।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी । उन्होंने कहा—'क्यों नहीं भगवन्‌ ?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'नारद ! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा । इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे ।' भगवान्‌की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन्‌ ! वह तो बहुत ही तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है; फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों ?' भगवान्‌ने कहा—'नारद ! तुम इसका रहस्य नहीं समझते; मैं जो कुछ कहता हूँ, वही उससे कह देना ।' तदनन्तर नारदजीने भगवान्‌से और भी भक्ति, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य-सम्बन्धिनी चर्चा की ।

फिर नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे उस भक्तके पास पहुँचे । नारदजीको देखते ही भक्त उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो ! क्या

मेरी भी चर्चा वहाँ चली थी ?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी मुग्ध हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसङ्ग चला तो था, किंतु कहनेमें संकोच होता है ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! संकोच किस बातका है ? क्या भगवान्ने साफ इन्कार कर दिया ? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे ? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही । आप संकोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा ।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी और कहा—'अन्तमें भगवान्ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे ।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको भगवान्के दर्शन होंगे ? क्या यह बात भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कही है ? अहा ! जब कभी हो, मुझे भगवान्के दर्शन तो अवश्य ही होंगे !' नारदजी बोले—'होंगे तो सही, क्योंकि भगवान्ने स्वयं अपने मुखसे कहा है; किंतु होंगे बहुत ही विलम्बसे ।' यह सुनकर कि 'भगवान्के दर्शन अवश्य होंगे' उस भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा । उसका भाव एकदम बदल गया । वह आनन्दविह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ उन्मत्तकी भाँति नाचने लगा । आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तनकी भी सुधि नहीं रही । फिर विलम्ब ही क्या था ! भगवान् उसी क्षण वहाँ प्रकट हो गये ।

भगवान्‌को देखकर नारदजी अवाक् रह गये । उन्होंने पूछा—'भगवन् ! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते, इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे । परंतु वर्षोंकी बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये ।' भगवान् बोले—'नारद ! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है । मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते ।' नारदजीने कहा—'प्रभो ! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये ।' भगवान् बोले—'नारद ! उस समय तो इसके साधनमें क्रिया-की ही प्रधानता थी, किंतु अब इस समय तो इसके क्रियाके साथ ही भावकी भी प्रधानता है । साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत-उपवास, तपस्या, गीता-पाठ, सत्पुरुषोंका सङ्ग, स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रिया है । इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित ही है । जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेमभावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, तब मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता । इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेमपूर्ण भाव है, उसकी ओर तो देखो; उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था । इसीलिये मैंने यह कहा था कि इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे ।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेमविह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध-बुध भूल-

कर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए उद्दण्ड नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेममयी स्थितिसे स्वयं भगवान् भी प्रेम-मग्न हो गये। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्‌की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक विचित्र प्रेमराज्यकी प्रगाढ़ स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परम धाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल दिये।

इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की भक्ति उत्तम है तथा उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर फिर भगवान्‌के मिलनमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त प्रकारसे निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर भजन-ध्यानादि उत्तम क्रिया करनी चाहिये।

भगवद्भक्तोंका प्रभाव

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही होते हैं। उनकी मन-बुद्धि लीलामय भगवान्‌में ओतप्रोत रहती है, और मन एवं बुद्धिद्वारा ही इन्द्रियादिका व्यापार परिचालित होता है। इसलिये भक्तोंके कार्य-कलाप और विचार-व्यापारको भी भगवान्‌की ही लीलाके तुल्य समझना चाहिये। जैसे भगवान्‌के धाम, लीला-क्षेत्र आदि तीर्थस्थल हैं, उसी प्रकार भक्तोंके निवासस्थान और कर्म-क्षेत्र भी तीर्थ ही बन जाते हैं। पूज्यपाद गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥

जिस प्रकार ईश्वरके स्वरूपका ध्यान करके साधक मोक्षको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर, प्रह्लाद, शुकदेव, भरत और हनुमान् आदि भक्तोंका ध्यान करनेसे और उनका चिन्तन करनेसे भी साधकका कल्याण हो सकता है।

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

महापुरुषोंके चरित्र, लेखादि सबसे मनुष्योंका उद्धार होता रहता है। भक्तोंका जन्म ही 'धर्मसंस्थापनार्थाय' होता है। भगवान् तो कभी-कभी, जब पाप इतना बढ़ जाता है कि पापियोंका विनाश किये बिना काम नहीं चलता, तब अवतार धारण करके आते हैं; पर भक्तजन तो सर्वदा प्रत्येक युगमें प्राप्य रहते हैं। इसीसे किसी अंशमें उनकी भगवान्‌से भी अधिक महिमा बतायी गयी है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

कहाँतक कहा जाय, भगवान् स्वयं अपने भक्तोंके अधीन रहते हैं। भक्तराज अम्बरीषपर क्रोध करनेवाले महर्षि दुर्वासा सुदर्शन-चक्रके डरसे भागते-भागते जब वैकुण्ठलोकमें श्रीहरिके पास पहुँचे, तब भगवान्‌ने उनसे कहा—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६६, ६८)

'हे द्विज! मैं परतन्त्रके समान भक्तोंके अधीन हूँ। उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। मैं भी उनका सर्वदा प्रिय हूँ। हे विप्रवर! जिनका मैं ही एकमात्र आश्रय हूँ, अपने उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर तो मैं अपने आत्माकी और अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाश-रहिता लक्ष्मीकी भी परवा नहीं करता। जो अपने स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण,

धन और इहलोक तथा परलोकको छोड़कर मेरी ही शरणमें आ गये हैं, उन भक्तजनोंको मैं छोड़नेका विचार भी कैसे कर सकता हूँ ? जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती हैं, वैसे ही अपने हृदयको मुझमें प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले वे समदर्शी साधु पुरुष भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। संत मेरे हृदय हैं और मैं संतोंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान् प्रेमके कारण भक्तोंके पीछे-पीछे घूमा करते हैं। उनके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख मानते हैं। उनके लिये अपनी आन-बान और स्वयं श्रीलक्ष्मीजीतककी चिन्ता नहीं करते। भक्तवर भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिये अपनी शस्त्र न ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञाको भङ्ग कर देते हैं। और अर्जुनके साथ तो उन्होंने क्या-क्या नहीं किया ! उनके सारथितक बने तथा जयद्रथका वध करानेके लिये दुर्योधनादिके साथ मायाका व्यवहार भी किया। भले ही उनको कोई बुरा कह ले; पर भक्तके प्राण-प्रणकी रक्षा होनी चाहिये। भक्तोंकी मान-मर्यादा और सुख-दुःखको अपना समझनेका तो उन्होंने मानो अटल व्रत ही ले रक्खा है।

हम भगतनके भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

ऐसे महामहिम, भाग्यवान् और भगवत्स्वरूप भक्तोंके स्मरण-ध्यानमात्रसे ही पाप-राशि भस्म हो जाय, मुक्ति दासीकी तरह पीछे-पीछे घूमे और प्रभुके चरणोंमें अचल मति, रति और गति प्राप्त हो जाय तो कौन-सा आश्चर्य है। भगवान्की तरह महापुरुषोंके

ध्यानसे भी कल्याण हो सकता है । उनके स्वरूपका ध्यान करनेसे उनके भाव, गुण और चरित्र हृदयमें आ जाते हैं, उनका स्वरूप चित्तमें अङ्कित हो जाता है और जैसे प्रकाशके आते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही भक्तोंके चरित्र-गुणादिकी स्मृति अन्तःकरणमें आते ही समस्त कलुषको नष्ट कर देती है ।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि महापुरुषोंके सङ्ग और उनकी सेवा करनेकी अथक चेष्टा करें । भगवत्प्राप्ति और उनके चरणोंमें अनपायिनी रति लाभ करनेका सरस और सरल साधन केवल एक यही है । अपने भक्तिसूत्रोंमें मायासे तरनेके साधनोंका उल्लेख करते हुए देवर्षि नारदजी कहते हैं—

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति । (नारदभक्तिसूत्र, ४६)

अर्थात् 'मायासे कौन तरता है, कौन तरता है ? जो आसक्तिका त्याग करता है, जो महापुरुषोंका सेवन करता है और जो ममतारहित होता है ।'

आसक्ति तथा कामनासे मुक्ति और अहंता-ममताका त्याग बड़ा ही कठिन है; पर संतोंकी सेवा करना प्रतीकोपासनाकी तरह सबके लिये साध्य है, बल्कि उससे भी सरल और संभाव्य तथा अनुभवग्राह्य है । क्योंकि चेतन न होनेके कारण प्रतिमाके प्रति प्रतीति और अनुराग होना कुछ कठिन भी हो सकता है, पर अपने बीच बोलते और उठते-बैठते तथा संतत स्नेहकी वर्षा करते हुए भगवत्तुल्य संतोंकी सेवा बड़ी स्वाभाविक रीतिसे हो सकती है ।

संतोंके सङ्गमात्रसे ही, उनके दर्शनसे ही उद्धार हो जाता है। संत-सङ्गकी तो शास्त्रोंमें जगह-जगह महिमा गायी हुई है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

वास्तवमें कल्याण-साधनका सत्सङ्गसे बढ़कर और कोई सुलभ, सहज और श्रेष्ठ साधन है ही नहीं। पर बिना श्रद्धाके कुछ विलम्ब हो सकता है। अज्ञात रूपसे लाभ तो होता ही रहेगा; पर साधनमें तीव्रता और मनःप्रसादकी अनुभूति बहुत कालतक भी नहीं हो सकती है। किन्तु श्रद्धा और विश्वासके साथ सत्सङ्ग करनेसे तत्काल फल मिलता है।

मज्जन फल पेखिअ ततकाला।
काक होहिं पिक बकउ मराला॥

एक स्वच्छ काँचकी शीशीमें जल भरकर यदि धूपमें रख दिया जाय तो पानी गरम तो अवश्य हो जायगा पर जल्दी नहीं। काफी देर लगेगी। पर यदि शीशीपर काला रंग चढ़ा दिया जाय तो वही जल बहुत थोड़े समयमें गरम हो जायगा। काले रंगमें रविरश्मियोंको आकर्षित करनेकी विशेष क्षमता होती है। संत पुरुष भगवत्प्रेमरूपी ताप और भगवज्ज्योतिरूपी प्रकाशके सूर्य हैं। अश्रद्धालुओंका अन्तः-करण उनसे शीघ्र प्रभावित नहीं हो पाता। पर जिन्होंने श्रद्धाका ऐसा पक्का काला रंग, जिसपर दूसरा कोई रंग नहीं चढ़ता, लगा लिया है, वे उस दिव्य ज्योति और दिव्य तापसे शीघ्र ही लाभ उठाकर परम निःश्रेयसको प्राप्त कर लेते हैं।

इसलिये सत्सङ्गकी चेष्टाके साथ-साथ अपनी श्रद्धा बढ़ानेका भी प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा उत्पन्न करनेके वास्तविक उपायको तो भगवान् ही जानें। वे ही जिसके ऊपर दया करके अपने भक्तोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दें उसीको सच्ची श्रद्धा प्राप्त हो सकती है। अतः सबसे प्रथम हमको भगवान्‌से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि उनमें तथा उनके प्रिय भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ावें। फिर भक्तोंके गुण-प्रभावकी बातें सुनने-सुनानेसे एवं श्रद्धावान् पुरुषोंके सङ्ग, दर्शन तथा एकान्तमें उनके साथ श्रद्धाविषयक आलोचना-प्रत्यालोचना करनेसे भी श्रद्धाकी वृद्धि हो सकती है। सच्चे श्रद्धावानोंकी लीला आदिके दर्शनसे भी श्रद्धा जाग सकती और बढ़ सकती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके दर्शन और उनके मुँहसे निकले हुए हरिनामको सुननेमात्रसे विधर्मीतक श्रीकृष्ण-प्रेममें मग्न हो जाते थे।

अन्तमें महात्माओंकी पहचानके विषयमें भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। गीताके बारहवें अध्यायके १३ वें श्लोकसे २० वें तकके लक्षण जिसमें घटते हों, वही महापुरुष भक्त है। इनमें बहुत-से लक्षण स्वसंवेद्य हैं। दूसरा मनुष्य महापुरुषको पहचान सके, ऐसे लक्षण शास्त्रोंमें बहुत कम लिखे हैं। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य बातोंके बतानेकी चेष्टा की जाती है।

भगवद्भक्तोंका सबसे प्रमुख लक्षण है उनकी हेतुरहित दयालुता। वे सबके हितमें लगे रहते हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंके संतोंमें यह बात पायी जाती है। 'सर्वभूतहिते रताः' (१२ । ४) तथा 'मैत्रः करुण एव च' (१२ । १३) कहकर गीता क्रमशः प्रमाण देती है। दूसरा लक्षण है प्रेम। दयाके साथ

प्रेमका संयोग होनेपर सुहृदता आती है । संतजन सबके साथ समान रूपसे प्रेम करते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

तीसरी बात है महापुरुषोंका तेज, उनकी प्रभावशीलता । जैसे अन्धकारमें लालटेनका प्रकाश होता है, उसी तरह संतोंका भी प्रकाश विकीर्ण होता रहता है । पर लालटेन जड़ ज्योति है, महापुरुष चिन्मय ज्योति हैं । उनके दर्शनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है । महात्माओंके सङ्गसे हमारे छोटे-छोटे दोष भी दीखने लगते हैं । हमारे आचरणोंका सुधार होता है । हमारेमें गुण आते हैं और अवगुणों एवं दुराचरणोंका नाश होकर हृदय निर्मल बन जाता है । फिर बारीक दोष भी दीखने लगते हैं और चेष्टा करनेसे समूल नष्ट हो जाते हैं । भक्तोंके सामने कोई बुरा व्यवहार नहीं कर सकता । उनके दर्शनसे स्वाभाविक ही ईश्वरकी स्मृति हो जाती है ।

विशेष श्रद्धा और विश्वासवाले मनुष्यको किसी भगवद्भक्तसे साक्षात्कार होनेपर ऐसा मालूम होता है मानो उस महात्माके द्वारा ईश्वरभक्ति, समता, दया, शान्ति, प्रेम, आनन्द, ज्ञान तथा अन्य समस्त सद्गुण उसमें प्रवेश करते जा रहे हैं । आगसे सूखी घासकी तरह हृदयके दुर्गुण भस्म होते हुए दिखायी पड़ते हैं और उस महात्माकी आँखोंमें दया और प्रेमका सिन्धु लहराता हुआ दिखायी पड़ता है ।

निस्सन्देह महात्माओंकी जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक पृथ्वी-आकाश, चर-अचर सब कुछ पवित्र हो जाता है ।

संसार-वाटिका

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

'हरिण, हाथी, पतंग, भौंरा और मछली—ये पाँच जीव पाँचों विषयोंमेंसे एक-एकसे मारे जाते हैं; फिर जो प्रमादी अकेले ही अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंका सेवन करता है, वह क्यों न मारा जायगा ?'

अतः मनुष्यको उचित है कि विषयोंसे मन-इन्द्रियोंका संयम करके उन्हें परमात्माकी ओर लगावे । इस विषयमें एक दृष्टान्त है । एक चक्रवर्ती राजा थे । एक बार उन्होंने यह घोषणा की कि जो कोई मनुष्य कल मेरा दर्शन कर लेगा, उसे मैं युवराजपद दे दूँगा । मैं अपने जिस बगीचेकी कोठीमें निवास करता हूँ, वह कल दिनभर सबके लिये खुला रहेगा । मेरे पास कोई भी मनुष्य आ सकता है ।

किसीके लिये भी कोई रुकावट नहीं रहेगी । प्रत्येक मनुष्यको बगीचेमें सैर करनेके लिये केवल दो घंटा समय दिया जायगा । कोई भी व्यक्ति दो घंटेसे अधिक नहीं रह सकता । बगीचेमें प्रवेश होनेके बाद मेरे पासतक पहुँचनेमें तो आधे मिनटका समय ही काफी है; क्योंकि वहाँकी सड़कें बड़ी ही सुगम और सुलभ हैं । अतः जो मनुष्य नियत समयके अंदर मेरा दर्शन कर लेगा, उसको तो युवराजपद दे दिया जायगा और जो बगीचेमें ही रमता रहेगा, उसे दो घंटे समाप्त होते ही बाहर निकाल दिया जायगा ।

यह घोषणा राज्यमें सर्वत्र प्रचारित कर दी गयी । फिर बात ही क्या थी, सब लोग प्रातःकाल होते ही बगीचेमें धड़ाधड़ प्रवेश करने लगे । बगीचेके दरवाजेपर ही प्रबन्धकर्ताका निवासस्थान था । वह प्रबन्धकर्ता, जो भी व्यक्ति बगीचेके अंदर प्रवेश करता, उसे एक टिकट दे देता और उसकी एक नकल अपने पास रख लेता । इस प्रकार लोग टिकट ले-लेकर भीतर जाने लगे । बगीचेमें जाकर कोई तो नाना प्रकारके चमेली, केवड़ा, गुलाबके फूलोंको सूँघते हुए शीतल, मन्द, सुगन्धित हवामें सैर करने लगे । कितने ही उनसे आगे पहुँचकर मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खाने लगे । कितने ही उनसे भी आगे जाकर सरकस, बायस्कोप, सिनेमा, अजायबघर, खेल-तमाशे आदिको तथा रत्नोंकी ढेरियों और सोने-चाँदीके नाना प्रकारके सिक्कोंको एवं और भी अनेक प्रकारके पहले कभी न देखे हुए पदार्थोंको देखने लगे । कितने ही लोग उनसे भी आगे बढ़कर पुष्पोंकी शय्यापर शयन करते हुए स्त्रियोंके साथ रमण करने लगे और कितने ही मनुष्य उनसे भी आगे बढ़कर ग्रामोफोन, रेडियो

आदिके गाने सुनने लगे । इस प्रकार वे लोग बगीचेके ऐश, आराम, भोगोंमें फँसकर राजाके दर्शनसे निराश हो गये और अज्ञानवश यही सोचने लगे कि हमलोगोंको राजाके दर्शन कहाँ ! उनमेंसे कोई एक जो विरक्त पुरुष थे, जिनके मन-इन्द्रिय वशमें थे, वे उन ऐश, आराम, स्वाद, शौकीनीका तिरस्कार करके महाराजके पास जा पहुँचे और उनको महाराज साहेबने युवराजपद दे दिया ।

प्रबन्धकर्ताकी ओरसे उस बगीचेमें बहुत-से सिपाही घूमा करते थे । वे जिस मनुष्यका समय पूरा हो जाता था, उसकी टिकट लेकर उसे बगीचेसे बाहर कर देते थे । परंतु जो भाई पुष्पोंकी सुगन्ध लेता हुआ हवाखोरी करता है, वह कहता है— 'थोड़ी देर हमको और रहने दो ।' किंतु सिपाही तैनात किये हुए थे । कोई भी आदमी एक मिनट भी अधिक कैसे रह सकता है । सिपाही उसे धक्का देकर बलपूर्वक बाहर निकाल देते हैं । जो मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खा रहे हैं, वे सिपाहियोंसे कहने लगे कि 'भैया ! हमको दो मिनट और रहने दो । हमने जो मेवा और मधुर फल तोड़े हैं, उनकी गठरी तो बाँध लें ।' सिपाहियोंने कहा—'यहाँसे कोई कुछ भी बाँधकर नहीं ले जा सकता । जो कुछ तुमने खा लिया, वही तुम्हारा है ।' ऐसा कहकर उनकी गठरी-मुटरी छीन लेते हैं और उन्हें धक्का देकर बाहर निकाल देते हैं । जो खेल-तमाशा, सिनेमा आदि देख रहे हैं, वे तो वहाँसे उठना ही नहीं चाहते; किंतु वहाँ कोई भी एक मिनट भी अधिक रह ही कैसे सकता है ? सिपाही उनको धक्के मार-मारकर

बलपूर्वक बाहर निकालने लगे । कितनोंने तो रुपया, मुहर और रत्नोंकी गठरी बाँध ली । सिपाहियोंने पूछा—'यह क्या है और तुमने यह गठरी क्यों बाँधी है ?' उन्होंने उत्तर दिया कि इनमें रुपये, मुहर तथा रत्न हैं, हम इनको अपने साथ ले जायँगे । सिपाही लोग उन्हें डंडे मारने लगे और कहने लगे—'मूर्खो ! इनका तुम केवल दर्शन ही कर सकते हो, यहाँसे कोई भी आदमी एक पाई भी अपने साथ नहीं ले जा सकता ।' उन लोगोंको बाँधी हुई गठरी छोड़नेमें बड़ा दुःख होता था; पर उपाय ही क्या, बाध्य होकर छोड़ना पड़ा । जो लोग पुष्पोंकी शय्यापर सोकर स्त्रियोंके साथ रमण कर रहे थे, वे तो किसी प्रकार भी बाहर नहीं होना चाहते थे; पर बिना कानून कोई एक क्षण भी वहाँ कैसे रह सकता ? सिपाहियोंने उनको भी अवधि समाप्त होते ही डंडे मारकर निकाल बाहर किया । और जो ग्रामोफोन, रेडियो आदि सुन रहे थे, उनको तो कुछ पता ही नहीं रहा कि कितना काल बीत गया है । सिपाहियोंने उनकी टिकटोंका नंबर देखकर कहा कि 'चलो, तुम्हारा समय हो गया ।' सुननेवालोंने कहा, 'अरे भाई ! यह गाना तो पूरा सुन लेने दो ।' सिपाहियोंने कहा—'तुम्हारा समय समाप्त हो गया है, तुम अब एक क्षण भी यहाँ नहीं रह सकते ।' ऐसा कहकर उनको भी डंडोंसे मारकर बलपूर्वक बगीचेसे बाहर ढकेल दिया ।

यह एक कल्पित दृष्टान्त है । इसे दार्ष्टान्तरूपमें इस प्रकार समझना चाहिये कि चक्रवर्ती राजा यहाँ परमेश्वर हैं और उनका बगीचा ही यह संसार है । राजाकी घोषणा ही श्रुति-स्मृति आदि

शास्त्र हैं। लोगोंका आना-जाना ही सर्ग है। बगीचेके लिये नियत किया हुआ दो घंटेका समय ही मनुष्यकी आयु है। राजाके दर्शनमें किसीके लिये रुकावट नहीं है, यही मनुष्यमात्रके लिये ईश्वर-प्राप्तिमें स्वतन्त्रताकी घोषणा है। युवराजपद ही परम निःश्रेयसकी प्राप्ति है। सुगम और सुलभ सड़कोंपर चलकर आधे मिनटमें मार्ग तय करना ही भक्ति आदि उच्चकोटिके सुगम साधनोंके द्वारा छः महीनेमें ईश्वर-साक्षात्कारका रास्ता तय करना है। प्रबन्धकर्ता धर्मराज है। टिकट देना ही आयु देना है। टिकटकी नकल अपने पास रखना ही आयुका हिसाब रखना है। बगीचेमें प्रवेश करना और वापस बाहर जाना ही मनुष्यका जन्मना-मरना है। बगीचेमें प्रवेश करके जो पुष्पादिकी सुगन्ध लेते हुए हवा खाना है, यही यहाँ नासिका-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका पुष्पमाला, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिकी सुगन्धमें अपना समय बरबाद करना है। बगीचेमें जो मेवा और मधुर फलोंका खाना है, वही यहाँ जिह्वा-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका भोजनादिके रसास्वादमें समय व्यय करना है। बगीचेमें खेल-तमाशे आदिको देखना ही यहाँ नेत्र-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका नाशवान् क्षणभङ्गुर आश्चर्यमय पदार्थोंको देखकर अपने अमूल्य समयको नष्ट करना है। बगीचेमें स्त्रियोंके साथ पुष्पोंकी शय्यापर रमण करना आदि ही यहाँ स्पर्श-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका स्पर्शादिके द्वारा स्पर्श करनेयोग्य नाशवान् क्षणभङ्गुर पदार्थोंका उपभोग करके अपने जीवनको खतरेमें डालना है। बगीचेमें ग्रामोफोन, रेडियो आदिका सुनना ही यहाँ कर्णेन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका

रसकी बातोंको सुनकर अपने जीवनके अमूल्य समयको बेकार नष्ट करना है। राजाके दर्शनसे निराश होना ही यहाँ परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धाकी कमीके कारण होनेवाली साधनविषयक अकर्मण्यता है। बगीचेमें सीधे ही राजाके निकट जानेवाला जो मन-इन्द्रियोंका संयमी विरक्त पुरुष है, वही यहाँ परम साक्षात्काररूप सिद्धि प्राप्त करनेयोग्य उच्चकोटिका साधक है। बगीचेमें राजाका दर्शन करना ही भगवत्साक्षात्कार और युवराजपद ही परमपदकी प्राप्ति है। बगीचेमें घूमनेवाले प्रबन्धकर्ताके सिपाही ही इस संसारमें धर्मराजके दूत हैं। टिकटकी अवधिका शेष होना ही यहाँ मनुष्यकी आयुकी समाप्ति है। बगीचेसे लोगोंको बाहर कर देना ही यहाँ मनुष्योंको यमराजके हवाले कर देना है। बगीचेमें फलोंकी और रुपयोंकी गठरी बाँधना ही यहाँ मरनेके समय अज्ञान और स्नेहके कारण धन आदि पदार्थोंका संग्रह करना है। इच्छा न होनेपर भी उनको सिपाहियोंका डंडे और धक्के मारकर बलपूर्वक बाहर निकाल देना ही यहाँ मरनेकी इच्छा न होनेपर भी यमदूतोंका बलात्कार यन्त्रणा देते हुए यमके द्वार ले जाना है। बगीचेसे मेवा-फल, रुपये आदि कोई भी पदार्थ साथमें नहीं ले जा सकना ही इस संसारके मेवा-मिष्टान्न, धन, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थोंको यहीं छोड़कर जाना है; क्योंकि इस संसारकी कोई भी किञ्चिन्मात्र भी वस्तु किसी भी प्रकार न तो आजके पहले किसीके साथ गयी और न जा सकती है। इसलिये इन नाशवान् क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे और विषयोंसे वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिके उपाय

अद्वैत-सिद्धान्तकी प्राचीन और अर्वाचीन प्रणालीके अनुसार अन्तःकरणके मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष माने गये हैं। उनमेंसे मल-दोषके नाशका उपाय कर्मयोग अर्थात् निष्काम-भावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा आदि कर्मोंका करना बतलाया गया है। इससे मल-दोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है। कितने ही सज्जन भगवन्नाम-जपको ही तत्काल अन्तःकरण-की शुद्धिका मुख्य कारण बतलाते हैं। वास्तवमें ये दोनों ही बातें ठीक हैं। अन्तःकरण शुद्ध होनेके बाद विक्षेप-दोषके नाशके लिये परमात्माका ध्यान तथा आवरण-दोषके नाशके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन ही प्रधान उपाय बतलाया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम निष्काम कर्म, उसके बाद उपासना और फिर सत्पुरुषोंका सङ्ग करके तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।

अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको मुक्तिका अधिकारी बननेके लिये साधन-चतुष्टयका अनुष्ठान करना चाहिये। साधन-चतुष्टय यह है—(१) सत् और असत् वस्तुका विवेक[1], (२) इस

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २ । १६)

लोक और परलोकके सांसारिक सम्पूर्ण विषय-भोगोंसे तीव्र वैराग्य[1], (३) शम आदि षट् सम्पत्ति—(क) शम—मनका निग्रह[2], (ख) दम—इन्द्रियोंका संयम[3], (ग) उपरति—मन और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको विषयोंसे हटाकर उनसे रहित यानी निर्विषय बना देना[4], (घ) तितिक्षा—शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करना[5], (ङ) श्रद्धा—ईश्वर, शास्त्र, महापुरुष और परलोकमें प्रत्यक्षके सदृश भक्तिपूर्वक विश्वास[6], (च)

---

१. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

२. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।
(गीता ६ । ३५)

३. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(गीता ३ । ४१)

४. न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
(गीता १५ । ३)

५. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
(गीता २ । १४)

६. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४ । ३९)

समाधान—मन और बुद्धिको परमात्मामें पूर्णतया लगा देना[1]; तथा (४) मुमुक्षुता—मुक्तिकी उत्कट अभिलाषा[2]।

साधन-चतुष्टयसम्पन्न होनेपर जिज्ञासुको श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार करना चाहिये। विनीतभावसे तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जाकर परमात्माकी तत्त्वज्ञानविषयक बातोंको सुनना श्रवण है[3], तथा शास्त्रके अभ्यास और महापुरुषोंके द्वारा समझे हुए परमात्मतत्त्वका यानी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करना मनन है[4] एवं परमात्माके ध्यानमें तन्मय होना निदिध्यासन है[5]। इस प्रकार साधन करनेसे साधकको

---

१. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
(गीता १२। ८)

२. अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥
(गीता १२। ९)

३. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४। ३४)

४. ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

५. शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(गीता ६। २५)

परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेना ही परमात्माका साक्षात्कार करना है[1]। उपर्युक्त तीनों साधनोंमेंसे एकका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान करनेपर ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, फिर क्रमशः तीनोंको करनेसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

यह प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानोंकी मान्यता है और यह बहुत ही उत्तम है, किंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इतना मात्र ही है अर्थात् यही एक प्रणाली है, दूसरी नहीं। इसके अतिरिक्त केवल निष्काम कर्मसे और केवल उपासना यानी ईश्वरकी भक्तिसे भी मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; तथा इस कलिकालमें तो योग और ज्ञानकी अपेक्षा भी ईश्वरकी भक्तिका मार्ग सर्वसाधारणके लिये अधिक सुगम और सुलभ है।

भगवान्ने गीतामें कर्मयोग (निष्काम कर्म) से स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी प्राप्ति जगह-जगह बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(२।५१)

'क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको प्राप्त हो जाते हैं।'

---

१. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(गीता ५।२४)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(१२। १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

इसके सिवा जिस प्रकार ज्ञानयोगको परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया है, उसी प्रकार कर्मयोगको भी परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया है। भगवान् कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(५।४-५)

'संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

निष्कामभावसे कर्मयोगका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(गीता ४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

जब निष्कामभावसे कर्म करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है तब फिर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला पुरुष भगवान्‌की

कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! गीता, रामायण, भागवत, महाभारत आदि समस्त शास्त्र स्थान-स्थानपर इसकी घोषणा कर रहे हैं। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह केवल अपनी भक्तिसे परम गतिकी प्राप्ति बतलायी है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ७)

'हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र

ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

'हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

श्रीरामचरितमानसमें काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥

तथा—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥

'मैं आपसे भलीभाँति निश्चय किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको [सहज ही] पार कर जाते हैं ।'

महाभारतके अनुशासनपर्वमें विष्णुसहस्रनाम बतलाते हुए भीष्मजी कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींके परायण है, उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कहते हैं—

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥
(११ । १८ । ४५)

'हे उद्धव ! मेरी कभी न घटनेवाली भक्तिसे वह मेरा भक्त सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर, सबकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान तथा कारणस्वरूप मुझ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥
(११ । २० । ३३)

'मेरा भक्त स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु यदि चाहे तो उसे वह सब कुछ मेरे भक्तियोगके प्रभावसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है।'

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥
(११ । २० । ३७)

'इस प्रकार जो लोग मेरे द्वारा (इस अध्यायमें) बतलाये हुए भक्तिके मार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्वको जान लेते हैं ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें अनेकों श्लोक हैं किंतु लेखका कलेवर बढ़ जायगा, यह सोचकर विस्तार नहीं किया गया ।

यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि निष्काम कर्म और भक्ति-योग—दोनों स्वतन्त्र भी साधन हैं तथा पहले कर्मयोग, फिर उपासना और फिर ज्ञान—यह भी क्रम है । एवं ये तीनों पृथक्-पृथक् रूपसे स्वतन्त्रतापूर्वक भी परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ हैं; इसीको भगवान्‌ने गीताके १३ वें अध्यायके २४ वें श्लोकमें स्पष्ट किया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

'(उस परमात्माको) कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इसके अतिरिक्त, भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये गीताके चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकसे २९ वें श्लोकतक यज्ञके नामसे और भी बहुत-से उपाय बतलाये हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों साधन बतलाये हैं । मनुष्यको उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई भी एक साधन अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्परतासे करना चाहिये । सभी साधनोंका फल है परमात्माका 'यथार्थ ज्ञान' और यथार्थ ज्ञानका फल है 'परमात्माकी प्राप्ति' ।

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना

वास्तवमें तो केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना हो ही नहीं सकती। क्योंकि जो उपासनाके योग्य लक्ष्य बनाया जाता है, वह किसी लक्षण या गुणके आधारके बिना नहीं हो सकता। ध्यान करनेके योग्य ध्येय-तत्त्व चाहे कितना ही सूक्ष्मतम क्यों न बनाया जाय, वास्तवमें निर्गुण-निराकार ब्रह्मका स्वरूप तो वस्तुतः उससे भी अत्यन्त विलक्षण है; किंतु जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तबतक उसकी प्राप्तिके लिये कुछ-न-कुछ लक्ष्य बनाकर ही उपासना करनी पड़ती है। कैसा भी सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम लक्ष्य क्यों न हो, आखिर वह है तो चेतनविशिष्ट बुद्धिकी वृत्ति ही। अर्थात् बुद्धिकी वृत्तिसे जो लक्ष्य बनाकर ध्यान किया जाता है, वह बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मका ही ध्यान होता है, निर्विशेष ब्रह्मका नहीं।

उपर्युक्त उपासनाका जो अन्तिम फल है अर्थात् उसके द्वारा जो प्रापणीय है, वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। उसीको मुक्ति कहते हैं। उसीको गीता आदि शास्त्रोंमें परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, शाश्वत शान्ति आदि अनेकों नामोंसे कहा है।

अस्ति-भाति-प्रिय

आरम्भमें साधक जड दृश्य पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी भावना कर सकता है अर्थात् जो कुछ भी दृश्य है, वह अस्ति-भाति-प्रिय है——ऐसा समझकर उपासना कर सकता है। घट, पट आदि जड पदार्थोंका जो होनापना (अस्तित्व) है, वह अस्ति है; उनकी जो प्रतीति है, यह भाति है; और वह किसी-न-किसीको सुखदायक

होता है, यह प्रिय है; किंतु सूक्ष्म विचार करनेपर ब्रह्मका स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण मालूम होता है। क्योंकि जड पदार्थोंका जो अस्तित्व प्रतीत होता है, वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे अनित्य है। अतः चिन्मय परमात्माकी सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण और नित्य है। पदार्थोंकी प्रतीतिरूप जो चेतनता है वह भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, क्षणिक और अनित्य है। एवं पदार्थोंकी प्रियरूपता भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे दुःखमिश्रित, जड, क्षणिक और परिवर्तनशील है, अतएव परमात्माका स्वरूप उससे अत्यन्त ही अलौकिक है। क्योंकि यदि वह सुख वास्तवमें परमात्माका स्वरूप होता तो वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय, अल्प और क्षणिक नहीं हो सकता। तथापि उपर्युक्त अस्ति-भाति-प्रियको परमात्माका आभास मानकर उपासना की जा सकती है।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो प्रकट है, किंतु उसकी प्रकाशिका और विदाहिका शक्ति अप्रकट है, चन्द्रमामें अस्तित्वके सिवा प्रकाशिका शक्ति भी प्रकट है किंतु विदाहिका शक्ति अप्रकट है, और सूर्यमें सत्ताके अतिरिक्त प्रकाशिका और विदाहिका दोनों शक्तियाँ भी प्रकट हैं, उसी प्रकार जड पदार्थोंमें परमात्माकी सत्ता तो प्रकट है किंतु चेतनता और आनन्द अप्रकट हैं, मनुष्योंमें सत्ता और चेतनता प्रकट हैं किंतु आनन्द अप्रकट है एवं अवतारों तथा महापुरुषोंमें सत्ता, चेतनता और आनन्द तीनों प्रत्यक्ष प्रकट हैं। जैसे दियासलाईके संघर्षणसे प्रकाशिका और विदाहिका शक्तिके सहित आग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार भजन-ध्यानका साधन करनेसे जड पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रत्यक्ष प्रकट हो

जाते हैं; जैसे भक्त प्रह्लादके लिये स्तम्भमेंसे श्रीनृसिंहरूपमें प्रकट हुए थे। और इसी प्रकार साधकके हृदयमें भी साधना करनेसे सच्चिदानन्द परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अतः इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपका अभ्यास करना पूर्वोक्त अस्ति-भाति-प्रिय रूपसे परमात्माकी उपासना करनेकी अपेक्षा अच्छा है; किंतु इससे भी उत्तम वह है, जो कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताके वास्तविक स्वरूपमें स्थित होना है। अर्थात् जो ज्ञाता है वही द्रष्टा एवं साक्षी है और वही सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा है—ऐसा समझकर अटलरूपसे उसमें स्थित रहना है।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय

जो कुछ भी जाननेमें आता है वह ज्ञेय है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है, और जो जाननेवाला है वह ज्ञाता है। ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता महान्, चेतन, सूक्ष्म, आधार, व्यापक और नित्य है। जो कुछ भी जाननेमें आनेवाला ज्ञेय है वह ज्ञानके अन्तर्गत है, और ज्ञान ज्ञाताके अन्तर्गत है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'महान्' है। इसके विपरीत ज्ञाताकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय 'अल्प' है। पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।' (४। ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है।'

ज्ञानके द्वारा ज्ञेय और ज्ञाताके द्वारा ज्ञान जाननेमें आता है।

इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'चेतन' और 'सूक्ष्म' है । इसके विपरीत ज्ञाताका विषय होनेसे ज्ञान और ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय जड और स्थूल है । क्योंकि जाननेमें आनेवाला विषय जड और स्थूल तथा जाननेवाला चेतन और सूक्ष्म होता है ।

ज्ञाता जब ज्ञेयको जानना नहीं चाहता, तब ज्ञान और ज्ञेय दोनोंसे रहित हो जाता है । इसलिये ज्ञाताका विषय होनेके कारण ज्ञान और ज्ञेय उसका आधेय है । तथा ज्ञानका आधेय ज्ञेय है एवं ज्ञेयका आधार ज्ञान तथा ज्ञानका आधार ज्ञाता है, इसलिये ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय दोनोंमें व्यापक है और ज्ञान ज्ञेयमें व्यापक है ।

ज्ञेयका बाध करनेपर भी बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान रहता है और उस वृत्तिके भी बाध कर देनेपर ज्ञाता बच रहता है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा सत्यस्वरूप ज्ञाता 'नित्य' है । ज्ञान और ज्ञेयका अत्यन्त अभाव होनेपर भी ज्ञाताका अभाव कभी किसी प्रकार नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञाता नित्य और सत्य है ।

ज्ञाता ही आनन्द है, इसलिये ज्ञाताकी ही सच्चिदानन्दरूपसे उपासना करनी चाहिये ।

हम बोलना चाहते हैं तभी वाणीसे शब्द उच्चारण होते हैं, मौन हो जाते हैं तब नहीं होते; हम देखना चाहते हैं तभी बाहरका दृश्य दीखता है, नेत्र बंद करनेपर नहीं दीखता; इसी प्रकार हम जानना चाहते हैं तभी ज्ञेयका ज्ञान होता है, नहीं जानना चाहते तो नहीं होता । अतः जो कुछ भी पदार्थ देखने, सुनने या जाननेमें आते हैं उन सबका बाध करके बाध करनेवाली ज्ञानरूप बुद्धिकी वृत्तिका भी बाध कर देना चाहिये । उसके बाद जो कुछ बच रहता

है वह ज्ञाता है और वह ज्ञातृत्व-धर्मरहित शुद्धस्वरूप ज्ञाता ही नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है। ऐसा समझकर ज्ञान और ज्ञेयसे रहित केवल चिन्मय नित्य विज्ञानानन्दघनरूपसे स्थित रहना चाहिये।

इस तरह ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताको लक्ष्य बनाकर साधन करनेकी अपेक्षा भी केवल साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ध्यान सबसे उत्तम है।

सत्

'सत्' उसे कहते हैं जिसका कभी किसी प्रकार बाध न हो सके। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्व-ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

'सत्' का वर्णन गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें आया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

'जो पुरुष मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदा-नन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं (वे मुझको ही प्राप्त होते हैं)।'

ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि परमात्मा अज, अक्षर, अव्यक्त,

अविनाशी, सर्वत्र परिपूर्ण, शाश्वत, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, नित्य और सत्य है ।

चित्

'चेतन' उसे कहते हैं जो सबको जाननेवाला और सबका प्रकाशक है तथा जो अन्य किसीके द्वारा जाना नहीं जा सकता । श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

(गीता १३ । १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है ।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि परमात्मा सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, ज्योतियोंका भी ज्योति, सबका प्रकाशक, अचिन्त्य, तम और अज्ञानसे अत्यन्त पर, द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता और चेतन है ।

आनन्द

'आनन्द' उसे कहते हैं जो असीम, अक्षय, गुणातीत, निरतिशय परम सुखरूप है तथा जहाँ विक्षेप और दुःखोंका अत्यन्त अभाव है । श्रीभगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने

योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं; परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्ति-रूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता ।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि वह परमात्मा पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द और अनन्त आनन्द है ।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

यहाँ सत्, चित्, आनन्द—इन तीन नामोंसे जो ब्रह्मके लक्षण बतलाये हैं—ये तीनों धर्म हों और ब्रह्म धर्मी हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म जड होता है । अथवा ब्रह्म गुणी हो और ये उसके गुण हों, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है । ये तीनों एक प्रकारसे ब्रह्मके साक्षात् लक्षण कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें तो ये ब्रह्मके नाम अर्थात् पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है तथा जोसत् है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही सत् है एवं जो चेतन है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही चेतन है ।

वास्तवमें तो उसे 'सत्' इसलिये कहा है कि वह वस्तुतः विद्यमान है, कहीं कोई उसका अभाव न मान ले । इसके लिये

महापुरुषोंका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, उस महात्माके अन्तःकरणमें अन्तःकरण-सहित सारे संसारका अत्यन्त अभाव होते हुए भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव रहता है। उसे 'चेतन' इसलिये कहा गया है कि वह सत्स्वरूप परमात्मा किसीका विषय नहीं है; क्योंकि उसमें जडत्वका अत्यन्त अभाव है और वह स्वयं ही अपने-आपको जाननेवाला है। तथा उसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, वह परम शान्ति और परम सुखमय है, इसलिये उसे 'आनन्द' नामसे कहा गया है।

संसारी सुखका ज्ञाता कोई दूसरा ही होता है, उस सुखको अपने-आपका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह जड है; किंतु ब्रह्मानन्दका ज्ञाता ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता। वह स्वयं आनन्द ही अपने-आपको जानता है अर्थात् वह आनन्द ही ज्ञान (चेतन) है। उस आनन्दसे ज्ञान भिन्न नहीं है। संसारी सुखकी भाँति आनन्द उत्पत्ति-विनाशशील एवं क्षय-वृद्धिवाला नहीं होता, इसलिये वह सारे विकारोंसे रहित भावरूप है। सत्ता उससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। उस आनन्दका अस्तित्व ही सत्ताका ज्ञापक है। उस परमात्माकी सत्तासे 'चेतन' भी कोई अलग चीज नहीं है। वह सत् ही स्वयं चेतन है और चेतन ही सत् है। चेतनसे सत्ता कोई अलग चीज नहीं है। चेतनके अस्तित्वको बतलानेके लिये ही सत् शब्दका प्रयोग किया गया है कि कहीं कोई उसका अभाव न मान ले।

'चेतन है'—ऐसा कहनेसे चेतन और चेतनका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। चेतनके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'चेतन है'—ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार 'आनन्द है'—

ऐसा कहनेसे आनन्द और आनन्दका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। आनन्दके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'आनन्द है'—ऐसा कहा गया है। तथा विज्ञानानन्द शब्दसे भी ज्ञान और आनन्दको दो पदार्थ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि संसारी सुखकी तरह उस आनन्दका कोई अन्य ज्ञाता नहीं है। वह आनन्द सांसारिक आनन्दसे अत्यन्त विलक्षण, जडतासे रहित, स्वयं ही अपने-आपको जाननेवाला है अर्थात् वह आनन्द ही स्वयं ज्ञान है। उस आनन्दसे भिन्न ज्ञान (चेतन) कोई अलग चीज नहीं है या यों कहिये कि चेतन ही स्वयं आनन्द है, वास्तवमें आनन्द उसका विशेषण या लक्षण नहीं है, इसलिये उसको 'विज्ञानानन्द' कहते हैं।

यहाँतक जो सत्, चित्, आनन्दकी व्याख्या की गयी, इससे जो परमात्माका भाव समझमें आता है, वह भी बुद्धिविशिष्ट ही परमात्माका स्वरूप है। इसीको गीतामें 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' (६ । २१) कहा है। कठोपनिषद्में भी कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१ । ३ । १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्मबुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किसी भी प्रकारसे जो सच्चिदानन्द परमात्माका स्वरूप समझमें आता है उससे परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। उस सच्चिदानन्दघनके यथार्थ ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह उस

परमात्माका निर्विशेष अनिर्वचनीय स्वरूप है, उसीको निर्वाण ब्रह्म और परमब्रह्म भी कहते हैं।

सत्ताके भेद

सत्ता तीन प्रकारकी होती है—१—काल्पनिक सत्ता, २—व्यावहारिक सत्ता और ३—वास्तविक सत्ता। जिनसे व्यावहारिक सिद्धि न हो, जो केवल प्रतीत होते हों, ऐसे पदार्थोंकी सत्ता काल्पनिक अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है; जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, आकाशमें तिरवरे और रज्जुमें सर्प आदिकी सत्ता। और जिन पदार्थोंसे व्यवहार सिद्ध होता है, उन पदार्थोंकी सत्ता व्यावहारिक सत्ता है; जैसे घट, पट आदि पदार्थोंकी सत्ता। एवं जिसका किसी देश, किसी काल और किसी वस्तुमें भी अभाव न हो, जो सदा एकरस, एकरूप रहे, उस परमार्थ वस्तुकी सत्ता वास्तविक सत्ता है अर्थात् द्रष्टा साक्षी चेतन आत्माका जो अस्तित्व है वह वास्तविक सत्ता है; इसीको पारमार्थिक सत्ता भी कहते हैं। इनमें व्यावहारिक सत्ता भी काल्पनिकके सदृश ही है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो पदार्थ सत्तारूपसे प्रतीत होते हैं, वे जाग्रदवस्थाके अतिरिक्त स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि आदि किसी भी अवस्थामें प्रतीत नहीं होते और ज्ञान होनेके उत्तरकालमें जीवन्मुक्त पुरुषके हृदयमें जाग्रदवस्थामें भी यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषको पूर्वमें आये हुए स्वप्नका स्मरण करनेसे स्वप्नके दृश्यका जो एक लक्ष्य प्रतीत होता है, उसीकी भाँति जाग्रदवस्थामें ज्ञानीको यह संसार प्रतीत होता है। इसलिये इसे 'स्वप्नवत्' कहा गया। अन्तर इतना ही है कि स्वप्नका काल तो

भूतकाल है और यह जाग्रत्का काल वर्तमानकाल है। इसीलिये उसे स्वप्न न कहकर स्वप्नवत् कहा गया है। किंतु विचार करनेपर मालूम होगा कि यह स्वप्नसे भी निस्तत्त्व है; क्योंकि स्वप्नके संसारकी तो जाग्रदवस्थामें काल्पनिक सत्ता है पर स्वप्नावस्थामें जाग्रदवस्थाके संसारकी काल्पनिक सत्ता भी नहीं है। स्वप्नमें जो संसार दीखता है वह मनोराज्य ही दृढ़ होकर एक संसारके रूपमें प्रतीत होने लगता है। जैसे जाग्रदवस्थामें घट-पटादि पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता प्रतीत होती है उसी प्रकार स्वप्नकालमें भी स्वप्नके घट-पटादि पदार्थोंकी ही ज्यों-की-त्यों सत्ता प्रतीत होती है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न दोनोंकी ही एक काल्पनिक सत्ता ही सिद्ध होती है। यह सत्ता भी सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही आभास है।

पाँच भूत, पाँच विषय और दस इन्द्रियाँ—इनकी अपेक्षा जो अन्तःकरणकी सत्ता है वह बलवान् है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो अन्तःकरण है, स्वप्नावस्थामें वही अन्तःकरण है और स्वप्नसे जगनेपर फिर भी वही अन्तःकरण है; किंतु जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नमें नहीं हैं और स्वप्नके पदार्थ जाग्रत्में नहीं हैं, पर मन-बुद्धि जो स्वप्नमें हैं वही जाग्रत्में हैं और जो जाग्रत्में हैं वही स्वप्नमें हैं। इसलिये मन-बुद्धिका अस्तित्व उनकी अपेक्षा अधिक बलवान् है। मन-बुद्धिकी अपेक्षा भी आत्माका अस्तित्व नित्य होनेके कारण अधिक बलवान् है; क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें मन-बुद्धिके न रहनेपर भी आत्मा ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है। सबका अभाव होनेपर भी आत्माका अभाव नहीं होता। इसलिये आत्माकी सत्ता ही वास्तविक सत्ता है; किंतु आत्माकी जो सत्ता

समझमें आती है, वह बुद्धिका विषय होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट आत्माका ही स्वरूप है; आत्माका जो असली चिन्मय शुद्ध स्वरूप है वह तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है। वह समझमें नहीं आता, वह स्वयं समझरूप है। और समझमें आनेवाली सत्ता जडमिश्रित सत्ता है। अतः आत्माकी वास्तविक सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण है। परमात्माकी प्राप्ति हुए बिना वह किसी प्रकार भी किसीके समझमें नहीं आती।

ज्योतिके भेद

ज्योति भी कई प्रकारकी होती है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि जो ज्योतियाँ हैं उनकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी ज्योति, इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरणकी और अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी ज्योति सूक्ष्म, श्रेष्ठ और बलवान् है।

पाँच भूत, पाँच विषय ग्राह्य हैं, इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि ग्रहण हैं एवं आत्मा ग्रहीता है। जिसे ग्रहण किया जा सके—उसे 'ग्राह्य', जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय—पकड़ा जाय, उसे 'ग्रहण', और ग्रहण करनेवालेको 'ग्रहीता' कहते हैं। ग्राह्यकी अपेक्षा ग्रहण और ग्रहणकी अपेक्षा ग्रहीता सूक्ष्म, चेतन, श्रेष्ठ और विलक्षण है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत् और नक्षत्र आदि जो पदार्थ नेत्रोंसे दीखते हैं उनसे नेत्र-इन्द्रिय सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि नेत्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं पर नेत्र उनके द्वारा नहीं जाने जा सकते। नेत्र आदि इन्द्रियोंसे मन सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि मन तो इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको जानता है किंतु मनको इन्द्रिय और उनके विषय कोई भी नहीं जान सकते।

विषय, इन्द्रिय और मनसे भी बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि बुद्धि तो उनको और उनके व्यापारोंको—सबको जानती है; किंतु बुद्धि और उसके व्यापारको वे कोई नहीं जानते अर्थात् प्रकाश, नेत्र और मन आदिको बुद्धि समझती है पर बुद्धि और बुद्धिके व्यापारको प्रकाश, नेत्र या मन आदि कोई नहीं समझ सकते । इसलिये उन सबसे बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है । चेतन आत्मा उपर्युक्त इन सब जड ज्योतियोंको और उनके व्यापारोंको एवं बुद्धिके मन्दता, तीक्ष्णता और ज्ञान आदि व्यापारोंको भी जानता है पर आत्माको कोई भी किसी भी प्रकार नहीं जान सकता; क्योंकि आत्मा सबसे सूक्ष्म, श्रेष्ठ, विलक्षण और चिन्मय है । जैसे नेत्रोंके विषय सूर्य-चन्द्रादिके प्रकाशकी अपेक्षा बुद्धिका विषय ज्ञान अत्यन्त विलक्षण है, इसी प्रकार बुद्धि-वृत्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षा भी आत्माकी चेतनता अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि उपर्युक्त सभी चेतनता आत्माका आभास तथा ज्ञेय होनेसे जड ही है । यदि कहें कि आत्मा भी बुद्धिके द्वारा जाना जा सकता है, उसको 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' कहा ही है सो ठीक है पर वह बुद्धिग्राह्य आत्माका स्वरूप आत्माके अत्यन्त निकटका अर्थात् तटस्थ स्वरूप है तथा बुद्धिके द्वारा समझमें आनेके कारण वह बुद्धिविशिष्ट ही है । वास्तविक आत्माकी चेतनता तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है जो बुद्धिके द्वारा भी समझमें नहीं आती, परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आती है ।

आनन्दके भेद

आनन्द भी कई प्रकारका होता है । प्रमाद, आलस्य, निद्रासे

उत्पन्न सुखकी अपेक्षा विषयेन्द्रियसंयोगजनित सुख ज्ञानकी अधिकता होनेके कारण श्रेष्ठ है । विषयेन्द्रियसंयोग-जनित सुखकी अपेक्षा भी परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न सुख उसमें बुद्धिकी स्वच्छता, निर्मलता, स्थिरता, तीक्ष्णता होनेके कारण अति विलक्षण है । इन सब गुणमय अनित्य सुखोंकी अपेक्षा भी परमात्माके स्वरूपका आनन्द निर्विकार, गुणातीत, नित्य, चेतन होनेके कारण अत्यन्त विलक्षण है । क्योंकि उपर्युक्त सभी आनन्द आत्माका आभास ही है तथा आत्मविषयक आनन्द भी बुद्धिवृत्तिके द्वारा समझमें आनेवाला होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट ही आनन्द है । इसीको गीतामें 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' (६ । २१) कहा है । पर परमात्माका वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है, वह किसीका भी विषय न होनेके कारण किसी प्रकार भी किसी-की समझमें नहीं आ सकता, वह स्वयं आप ही अपनेको जानता है । यह बात उस परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आ सकती है ।

यहाँ ऊपर सत्-चित्-आनन्दकी व्याख्या की गयी, अब उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी घनता, अव्यक्तता, समता, अनन्तता और व्यापकताके सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

घनता

सभी प्रकारकी घनतासे आत्माकी घनता अत्यन्त विलक्षण है । पत्थर, शीशा और बादलकी घनताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी घनता अत्यन्त विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है, क्योंकि पत्थरमें शिला, शीशेमें काँच और बादलमें पानीकी घनता होते हुए भी पोल होनेके कारण उनमें आकाशके अतिरिक्त शीत-उष्ण आदिका भी प्रवेश

होनेकी गुंजाइश है, पर अन्तःकरणमें इनके प्रवेशकी गुंजाइश नहीं। अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी घनता और भी विलक्षण है; क्योंकि मनमें संकल्प-विकल्प और बुद्धिमें मन्दता, तीक्ष्णता, ज्ञान और निश्चय आदि हो सकते हैं; किंतु आत्मामें किसीके भी प्रवेशकी गुंजाइश नहीं।

यदि कहें कि आत्मामें किसीकी गुंजाइश नहीं तो फिर यह सम्पूर्ण संसार किसमें समाया हुआ है ? तो इसका उत्तर यह है कि आत्मामें न तो यह समाया हुआ है और न उसका इससे सम्बन्ध ही है; अज्ञानके कारण आत्मामें मरुमरीचिकाकी तरह बिना हुए ही यह प्रतीत होता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि यह चेतन आत्मा स्वयं अपना-आप ही है, उसमें दूसरे किसीके लिये किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी घनता समझमें आती है उससे भी परमात्माकी वास्तविक घनता अत्यन्त विलक्षण है जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अव्यक्तता

सभी प्रकारकी अव्यक्ततासे निर्गुण परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज—ये मूर्त्त होनेसे व्यक्त हैं, इनकी अपेक्षा वायु और आकाश अमूर्त्त होनेसे अव्यक्त हैं; परंतु उनमें भी वायुके सस्पन्द, निष्पन्द तथा स्पर्शशील होनेसे उसकी अपेक्षा आकाश अधिक अव्यक्त है क्योंकि आकाशका किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाशसे मन और भी अधिक अव्यक्त है। आकाश तो प्रकाश और अन्धकारको स्थान देनेवाला, विस्तृत देशरूप तथा अवकाशरूप होनेसे इदन्तासे समझाया भी जा सकता

है किंतु इस प्रकार मनको नहीं समझाया जा सकता । एवं मनकी अपेक्षा बुद्धिकी अव्यक्तता और भी विलक्षण है । मनकी चञ्चलता, गमनागमन आदि बुद्धिके द्वारा जाने जा सकते हैं पर बुद्धिकी मन्दता, तीक्ष्णता और ज्ञान आदिको मन नहीं समझ सकता । इसलिये बुद्धि मनकी अपेक्षा अव्यक्त है । इससे भी प्रकृतिकी अव्यक्तता विलक्षण है, जिससे बुद्धि उत्पन्न होती है और जो बुद्धिकी भी समझमें नहीं आती, उस अव्यक्त प्रकृतिसे भी परमात्माकी अव्यक्तता पर, श्रेष्ठ, सनातन, नित्य और चेतन है । श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

(८ । २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी अव्यक्तता नित्य और सनातन है, शेष सब नाशवान्, एकदेशीय और परप्रकाश्य होनेसे अनित्य एवं जड है ।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी अव्यक्तता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है ।

समता

सभी प्रकारकी समतासे परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण

है । मनुष्य अपने देहमें भी स्वयं मस्तकके साथ ब्राह्मणका-सा, हाथोंके साथ क्षत्रियका-सा और पैरोंके साथ शूद्रका-सा व्यवहार करता है; इसी प्रकार माताके साथ माताकी तरह, गुरुके साथ गुरुकी तरह और स्त्रीके साथ स्त्रीकी तरह बर्ताव करता है और ऐसा करना उचित ही समझा जाता है । इनमें सबके साथ समवर्तन विधेय और उचित नहीं है । गीतामें भी भगवान्‌ने ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शनकी ही प्रशंसा की है, समवर्तनकी नहीं ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं ।'

खान, पान और व्यवहारमें यथायोग्य की जानेवाली समताकी अपेक्षा भावकी समता अर्थात् समदर्शन उत्तम है । व्यावहारिक समतामें तो कहीं-कहीं विषमता भी उत्तम हो जाती है । जैसे कोई मनुष्य बराबरका हकदार होनेपर भी कीमत या परिमाणमें स्वयं कम लेकर दूसरे हिस्सेदारको अधिक देता है तो यह विषमता त्यागरूप होनेके कारण समतासे भी उत्तम मानी जाती है । और कहीं-कहीं तो व्यवहारकी समताकी अपेक्षा विषमता करनी विधेय है, जैसे किसी सम्मान्य व्यक्तिका आदर-सत्कार करते समय हाथ, पैर, सिर सभी अपने ही अङ्ग होनेपर भी मस्तक तथा हाथसे ही नमस्कार आदि करनेका विधान है, पैरोंसे नहीं । किंतु व्यवहारमें

यथायोग्य भेद रहते हुए भी भावमें सबके प्रति दया, क्षमा, प्रेम, सौहार्द आदि समानरूपसे रहने ही चाहिये।

इस भावकी समताकी अपेक्षा भी आत्माकी समता और भी विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने कहा है कि 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि (६।२९)।' बादलको आकाशके एक अंशमें और आकाशको बादलके अणु-अणुमें देखनेकी भाँति योगी सारे भूतोंको आत्मामें और आत्माको सारे भूतोंमें समभावसे स्थित देखता है। जैसे अज्ञानी आदमी देहमें आत्माको और देहके अङ्गोंमें सुख-दुःखोंको समभावसे देखता है, इसी प्रकार योगी सारे ब्रह्माण्डमें आत्माको और सारे प्राणियोंके सुख-दुःखोंको समभावसे देखता है। गीतामें भी कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

अतः यह समता भावकी समतासे भी अति विलक्षण और उच्चकोटिकी है; क्योंकि भावकी समता तो ज्ञेय होनेसे जड है और आत्माकी समता ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन है।

इसी प्रकार भौतिक समताकी अपेक्षा बौद्धिक और बौद्धिककी अपेक्षा आत्मविषयक समता विलक्षण, चेतन और अत्यन्त श्रेष्ठ है। भूतोंकी समता बुद्धिके द्वारा समझी जाती है तथा बुद्धिकी समता भी

आत्माके द्वारा समझी जाती है, इसलिये इनसे आत्माकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है। इसमें भी साधनकालकी समतासे सिद्धकालकी समता विलक्षण है और सिद्धावस्थाकी समताकी अपेक्षा सच्चिदानन्द ब्रह्मकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यह साधन-अवस्थाकी समता है। साधनावस्थाका फल यह दिखलाया गया कि इस प्रकार समभावसे युद्ध किया जाय तो पापकी प्राप्ति नहीं होती; किंतु सिद्धावस्थाकी समता इससे भी अधिक कीमती और विलक्षण है। गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(५। १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्द-घन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।' सिद्धावस्थाकी समताकी यह विलक्षणता दिखलायी गयी कि उसके द्वारा यहाँ जीवितकालमें ही संसार जीत लिया गया और उसकी स्थिति ब्रह्ममें है।

किंतु साधन और सिद्ध—दोनों अवस्थाओंकी यह समता

समझमें आती है पर परमात्माकी वास्तविक समता समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि परमात्माकी समतासे ही इस समताकी सिद्धि है।

ब्रह्मविषयक जो समता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मकी ही समता है; क्योंकि समझमें आनेवाली समता ज्ञेय होनेसे जड है और ब्रह्म चेतन है; इसलिये चेतन परमात्मा ही सबको जाननेवाला है, उसको कोई नहीं जान सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी समता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अनन्तता

सभी प्रकारकी अनन्ततासे परमात्माकी अनन्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुकी अपेक्षा आकाश अनन्त और असीम है; किंतु जैसे स्वप्नके संसारका आकाश सम्पूर्ण भूतोंके सहित जीवके मनके अन्तर्गत है, वैसे ही परमात्माके संकल्पमें होनेके कारण यह आकाश भी समष्टि मनके अन्तर्गत है। वह समष्टि-मन समष्टि-अहङ्कारका कार्य होनेसे उसके अन्तर्गत है, समष्टि-अहङ्कार समष्टि-बुद्धि—महत्तत्त्वके अन्तर्गत है, महत्तत्त्व अव्याकृत मायाका कार्य होनेसे अव्याकृत मायाके एक अंशमें है, अव्याकृत माया भी परमात्माके किसी एक अंशमें है; परंतु वह परमात्मा किसीका अंश या कार्य न होनेसे अपने-आपमें ही स्थित है। अतएव वही वस्तुतः अनन्त है।

आकाशकी अनन्तताकी अपेक्षा बुद्धिकी अनन्तता इसलिये भी विलक्षण है कि आकाशकी अनन्तता तो देशगत, फैली हुई-सी,

दृश्य और बुद्धिगम्य होनेसे ग्राह्य है तथा इदन्तासे उसका निर्देश हो सकता है; परंतु बुद्धिकी अनन्तता ग्रहण और ज्ञानस्वरूप होनेके कारण आकाशकी तरह समझायी नहीं जा सकती। और ज्ञातास्वरूप आत्माकी वास्तविक अनन्तता तो चेतन होने तथा किसीका विषय न होनेके कारण समझायी नहीं जा सकती।

उपर्युक्त विवेचनसे जो आत्मविषयक अनन्तता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिमिश्रित ही है, वास्तविक परमात्माकी अनन्तता तो चेतन होनेके कारण किसी प्रकार भी समझमें नहीं आ सकती, परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आती है।

व्यापकता

सभी प्रकारकी व्यापकतासे परमात्माकी व्यापकता भी अत्यन्त विलक्षण है। तिलोंमें तैल व्यापक है, इसकी अपेक्षा तो भूतोंमें आकाशकी व्यापकता विलक्षण है; क्योंकि तैल निकालनेपर खली बच रहती है। पर यहाँ सबके अपने कारण—आकाशमें विलीन होनेपर कार्य ही कारणके रूपमें परिणत होनेके कारण कुछ भी नहीं बचता। पृथ्वीमें जल, तेज, वायु और आकाश, जलमें तेज, वायु और आकाश, तेजमें वायु और आकाश तथा वायुमें आकाश व्यापक है। इन भूतोंकी व्यापकताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी व्यापकता अत्यन्त विलक्षण है। समस्त भूत आकाशके कार्य होनेसे आकाश उनमें सर्वत्र समभावसे व्यापक है; किंतु भूत, विषय और इन्द्रियोंमें अन्तःकरणकी जो व्यापकता है, वह इससे भी विलक्षण है। जैसे स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले संसारमें अन्तःकरण व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें भी समष्टि अन्तःकरण

व्यापक है। जैसे जाग्रत् कालमें यह संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसी तरह स्वप्नका संसार भी स्वप्नकालमें प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नका संसार अन्तःकरणका संकल्प होनेसे उसका विकार है, इसी प्रकार यह संसार भी समष्टि अन्तःकरणका संकल्प होनेसे अन्तःकरणका विकार है और विकार होनेसे यह उसका कार्य है। जिस प्रकार कल्पित वस्तुमें कल्पना करनेवाला व्यापक होता है, इसी प्रकार इस संसारमें अन्तःकरण व्यापक है। आकाशकी और भूतोंकी समान सत्ता है पर कल्पककी और कल्पित वस्तुकी समान सत्ता नहीं है, इसलिये कल्पक अन्तःकरणकी व्यापकता कल्पित दृश्यवर्गसे विलक्षण है। आत्माकी व्यापकता तो इससे भी विलक्षण है क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार वास्तवमें आत्मामें तो संकल्परूपसे भी संसार नहीं है, केवल आरोपमात्र है। जैसे किसीको नेत्रदोषके कारण आकाशमें तिरवरे (जाले)-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें विचारकर देखनेपर ज्ञात होता है कि आकाश तो सत्य है और तिरवरे (जाले) उसमें आरोपित हैं तथा प्रतीत होनेवाले तिरवरोंमें आकाश व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें परमात्मा व्यापक है। वास्तवमें तो आरोपित वस्तु कुछ है ही नहीं, जिसमें आरोप किया जाता है, वह अधिष्ठान ही है। यहाँ व्याप्य-व्यापकता तो कथन-मात्र है। क्योंकि संसार जड है और परमात्मा चेतन है, इसलिये जड वस्तुमें चेतनकी जो व्यापकता-सी प्रतीत होती है, वह अज्ञानसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें नहीं।

उपसंहार

ऊपर जो परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है, उससे जो

कुछ समझमें आता है वह सब बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है; क्योंकि समझमें आनेवाला पदार्थ बुद्धिके मिश्रणसे बुद्धिका विषय होकर ही समझमें आता है। वह परमात्मा किसीका विषय नहीं है। इसलिये परमात्माका निर्विशेष स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आता है। यह कथन भी वास्तवमें नहीं बनता; परंतु बिना कुछ कहे इसका वर्णन भी कैसे हो और वर्णनके बिना किसी तरहका आधार प्राप्त न होनेसे साधक साधन भी कैसे करे। इसलिये शास्त्रोंमें परमात्माके विषयमें जो कुछ भी कहा गया है, वह साधकोंके कल्याणार्थ साधनविषयक ज्ञान करानेके ही लिये कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा अनिर्वचनीय, अगोचर, अचिन्त्य और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका अविषय है।

परमात्माको सत्, चित्, आनन्द, घन, अव्यक्त, सम, अनन्त, व्यापक आदि विशेषणोंके द्वारा बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, उसको लक्ष्यमें रखकर साधकको श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर उसका चिन्तन करना चाहिये। यह चिन्तन करना ही उसकी उपासना है। इस तरह उपासना करनेसे मनुष्य उस साक्षात् निर्विशेष निर्गुण निराकार परमात्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, परम पदकी प्राप्ति, परमा गतिकी प्राप्ति, परमा शान्तिकी प्राप्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति और अमृतकी प्राप्ति आदि नामोंसे कहा है।

उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(बृहदारण्यक० ५ । १ । १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न श्रद्धा, रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है, उसे भी एकदेशीय और सर्वदेशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके

भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्मा-की प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन १. भेदोपासना, और २. अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है; और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१. माया (प्रकृति), २. जीव और ३. मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग जड होते हुए क्षणिक, नाशवान् और परिणामी भी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य, चेतन और आनन्द-स्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं; जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक

है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्‌में एक इतिहास आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रक्खा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।' तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रक्खा, किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस

ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे ।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है ।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये । इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये ।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है । गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है । वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है । कठोपनिषद्‌में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥
(१ । २ । १६-१७)

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसारसागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद्में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
(३।१।१–३)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किन्तु जब कभी भगवान्की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप––दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजनेयोग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है, इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार,

सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥
(३।१७)

'जो परम पुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥
(३।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(४ । १०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(४ । १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है ।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(६ । ११-१२)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(६।१८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फल (परिणाम)में भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन ऊपर किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किन्तु फलमें अभेद हो, ऐसी उपासनापर विचार करते हैं।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किन्तु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान‍्के परम धाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य'

मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दास-भावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के-जैसे स्वरूपवाले होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्‌के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्‌को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्‌में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें तथा अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्‌में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
(२ । १ । १५)

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय

नचिकेता ! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥

(३ । २ । १)

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान) ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

(३ । २ । ८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता

है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वदा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्‌से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही हैं, इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं, वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १। ९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन

तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है)। तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेद-उपासनाके भी प्रधान चार प्रकार हैं। उनमेंसे पहले दो प्रकार 'तत्' पदको और बादके दो प्रकार 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१. इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार उपासना करे।

२. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे।

३. जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

४. जो नाशवान् क्षणभङ्गुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ' 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ६) इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही बहुत रूपोंमें हो गये। इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २। २। ११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ५)

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।'

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।
(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है ।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
(छान्दोग्य० ३ । १४ । १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे ।'

(२) 'तत्' पदके अर्थ ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस

प्रकार निरूपण किया गया । अब उसी 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है । वह निर्गुण-निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है । जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है । वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है ।

कठोपनिषद्‌में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
(१ । ३ । १५)

'जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्ध-रहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम), महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है ।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥
(२ । १ । ११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जानेयोग्य है; इस जगत्‌में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है; इसलिये जो इस जगत्‌में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

(३ । १ । ८)

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे अनुभव करता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में भी कहा है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

(२ । १ । १)

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(२) 'तत्' पदकी उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब 'त्वम्' पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंक ओतप्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है' इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद्में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(६-७)

'परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?

'इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है ।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्य-उपनिषद्में एक इतिहास आता है । अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्यालाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा । वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया । इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः । येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।

(६ । १ । २–३)

'हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह

आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन्! वह आदेश कैसा है।' तब उद्दालक बोले —

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।
(६।१।४)

'सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।
(६।१।५)

'सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति। (६।१।६)

'सोम्य! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) अर्थात्

लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है ।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच । (६ । १ । ७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे । यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते । अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये ।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य ! बतलाता हूँ ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । (६ । २ । १)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी ! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये ।' उद्दालक आरुणि बोले—'हे सोम्य ! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है । जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है । असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं । सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है । सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं । यह सत् अणुकी भाँति

सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—तत्त्वमसि।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वट-वृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सोम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' तू ही है—तत्त्वमसि' (६। १२। ३)

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्य-उपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाꣳ स भवति । (१ । ४ । १०)

"पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही अनुभव किया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । अतः वह सर्व हो गया । उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया । इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वही तद्रूप हो गया । उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी' । उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है । उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है ।"

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है । महर्षि याज्ञवल्क्यके दो पत्नियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी । महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा—'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है ।' मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन

होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमान्, जो कुछ अमृतत्वका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है! अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका चिन्तन करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्। (२।४।५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।'

तथा—

इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा। (२।४।६)

'हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात् । येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति । (२ । ४ । १४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यसे बोलता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्य-को जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किससे बातचीत करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयी ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ?'

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है ।

(४) जो नाशवान्, क्षणभङ्गुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है; इस प्रकार उस

निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृहदारण्यक० ४।४।६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य! हमें सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेकों प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो ।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः । (३ । ४ । १)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है ।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है । तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

'...सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम । (३ । ४ । २)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है । तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताको मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता ।

तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है। यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।'

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति।

(३ । ५ । १)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य !' (इस प्रकार सम्बोधित करके) कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है)।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और फिर भी ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ। हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं।' तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा।

याज्ञवल्क्यने कहा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद

यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । (३ । ७ । ३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।'

तथा—

अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम । (३ । ७ । २३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है । यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब नाशवान् है । यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया ।'

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेकों प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये। अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया ।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जिसकी

इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।

(४।४।२५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है।'

यह 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि, समझ तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परन्तु यदि उसका लक्ष्य सचमुच परमात्माको प्राप्त करना है, तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है। गीतामें भी भगवान्‌ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(५।५)

'ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उन सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-सङ्कोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।

श्रीहरिः

धर्म और ईश्वर नित्य हैं, अटल हैं, महान् हैं। ऐसा समझकर हमें अपने कल्याणके लिये उनका आश्रय लेकर उनका प्रचार करना चाहिये। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' जो बुद्धिमान् एवं विचारशील हैं, उनका कर्तव्य है कि वे धर्मानुकूल आचरणके द्वारा धार्मिक भावोंका प्रचार करें। स्वयं धर्मानुकूल आचरण किये बिना कोई धर्मका प्रचार नहीं कर सकता। वास्तवमें तो ईश्वर और धर्मका प्रचार कोई कर ही क्या सकता है। ईश्वर सर्वसमर्थ हैं। उनकी शक्तिसे ही सब कुछ हो रहा है। कल्याणकामी सभी मनुष्योंको एक-न-एक दिन उन्हें मानना ही पड़ेगा। बिना माने जीवका निस्तार नहीं है; फिर भी प्रत्येक धार्मिक एवं ईश्वरवादी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह ईश्वरका आश्रय लेकर अपने आचरणद्वारा जगत्‌में ईश्वर और धर्मका प्रचार करे। स्वयं ईश्वर और धर्मकी ओर आगे बढ़े, तथा सबको बढ़ानेका प्रयत्न करे। यही जगत्‌की सबसे बड़ी सेवा है और इसीसे जगत्‌का वास्तविक कल्याण होगा।

(इसी पुस्तकसे)